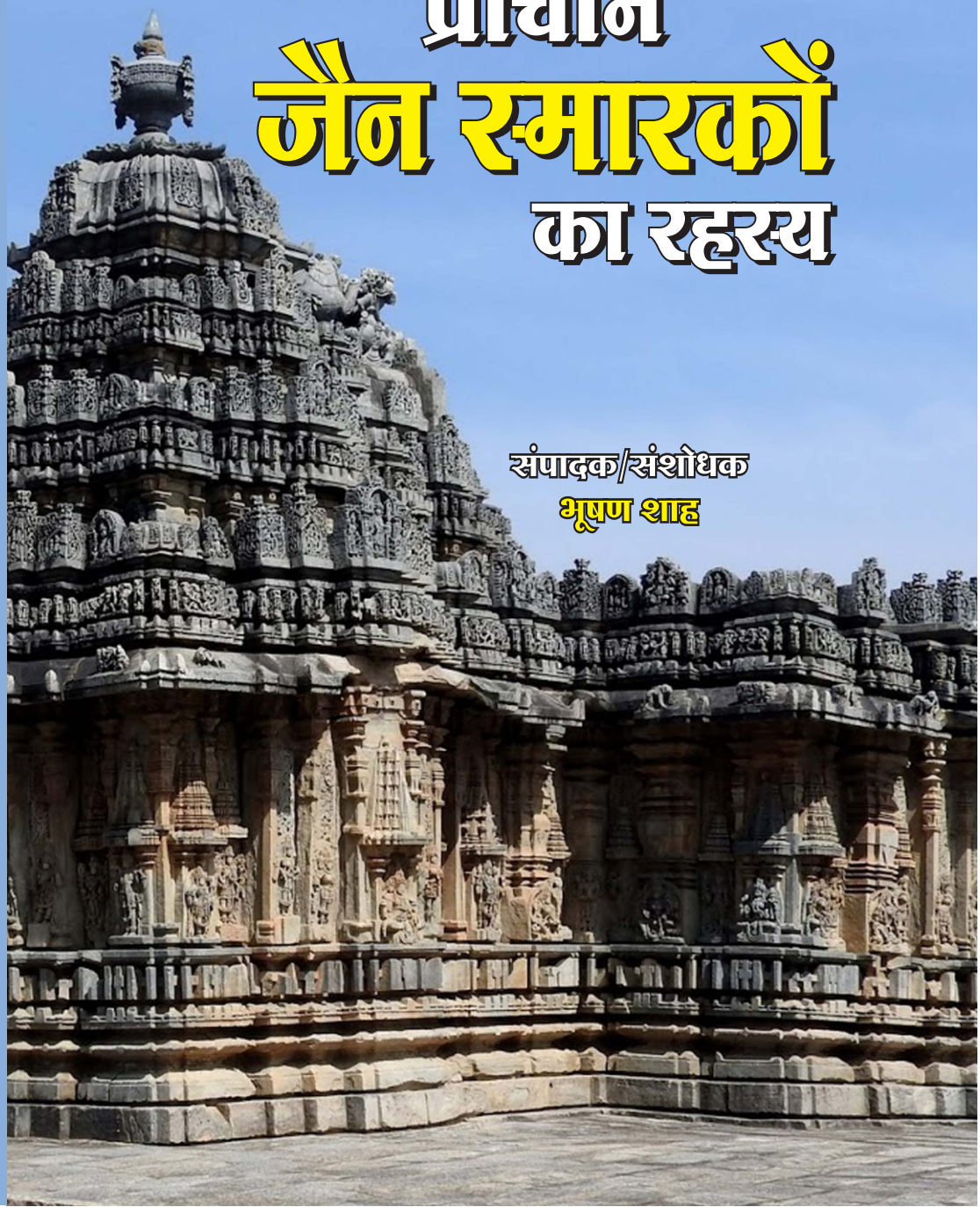


पुरातत्त्वविद् कांतिसागरजी द्वारा लिखित 'खंडहरों का वैभव' एवं
'खोज की पगदंडियां' ग्रंथ की संशोधित एवं संवर्धित आवृत्ति

प्राचीन जैन स्मारकों का रहस्य

संपादक/संशोधक
भूषण शाह



प्राचीन जैन स्मारकों का रहस्य

- भूषण शाह

पुरातत्त्वविद् कांतिसागरजी द्वारा लिखित 'खंडहरों का वैभव' एवं
'खोज की पगदंडियां' ग्रंथ की संशोधित एवं संवर्धित आवृत्ति

प्राचीन जैन स्मारकों का रहस्य

संपादक/संशोधक
भूषण शाह

प्रकाशक / प्राप्तिस्थान

मिशन जैनत्व जागरण

'जंबूवृक्ष' C-503/504, श्री हरी अर्जुन सोसायटी, चाणक्यपुरी ओवर ब्रिज के
नीचे, प्रभात चौक के पास, घाटलोडीया, अहमदाबाद - 380061

© संपादक एवं प्रकाशक

वीर सं. २५४६, विक्रम सं. २०७६, ई.स. २०१९

मूल्य : २५०

आवृत्ति : प्रथम

प्रत : ५००

प्राप्तिस्थान

आग्या
सचिन जैन

डी-१९, अलका कुंज, खावेरी फेझ-२,
कमलानगर, आग्रा (उ.प्र.)

जयपुर
आकाश जैन

A/१३३, नित्यानंद नगर, क्वीन्स रोड,
जयपुर (राज.)

जोधपुर

विजयराजजी सिंघवी
जी हुजूर रेडीमेंट, त्रिपोलीया बजार,
जोधपुर-३४२००२ (राज.)

उदयपुर

अरुण कुमार बडाला
उदयपुर शहर, ४२७ बी, एमराल्ड टावर,
हाथीपोल, उदयपुर-३१३००१ (राज.)

करौली

डॉ. मनोज जैन
B-३, एच.पी. पेट्रोलपंप के पीछे,
नयी मंडी, हीडौन सीटी,
करौली-३२२२३० (राज.)

के. जी. एफ.

आशीष तालेडा
प्रीन्स सूरजमुल्ल सर्कल, रोबर्ट सोनपेट
के.जी.एफ.-५६३१२२ (कर्णा.)

बेंगलोर

अरवींदकुमार ओस्तवाल जैन
प्रेम मेन्शन, नं. १४, २१वां क्रोस,
बी.वी.के. आइनगर रोड क्रोस
कीलरी रोड, बेंगलोर-५६००५३ (कर्णा.)

मुंबई

जीतेन्द्र जैन

माइक्रोनीक्ष इन्फोटेक
८०, गणेश भवन, चौथा माला,
ओफीस नं. ५०, रामवाडी,
जागृती माताजी मार्ग, काल्बादेवी,
मुंबई-४००००२ (महा.)

मुंबई

मनीष मोदी

हिन्दी ग्रंथ कार्यालय
९, हीराबाग, सी.पी. टेंक
मुंबई-४००००४ (महा.)

नाशिक

आनंद नागशेठिया
६४१, महाशोबा लेन,
रविवार पेट, नाशिक (महा.)

लुधियाणा

अभिषेक जैन
शान्ति निटवेर्स,
पुराना बाजार, लुधियाणा (पंजाब)

सीकन्दाबाद

रुपेश वी. शाह
२-३-५४०, पहला माला, सुनीता सर्जन
अपार्टमेंट, पार्श्व पद्मावती मंदिर के सामने,
डी.वी. कोलोनी, सीकन्दाबाद-५००००३

विजयवाडा

अक्षयकुमार जैन
डोर नं. ११-१६-१/१
सीग राजुवाली स्ट्रीट
वीजयवाडा-५२०००१ (आं.प्र.)

डिज़ाइन : वीतराग ग्राफिक्स, अहमदाबाद (M) 8980007872

ग्रंथ समर्पण



प्रस्तुत पुष्प भगवान महावीर की यशोज्ज्वल पाट परंपरा के
वर्तमानाचार्य श्री निर्गुण-कोटिक-चांद्र-वनवासी-वड
नामांतरे तपागच्छीय श्री आत्म-कमल-लब्धि-विक्रम पट्टधर
वाराणसी-उवस्सगगरं-कुलपाकजी-वणछरा-प्रेरणातीर्थ आदि
अनेक प्राचीन तीर्थोद्धारक, सरल स्वाभावी
पू. आ. भ. विजय राजयशसूरीश्वरजी महाराजा
एवं
युवा प्रतिबोधक पू. गणि वीतरागयशविजयजी महाराजा
को प्रस्तुत पुष्प सादर समर्पित



भूषण शाह

लाभार्थी



भेलुपुर (वाराणसी), उवस्सगहरं (नगपुरा), कुलपाकजी आदि
अनेक तीर्थोद्धारक पू. आ. राजयशसूरीश्वरजी म. सा.

एवं

युवा प्रतिबोधक पू. गणि वीतरागयशविजयजी महाराजा की
प्रेरणा से श्री शत्रुंजयतीर्थ चातुर्मास आराधक समिति,
वि. सं. २०७५, पालीताणा



दो शब्द



पुरातत्त्वविद् श्री कांतिसागरजी महाराज जैन जगत का कोहीनूर रत्न थे । महाराजजी का व्यक्तिगत रूप से हमारे पर बहोत उपकार रहा है । महाराजजी ने जो पुरातत्त्व पर काम किया था उससे आज का जैन संघ अनभिज्ञ था । अत मेरा प्रयत्न रहा की महाराजजी के कुछ ग्रंथ-लेख इत्यादि को व्यवस्थित रूप देकर पुनः प्रकाशित किया जाए ।

हमारा प्रयत्न रहा की संपादन करते-करते महाराजजी के विचार एवं लेख को उचित न्याय दे पाएँ अतः नई शैली में ही पुनः संपादन किया है । इस संपादन एवं ग्रंथ से पुरातत्त्वप्रेमि जैन विद्वानों को नई दीशा मिलेगी यह आशा है ।

महाराजजी का बहुमूल्य एवं अप्रकाशित साहित्य जल्द ही प्रकाश में लाने के हमारे भाव है ।

प्रस्तुत ग्रंथ प्रकाशन के लीए प्रेरणा करनेवाले प्राचीन तीर्थोद्धारक आ. वि. राजयशसूरिजी म. सा. एवं युवा प्रतिबोधक गणि वीतरागयशविजयजी म. सा. का मैं ऋणी हूँ तथा शत्रुंजय चातुर्मास समिति का आभारी हूँ ।

जिनशासन जयवंत हो ।.....



भूषण शाह

अनुक्रम विका

हृदय की बात	१
प्रस्तावना	८
जैन पुरातत्त्व	३४
जैन स्तूप	४४
जैन मंदिर	४९
जैन तीर्थकर प्रतिमाएँ	६०
जैन धातु, काष्ठ एवं रत्नों की तीर्थकर प्रतिमाएँ	६५
जैन श्रमण प्रतिमाएँ	७६
जैन देवी-देवता की प्रतिमाएँ	८२
जैन श्रावकों की प्रतिमाएँ	८६
जैन गुफाएँ	८७
जैन कीर्तिस्तम्भ	१०१
जैन भावशिल्प	१०४
जैन लेख	१०९
जैन चित्रकला	११४
मध्यप्रदेश का जैन पुरातत्त्व	२१६
महाकोसल का जैन पुरातत्त्व	२५०
प्रयाग का जैन पुरातत्त्व	२७१
विन्ध्याचल का जैन पुरातत्त्व	३०८
नालंदा का जैन पुरातत्त्व	३४६
पाटलिपुत्र (पटना) का जैन पुरातत्त्व	३५३
जैन पुरातत्त्व : एक अन्वेषण	३९०
परिशिष्ट-१ : जैन कला का पुरातत्त्विक महत्व	४०३
परिशिष्ट-२ : मिथिला कल्याणक भूमि का विच्छेद कैसे हुआ ?	४०८

“खोज की पगदंडीयाँ” पुस्तक में पुरातत्त्वविद् कांतिसागरजी का लिखा हुआ आत्मवक्तव्य

यों तो सर्वसाधारण के लिए यह जानना अनिवार्य नहीं कि लेखक जो कुछ प्रसव करता है, उसके पृष्ठभाग में किस प्रकार की प्रेरणा कार्य करती है ? किन्तु पाश्चात्य परम्परा से प्रभावित मनोवैज्ञानिकों को रचना की अपेक्षा उस चक्र के संचालन में सहायक प्रवृत्तियों के प्रति अधिक जिज्ञासा दृष्टिगोचर होती है। यह विचार प्रत्येक लेखक के साथ सम्बद्ध तो होना चाहिए पर ऐसा देखा कम ही गया है। व्यक्ति का समुचित मूल्यांकन निखरे हुए व्यक्तित्व पर अवलंबित है। व्यक्तित्व का विकास जिन महान प्रेरणाओं के आधार पर होता है, उनसे जनता स्वर्णिम निर्माण की ओर भलीभांति आकृष्ट हो सकती है।

अनुभव से सिद्ध है कि कभी-कभी जनता की रुचि के परिष्कार व नैतिक उत्थान में कृति की अपेक्षा कृति रचना प्रेरक तत्त्व अधिक सफल व उत्प्रेरक प्रमाणित हुए हैं। स्थूल दृष्टि प्रकृति के बाह्यावरण तक सीमित रहती है, अर्थात् वह कलाकार के कृतित्व पर ही स्तंभित हो जाती है किन्तु द्रष्टा अपनी संज्ञा यहीं नहीं खो बैठता, वह अन्तर्जगत् के निगूढतम तत्त्वों की तह तक पहुंचता है। कृतित्व का उचित मूल्यांकन वस्तुप्रेरक न होकर भावनाप्रेरक है। वस्तु तो विषय का आंशिक व स्थूल रूप मात्र है। रूप की अपेक्षा रूप निर्माण-चित्तवृत्ति के मंथन का महत्व अधिक है। जीवन कुछ ऐसा है कि न जाने किस समय किस सामान्य घटना से बदल जाये।

सचमुच जहां तक मानवविकास का प्रश्न है विकसित मानव की अपेक्षा उसके श्रमिक विकास की घडियां अगणित उज्ज्वल व्यक्तित्व निर्माण कर सकती है। विकास विषयक प्रेरणा व्यष्ट्यात्मक होकर भी तत्त्वतः पूर्णतः समष्ट्यात्मक है।

मेरे वैयक्तिक जीवन में अभिरुचि रखने वालों की ओर से कई बार जिज्ञासा प्रकट की गई की जैन मुनि होते हुए भी मेरा विशिष्ट आकर्षण आध्यात्मिक साधना के केन्द्रसम मंदिरों की अपेक्षा जीर्ण-विशीर्ण व वृक्ष लताओं से परिवेष्टित निर्जन खंडहर व गिरिकन्दराओं के प्रति क्यों है ? प्रायः इसकी उपेक्षा करना ही उचित समझा। ऐसा अनुभवजन्य विश्वास रहा है कि

रुचि का भावी प्रशस्त व परिष्कृत परिणाम संस्कारजनित होते हुए भी सर्वथा आकस्मिक नहीं है। भाव-जगत् रूपी रुचि-बीज मानस धरातल में अवश्य ही किसी न किसी रूप में रहते हैं। उच्च कोटि के प्राणवान् बाह्य संस्कारों द्वारा सामयिक परिस्थिति और प्रेरणा के अनुसार उनका पोषण होता है। विकसित जीवन के पृष्ठमार्ग में अवश्य ही कोई न कोई उत्प्रेरक व स्फूर्तिप्रद एक या अधिक घटनाएं रहती हैं जो आगे चलकर उसे विशिष्ट संज्ञा से अभिषिक्त कर उसका अपना स्वतंत्र व आदर्शमूलक स्थान बना देती हैं। प्रायः देखा गया है कि बाल्यजीवन की कतिपय विशिष्ट घटना या रुचि क्रमशः पोषित होकर जीवन साधना को केन्द्रित कर लेती हैं।

बचपन से ही मुझे निर्जनवन व एकान्त खंडहरों से विशेष स्नेह रहा है। अपनी जन्मभूमि जामनगर की बात लिख रहा हूँ। वहां का खंडित दुर्ग ही मेरा क्रीडास्थल रहा है। “होडिया कोठा” और तत्सन्निकटवर्ती विशाल व स्वच्छ सरोवर सौराष्ट्र में सौंदर्य के प्रतीक समझे जाते हैं। आज से २२ वर्ष पूर्व की बात है-सरोवर के किनारे पर टूटे हुए खंडहरों की लम्बी पंक्ति थी, जहाँ बारहों मास प्रकृति स्वाभाविक श्रृंगार किये रहती है। कहना चाहिए वे खंडहर संस्कृति, प्रकृति और कला के समन्वयात्मक केन्द्र थे। उन दिनों मैं गुजराती चौथी कक्षा में पढ़ता था। पढ़ने में भारी परेशानी का अनुभव होता था पर अभिभावकों का तकाजा इतना कड़ा व अटल था कि बिना शाला गये माँ का प्यार छोड़कर भोजन तक मिलना असम्भव था।

अधिक नियंत्रण व्यक्ति को कभी कभी स्वच्छन्द बना देता है यदि उसका दृष्टिकोण स्वस्थ न हो तो। मैं और मेरी बहिन ने अपना बचत का वैधानिक मार्ग सुगमतापूर्वक निकाल ही लिया। उन दिनों “पढ़ने” का तात्पर्य केवल इतना ही था कि शाला के समय घर पर न रहना। शाला के समय अपने बस्ते लेकर हम लोग सरोवर तटवर्ती खंडहरों में छिपा देते और वहीं खेला करते। क्षुधा का अनुभव होने पर “आणदा बाबा” के चोक में लगी फलों की दुकान पर चले जाते और फल चुराकर क्षुधा शांत करते। जलाशय में तृषा बुझाकर खंडहरों की राह चल देते। पाँच बजते ही घर की ओर चल पड़ते। बस यही प्रायः नित्य का क्रम था। शिक्षक या परिचित द्वारा घर शिकायत पहुँचने पर कभी-कभी पिटाई भी ख़ुब होती पर क्रम अपरिवर्तनीय ही रहता।

खंडहर बनानेवालों के प्रति उन दिनों भी हमारे बाल हृदय में अपार



जैन कुल में उत्पन्न न होते हुए भी अल्प वय में मैंने जैन-मुनि दीक्षा अंगीकार की। जैन-मुनियों के लिए किसी भी प्रकार का वाहन-व्यवहार सर्वथा वर्जित है। अतः पाद-विहार अनिवार्य है। यातायात के साधनों द्वारा विश्वनैकट्य स्थापन के युग में भी आज श्रमण-परम्परा उन्नत है। भारत की एकमात्र यही ऐसी सांस्कृतिक संस्था है जो वैयक्तिक, नैतिक व आध्यात्मिक साधना के साथ शोध-खोज में भी गहरी अभिरुचि रखती आई है और रखती है। सौभाग्य से जिस सम्प्रदाय में (खरतरगच्छ में) मैं दीक्षित हुआ उसका सांस्कृतिक इतिहास सापेक्षतः अत्यन्त उज्ज्वल रहा है। जैन-साहित्य-सृजन और ललितकला के परिपोषण में इस सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट स्थान है।


हृदय की बात
३


भास्कर्य, दुर्ग और भवन के विविधतम मनोहर भावों को आत्मसात् करने के लिए शिल्पशास्त्र, मूर्तिविधानशास्त्र-सूचित विषय पर वर्तमान प्राच्य व पाश्चात्य विद्वत्समाज द्वारा लिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त पूर्व गवेषित खंडहर-विवरणों को सूक्ष्मतया देखना पडा । बाल्यकालीन संस्कार अनुकूल परिस्थिति पाकर पल्लवित-पुष्पित होने लगे और प्रत्येक वस्तु को गम्भीरता के साथ देखने की दृष्टि बनने लगी ।

रसमय अनुभूति को समुचित रूपेण व्यक्त करना उन दिनों मेरे लिए कठिन था । सौभाग्यवश चातुर्मास के लिए बम्बई जाना पडा । वहाँ प्राचीन गुजराती भाषा और साहित्य के गंभीर गवेषक श्रीयुत मोहनलाल भाई दलीचन्द देसाई एडवोकेट (अब स्वर्गीय), भारतीय विद्याभवन के प्रधान संचालक पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्री जिनविजयजी और प्रख्यात पुरा-तत्त्वज्ञ डॉ. हंसमुखलाल धीरजलाल सांकलिया आदि अध्यवसायी अन्वेषकों का सत्संग मिला । उनके दीर्घ अनुभव द्वारा शोधविषयक जो मार्गदर्शन मिला, उससे मेरी अभिरुचि और भी गहरी होती गई । मेरे मानसिक विकास पर और कलापरक दृष्टि-दान में उपर्युक्त विद्वत् त्रिपुटि ने जो श्रम किया है, फलस्वरूप “खंडहरों का वैभव” एवं प्रस्तुत पुस्तक है ।

“खोज की पगदंडियाँ” तीन भागों में विभक्त हैं - ललितकला, लिपि और भौगोलिक यात्रा । तीनों विभाग एक ही विषय पर केन्द्रित हैं । जितना बौद्धचित्रकला पर अद्यावधि प्रकाश डाला गया है, उतना जैन चित्रकला पर नहीं । हिन्दी में जैन-चित्रकला पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री अत्यन्त सीमित है । ललितकला के समस्त निबंधों पर मुझे कुछ नहीं कहना, किन्तु जहाँ तक सम्भव हो सका और उपलब्ध साधन मुझे प्राप्त हो सके, उनका उपयोग करने का प्रयास किया गया है ।

भारतीय भित्तिचित्र और मुगल राजपूत पूर्व विकसित चित्रकला की मूल्यवान सामग्री जैनाश्रित ग्रंथस्थ वाङ्मय में ही सुरक्षित रह सकी हैं । हिन्दू धर्माश्रित चित्रकला पर एक निबंध इसमें जाना आवश्यक था, किन्तु ठीक समय पर तैयार न हो सकने के कारण न जा सका, इसका खेद है । इस विभाग की दूसरी मुख्य अपूर्णता चित्रों का न होना है । मेरे जैसा भिक्षु उनको कहाँ जुटाता फिरता ?

जीवन सतत पर्यटनशील रहने के कारण कलाविषयक नवीन सामग्री उपलब्ध होती ही रहती है । इन पंक्तियों के लिखते समय अनायास मुझे एक



ऐसी जैनाश्रित चित्रकलाकृति श्रीयुत चांदमलजी सोगानी द्वारा प्राप्त हुई जिसके उल्लेख का लोभ संवरण नहीं कर सकता। मेरा तात्पर्य सचित्र भक्तामरस्तोत्र से है। यों तो इसकी दर्जनों सचित्र प्रतियाँ मेरे अवलोकन में आई हैं पर इस प्रति का महत्व जितना धार्मिक दृष्टि से है उससे कहीं अधिक हिन्दी भाषाविज्ञान और चित्रकला की दृष्टि से है। विशिष्ट प्रकार के भावों का चित्र द्वारा प्रकाशन आज के मनोवैज्ञानिकों की देन मानी जाती है। यह कृति उसका अपवाद है। प्रत्येक काव्य के प्रत्येक वाक्य का इतना सुंदर और सफल अंकन अन्यत्र शायद न मिले। कलाकार ने एक एक भावमूलक वाक्य का स्वतंत्र चित्र खींचकर तात्कालिक मनोविज्ञान का सुंदर स्वरूप उपस्थित किया है। मुगल चित्रकला की यह उत्कृष्टतम कलाकृति असावधानी का ऐसा शिकार बनी है कि लेखन-प्रशस्ति व बहुमूल्य चित्र का कुछ भाग नष्ट हो गया। सौभाग्य से प्रशस्ति का जो आंशिक रूप बच सका, वह इस प्रकार है -

“संवत् १६९४ ब्रषे (वर्षे) वैसाप सुदी ७ कौ मनोहरदास कास्थ (कायस्थ)। चित्रामुकीनै। संवत् १६९५ ब्रषे चैत्र सुदी १ भौम वासरे लिपतं (लिखितम्) पं। सिरोमनि भक्तामर स्तवन। भावार्थ काव्यार्थ पंचासिका शुभं शुभमस्तु॥ पोथ लिपाई साहूधनराज गोलापूरव कर्म क्षयनिमित्ते।

पुस्तक के आदि में “भट्टारक श्री महिचंद्र गुरुभ्यो नमः” अर्वाचीन लिपि में लिखा है जो चित्रित व लिखित भक्तामर के वाद की है।

यात्राओं के विषय में मेरा अनुभव रहा है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति के मूलरूप को जितना पादविहारी भोलीभाली जनता में बैठकर आत्मसात् कर अनेक विलुप्तप्रायः सामग्री को प्रकाश में ला सकता है, दूसरे वाहन-विहारी के लिए संभव नहीं। जनजीवन में मूल्यवान् सांस्कृतिक तत्त्व आज भी किस प्रकार विद्यमान हैं और पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित मानस उसे किस तरह विस्मृत कर चुका है बल्कि कभी-कभी उपहास तक कर बैठता है आदि बातों का प्रत्यक्ष परिचय बिना ग्रामीण मनोवृत्ति अपनाये नहीं पाया जा सकता।

दृष्टिसम्पन्न मानव जहाँ जायगा उसे अपने विषय की ठोस सामग्री उपलब्ध हो ही जायगी। कला और शोध-परक अभिरुचि के कारण मैंने अपने विहार में आनेवाले खंडहर व पुरातन स्थानों का देखना अनिवार्य समझा है। मेरे मार्ग से १०-५ मील भीतर भी कोई क्षेत्र पडता तो मैं उसे बिना देखे आगे

नहीं बढ़ता हूँ-चाहे मुझे वहाँ जाने पर भले ही निराश ही क्यों न होना पड़ा हो । यद्यपि शोधक के जीवन में निराशा जैसी कोई वस्तु ही नहीं होती । कभी कभी ऐसा भी हुआ है एक ही स्थान की यात्रा मुझे कई बार करनी पड़ी है । जब-जब मैं खंडहरों में गया नवीन विचारों से प्रेरित हुआ हूँ । कभी-कभी तो ऐसे स्थान भी अवलोकन में आये जहाँ शोध-सामग्री की प्राप्ति की आशा न थी, पर आकस्मिक उपलब्ध हो जाती । बीहड़ वनों में आज भी भारतीय गौरव बिखरा पड़ा है जहाँ पुरातत्त्व विभाग के कर्मचारी नहीं पहुंच पाते ।

प्रस्तुत पुस्तक में नालंदा, विंध्याचल, मैहर और पटना की यात्रा ही दे सका हूँ । ये यात्राएँ केवल भौगोलिक मात्र न होकर ऐतिहासिक हो गई हैं । इस बात का यथाशक्य ध्यान रखा गया है कि पुरातत्त्व-विषयक पारिभाषिक शब्दावली के कारण अधिक दुरुह न हो जाय और भाषा के आवरण में कहीं मूलरूप ही ढक न जाय । मैं इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि पत्थर और रेखाओं की कविता भाव-विहारी कोमल हृदय ही पढ़ सकता है । ब्रह्मांडव्यापी रूप की वास्तविक पहचान विशिष्ट चित्तवृत्ति द्वारा ही संभव है । तात्पर्य कलाकार के दान का सच्चा अधिकारी कलाकार ही हो सकता है । वहाँ वृद्धि काल-परक मर्यादा का परीक्षण करती है तो हृदय अन्तरात्मा का ।

इन पंक्तियों के लिखे जाने तक डोंगरगढ़, वरहटा, घनसौर, पनागर और भोपाल के खंडहरों की यात्राएँ तैयार हो चुकी हैं, यदि संयोग अनुकूल रहे तो ये भी रुचि-शील पाठकों के सम्मुख आ ही जायगी ।

खोज की बिखरी हुई पगदंडियों को सामूहिक रूप से उपस्थित करने में भारतीय ज्ञानपीठ के उत्साही मंत्री श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय और बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी जैन एम.ए. ने जो प्रयास किया है तदर्थ मैं उनका हृदय से आभार मानता हूँ ।

हमारा समाज शोध विषयक प्रवृत्ति में कितनी रुचि रखता है, इसका एक उदाहरण देना आवश्यक समझता हूँ । मैं फरवरी में नरसिंहपुर (मध्यप्रदेश) था । १३ फरवरी को एक सज्जन के यहाँ पगदंडियों के प्रूप्स और मूल पाण्डुलिपि पहुंची । इधर प्रेस व मंत्रीजी का तकाजा था कि मैं प्रूप्स शीघ्र भेज दूँ । मैं क्रमशः भोपाल आया । मैंने प्रेस से शिकायत की कि मुझे प्रेसकोपी व पुप्स तो नहीं मिले हैं । यह बात जून की है । पोस्ट ऑफिस विभागीय जाँच करने पर ज्ञात हुआ कि १३ फरवरी को डिलीवरी नरसिंहपुर



दी जा चुकी है। जब मैंने उस सेठ को और मेरे परिचित बाबू गोकुलचंदजी कोचर को वेदना भरा पत्र लिखा कि आप वहाँ जाकर पता तो लगाइये कि उस डिलीवरी का क्या हुआ ? जब श्री कोचरजी उनके वहाँ पहुँचे तो विदित हुआ कि एक रजिस्ट्री आई तो थी पर बेकार समझकर रद्दी के कमरे में डाल दी गई है। श्रीमंत साहित्य की कितनी सीमा तक उपेक्षा कर सकते हैं मुझे आज ज्ञात हुआ। श्री गोकुलचंदजी कोचर ने बड़े परिश्रम पूर्वक खोजकर मुझे भिजवाया, तदर्थ मैं उनका भी आभार मानना अपना परम कर्तव्य मानता हूँ।

परमपूज्य गुरुवर्य उपाध्याय मुनि सुखसागरजी महाराज व मुनिश्री मंगलसागरजी महाराज ने समय-समय पर मुझे सत्परामर्श देकर जो पथ प्रदर्शन किया है तदर्थ उनके चरणों में वंदनापूर्वक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

जैनाश्रित चित्रकला पुरातन चित्र जो प्रकट किया जा रहा है वह मुझे मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व-साधक श्रीलोचनप्रसादजी पांडेय द्वारा प्राप्त हुआ है, प्रस्तुत पुस्तक की प्रस्तावना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रधान और हिन्दी साहित्य और भाषा के गंभीर आलोचक श्री डॉ. हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने लिखकर इसकी शोभा द्विगुणित कर दी है। श्री पांडेयजी तथा आचार्य श्री द्विवेदी का मैं चिरऋणी हूँ। पं. रामेश्वरजी गुरु एम.एस.सी. (जबलपुर), प्रो. जगदीश व्यास एम.ए. (जबलपुर) व सुषमा साहित्य-मंदिर के संचालक श्री सौभाग्यमलजी जैन को विस्मरण नहीं कर सकता जिन्होंने ने समय-समय पर अपनी सम्मतियों से और मेरे लेखन-कार्य में हर तरह से मदद देकर मेरी बड़ी सहायता की है।

प्रान्त में मैं आशा करता हूँ कि इन पगदंडियों को, राजमार्ग के रूप में, कलाकार बदलकर शोध का भावी मार्ग प्रशस्त करेंगे। मेरी मातृभाषा गुजराती होने के कारण यदि हिन्दी भाषा विषयक दोष दिखें तो पाठक उदार चित्त से क्षमा करें।

मोढ-स्थानक

मारवाडी रोड, भोपाल

२१-९-१९५३

- मुनि कान्तिसागर



प्रस्तावना



टूटे-फूटे खंडहर भी सम्पदा और वैभव है, इस बात को हमने जितनी बार सुना है, उतनी बार समझा नहीं। समझा इसलिए नहीं कि बिना समझे काम चल रहा है। देश के सामने और कितने ही बड़े काम हैं। व्यक्ति के सामने और कितनी ही जिम्मेदारियां हैं। पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा हम नये निर्माण का स्वप्न देख रहे हैं—वह निर्माण जो हमारे देश के ३५ करोड़ आदमियों को खाना देगा, कपड़ा देगा, नये मकान देगा। जीवन का स्तर उँचा होगा। लोगों को सुख-सुविधा मिलेगी। राष्ट्र के पास सम्पत्ति होगी। हमारी राष्ट्रीय शक्ति का विस्तार होगा और निश्चय रूप से हमारी धाक मानेंगे—अमेरीका, ब्रिटेन, रूस, चीन। वैभव की इस परिभाषा और इस रूप के सामने खंडहरों की बात सोचना, या न सोचने पर आश्चर्य करना ही आश्चर्य है।

लेकिन, श्री मुनि कान्तिसागरजी जैसे धुनी और स्वप्नद्रष्टा भी हमारे बीच में हैं जो “वैभव” के दूसरे गरिमावान् रूप को दिखाने के लिए हमें खंडहरों के बीच ले जाने पर कटिबद्ध हैं। खंडहरों का वैभव हमारा सांस्कृतिक वैभव है। यह हमारा ऐसा उत्तराधिकार है, जिसका मूल्य सोने-चांदी में नहीं आंका जा सकता। यह मूल्य जीवन के आर्थिक स्तर का मूल्य नहीं है, यह है जीवन के आदर्शों का मूल्य। निःसन्देह, हमारी पंचवर्षीय योजनाएं अपनी जगह आवश्यक हैं, किन्तु इन योजनाओं को बनानेवाले व्यक्तियों ने ही राज्यचिह्न के लिए धर्मचक्र की ओर राज्य-प्रेरणा के लिए “सत्यमेव जयते” की प्रतिष्ठा की है। जो धर्मचक्र राज्य की पताका पर अंकित है और जो शब्दावलि राज्य की मोहर को आदृत करती है, वह यदि “वैभव” का मूर्त रूप नहीं तो और क्या हो सकता है ?

खेद इसी बात का है कि जहाँ अर्थ और आर्थिक योजनाएं हमारे राष्ट्र के जीवन को रात-दिन उलझाये रहती हैं, वहाँ धर्मचक्र और “सत्यमेव जयते” केवल देखने की चीज रह गये हैं। उनका अर्थ हमारे मन को वर्षों में एक बार भी नहीं छूता।

यह धर्मचक्र और यह राज्यमंत्र हमें जिन खंडहरों से प्राप्त हुआ हैं, उन



जैसे खंडहरों के वैभव की कथा ही श्री मुनि कान्तिसागरजी सुनाने चले हैं। वे श्वेताम्बर साधु हैं। पैदल ही चलते हैं। संयम की साधना जीवन का लक्ष्य है। उपदेश देना जीवन का कर्तव्य है। हमारे बहुत से साधुओं की भांति वह भी उपदेश देते रहते और आत्मकल्याण के लिए ज्ञान की साधना करते रहते, पर यह उनकी सूझ है कि उन्होंने अपनी साधना का क्षेत्र आधुनिक सजे-सजाये मंदिरों की अपेक्षा खंडहरों को अधिक बनाया। पुरातत्त्व के विद्यार्थी में जो लगन, कला-मर्मज्ञता, ऐतिहासिक ज्ञान की पृष्ठभूमि और वैज्ञानिक दृष्टि होनी चाहिए, वह भी सब श्री मुनि कान्तिसागरजी में है। 'खंडहरों का वैभव' इस बात का प्रमाण है। सबसे बड़ी बात यह कि वैज्ञानिक की दृष्टि के साथ उनमें कवि और कलाकार का हृदय है जो उन्हें खंडहरों की सौंदर्य-सृष्टि में इतना तल्लीन कर देता है कि वह घंटों खोये-खोये से रहते हैं। वे लिखते हैं -

“मैं स्वयं किसी प्राचीन खंडहर में जाता हूँ तो मुझे वहाँ के एक-एक कण में आनंदरस की धारा बहती दीखती है और उस समय मेरी विचारधारा का वेग इतना बढ़ जाता है कि उसे लिपि द्वारा नहीं बाँधा जा सकता। खंडित प्रतिमा का अंश घंटों तक दृष्टि को हटने नहीं देता....”

“सचमुच पत्थरों की दुनिया भी अजीब है, जहाँ कलाकार वाणी-विहीन जीवन-यापन करनेवालों के साथ एकाकार हो जाता है।”

“मेरा विश्वास रहा है कि कलाकार खंडहर में प्रवेश करता है, तब वहाँ का एक-एक पत्थर उससे बातें करने को मानो लालायित रहता है, ऐसा आभास होता है। कलाकार अवशेषों को सहानुभूतिपूर्वक अंतरमन से देखता है, पर्यवेक्षण करता है, उनमें एकाकार होने की चेष्टा करता है, तभी तो वह टूटे-टूटे पत्थर के टुकड़ों में बिखरे हुए संस्कृति और सभ्यता के बीजों को एकत्र कर उनका नवीन सामयिक स्फूर्तिदायक संस्करण तैयार करता है।”

‘खंडहरों के वैभव’ में लेखक की अनेक वर्षों की कठिन पुरातत्त्व साधना १० लेखों के रूप में प्रतिफलित हुई है। इस में ३ लेख मध्यप्रदेश के जैन, बौद्ध और हिन्दु पुरातत्त्व से संबंधित हैं और ३ लेख महाकोसल के पुरातत्त्व से। २ लेखों में प्रयाग-संग्रहालय तथा विध्यभूमि की जैनमूर्तियों का दिग्दर्शन है। शेष २ निबंध हैं-जैन-पुरातत्त्व तथा श्रमण संस्कृति और सौंदर्य। ये इतने सुंदर और उपादेय हैं कि पुरातत्त्व का कलापक्ष एवं दर्शन पक्ष ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ बुद्धिगम्य हो जाता है।



‘खंडहरों का वैभव’ पढ़कर भारतीय पुरातत्त्व की गरिमा तथा सौंदर्य की छाप के उपरांत जो दो भावनाएँ प्रबल रूप से जागृत होती हैं वे हैं -

१. भारतीय पुरातत्त्व की विविधतामयी विकासशृंखला और

२. इस पुरातत्त्व के प्रति देश की हृदयहीन उपेक्षा ।

इन दोनों बातों को सार रूप में समझ लेना आवश्यक है क्योंकि पुरातत्त्व के यही दो पहलू हैं जो हमारे जीवन को छूते हैं और जिनके विषय में हमारा दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाना चाहिए ।

जैन, बौद्ध, हिंदु-मंदिरों में आज स्थापत्य, मूर्तिरक्षण और पूजा-विधान आदि की एक परिपाटी बन गई है, जिसे बहुत-सी जगह आंख बंदकर, ‘शास्त्रों’ के आधार पर व्यवहार में लाया जा रहा है । हममें-से बहुतों को इस विधान में परिवर्तन करने की न कलात्मक क्षमता है न बौद्धिक सूझ । फिर भी यदि आज कोई मंदिर की बनावट के संबंध में, मूर्ति के परिकर की कल्पना में या पूजा के विधान में परिवर्तन की बात सोचें अथवा अपनी मान्यता को नया रूप दें तो वह “अधार्मिक” तक कहा जा सकता है । आग्रह बड़े दृढ है । हमारी कट्टरता में हेरफेर की गुंजाइश नहीं । हम पूजा खड़े होकर करें या बैठकर, फूल चढायें या अक्षत, पूजा के द्रव्यों का क्रम इस रूप में हो या उस रूप में आदि साधारण प्रश्नों में भी विधि और विधान की मौजूदा परिपाटी अपरिवर्तनशील है । हम बहुत कम यह सोचते हैं कि पूजा की विधि की तो बात ही क्या, हमारे मंदिरों की बनावट और मूर्तियों की गढ़न में परिवर्तन होता रहा है । फिर भी उनकी पूज्यता कम नहीं हुई । उदाहरण के लिए ‘खंडहरों का वैभव’ में हमें निम्नलिखित तथ्य मिलते हैं, जो स्थापत्य और मूर्तिकला की विविधता या विकास की ओर संकेत करते हैं :-

१. मूर्तिशिल्प :- दक्षिण का मूर्तिशिल्प उत्तर से भिन्न है । एक युग की कला दुसरे युग की कला से भिन्न है । कहीं-कहीं प्रान्तीयता भी मूर्तियों के आकार में परिलक्षित होती है ।

२. प्रभामंडल :- मूर्तियों के पीछे जो प्रभामंडल या भामंडल बनाया जाता है, उसका क्रमिक विकास हुआ है, कुषाण कालीन प्रभामंडल सादा था, गुप्तकालीन अलंकृत और गुप्तोत्तरकालीन प्रभामंडल तो अलंकार उपकरणों से इतना अधिक भर दिया गया था कि मूल मूर्ति गौण हो गई और प्रभामंडल की सज्जा मुख्य ।



३. **परिकर :-** मूर्तियों के चारों ओर शिलापट्ट पर जो अन्य मूर्तियाँ या अलंकरण खने गये वह २-३ शताब्दियों के बाद बदलते गये । कालान्तर में इन परिकरों में प्रातिहार्य के साथ-साथ श्रावकों की मूर्तियाँ भी शामिल होने लगीं ।

४. **लक्षण :-** भिन्न-भिन्न तीर्थकर की मूर्तियों की पहचान भिन्न-भिन्न लक्षणों से है, पर लक्षण का भेद बाद की चीज है । अनेक प्राचीन मूर्तियों में यह भेद नहीं है ।

५. कई प्राचीन जैन मूर्तियों में सिर पर से खुले बाल कंधों पर लटकते दिखाये गये हैं । यह मूर्तियाँ जैनधर्म के आदि तीर्थकर ऋषभनाथ की हैं और कहीं-कहीं यह चतुःमुष्टीकेशलोच का रूपक है ।

६. अम्बिका का प्रचलित रूप यह है कि वह आम के वृक्ष के निचले भाग में सिंहासन पर बैठी है, साथ में दो बालक हैं । पर इस रूप में कहीं कहीं भिन्नता भी मिलती है । इससे भी बड़ी बात यह कि यद्यपि अम्बिका भगवान नेमिनाथ की अधिष्ठातृ देवी हैं फिर भी कहीं-कहीं यह ऋषभनाथ की मूर्ति के साथ सम्मिलित है ।

७. मुनियों और गृहस्थों की भी मूर्तियाँ बनाई गई हैं, यद्यपि गृहस्थों की मूर्तियाँ उपास्य के रूप में न होकर उपासक के रूप में हैं ।

८. मुगलकालीन मंदिरों के अग्रभाग में कहीं-कहीं मीनार भी पाया जाता है, जो मानस्तम्भ की शैली से भिन्न है । इसी प्रकार आरबी (मध्यप्रदेश) में एक मंदिर है, जिसमें 'जैनमूर्ति' के साथ तकिया बना हुआ है । ऐसी मूर्ति और कहीं नहीं है । रायपुर (मध्यप्रदेश) में एक ऐसा जैनमंदिर है जिसके शिखरपर भोगासन अंकित हैं । भेडाघाट (मध्यप्रदेश) में गणेश की एक ऐसी मूर्ति है जो स्त्री के रूप में है, आदि आदि ।

भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकला के क्रमिक विकास अथवा तत्संबंधी तथ्यों का ज्ञान न होने से जहाँ जनसाधारण के पूर्वाग्रह ढीले नहीं पड़ते, वहाँ बौद्धिक तटस्थता रखनेवाले विद्वान् भी निष्कर्षों में भूल कर बैठते हैं । इस पुस्तक में इस प्रकार की कई भूलों का निराकरण किया गया है । उदाहरण के लिए, पुरातत्त्व अनुसन्धान के प्रारंभिक दिनों में सर एलैक्जेंडर कनिंघम (जिनके श्रम और साधना के लिए भारत चिरऋणी रहेगा) ने बहुत से जैन-स्तूपों को बौद्ध-स्तूप घोषित किया, क्योंकि उनकी धारणा थी कि जैन-



शिल्पकला में स्तूपों का चलन नहीं है। लगभग १० वर्ष बाद सन् १८९७ में जब बुल्हरने मथुरा के जैन स्तूपों के सम्बन्ध में लेख लिखा और अपनी मान्यताएं प्रगट कीं, तब विद्वानों का विचार बदला। फिर भी कर्निघम अपनी २४ जिल्दों में जहाँ कहीं जैन-स्तूपों को बौद्ध स्तूप लिख गये, अनेक विद्वान् आज भी उसी के आधार पर उद्धरण करते रहते हैं। पुरातत्त्व के एक दूसरे विद्वान् फर्गुसनने घोषित किया था कि जैनों ने गुफाएँ नहीं बनाई—इस बात का भी कठिनता से निराकरण हुआ।

आज अनेक जैन गुफाएँ जैसे उदयगिरि-खंडगिरि (उडीसा), उदयगिरि (भेलसा, मध्यभारत), जोगीमारा (मध्यप्रदेश-सरगुजा), ढंकगिरि (सौराष्ट्र-शत्रुंजय के पास), इलोरा (हैदराबाद), एहोल (बादामी ताल्लुका), चांदवड (नासिक), सित्तन्ववासल (पड्डुक्कोटा) आदि की प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। अनेक वर्तमान लेखकों को जैन मूर्तियों के लक्षण, चिह्न और परिकरों का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण भ्रामक मान्यताओं के उल्लेख का दोषी होना पडता है। लाहौर से प्रकाशित, श्री भट्टाचार्य लिखित जैन आइकोनोग्राफी में ऋषभनाथ का चित्र दो बार छपा है और बैल का चिह्न होते हुए भी मूर्ति को महावीर की मूर्ति लिखा है। प्रयाग संग्रहालय के विवरणों में पार्श्व के यक्ष को गणपति मानकर लिखा है कि जैनियों में गणेशजी की पूजा होती है। त्रिपुरी (मध्यप्रदेश) में एक मूर्ति के परिकर में दो युगल मूर्तियों को देखकर एक विद्वान ने लिखा है कि यह अशोक की सन्तान संघमित्रा और महेन्द्र की मूर्तियाँ हैं, जब कि मूल मूर्ति नेमिनाथ की है, जैसा कि शंख चिह्न से लक्षित है। वास्तव में परिकर की मूर्तियाँ अम्बिका और गोमेध यक्ष की हैं।

दूसरी बात जिसकी और मैंने प्रस्तावना के प्रारम्भ में संकेत किया है, वह है हमारे पुरातत्त्वों और कलाकृतियों की हृदयहीन उपेक्षा। “खंडहरों के वैभव” में लेखकने विशेषकर मध्यप्रदेश के पुरातत्त्वों का ही वर्णन किया है, जिन्हें उसने अपने पैदल भ्रमण में स्वयं देखा है। किन्तु इतने सीमित प्रदेश की यात्रा में प्रायः पग-पग पर उसने इस ‘वैभव’ की जो दुर्गति देखी, उसे पढकर हृदय विकल हो उठता है। देखिये कितने भयानक है यह चित्र :-

१. यह पौनार है, (पवनार-प्रवरपुर-वर्धा के पास) महाराज प्रवरसेन का बसाया हुआ जो किसी समय मध्यप्रदेश की राजधानी रहा होगा। पुराने इतिहास को छोड़िये। यही पौनार है जहाँ आचार्य विनोबा भावेने महात्मा गांधी के आदेशानुसार पहली बार व्यक्तिगत सत्याग्रह को क्रियात्मक रूप दिया था।



इस पौनार में लेखक ने १९४३ में १४वीं शताब्दी का एक शिलालेख पढ़ा था जो विशेष ऐतिहासिक महत्व का था और जो इतिहास की किसी गुत्थी को सुलझाने में सहायक हो सकता था। उस समय जिस व्यक्ति के पास वह लेख था, उसने किसी तरह भी वह नहीं दिया। १९५१ में लेखक जब पुनः गये तो मालूम हुआ वह लेख किसी मकान की दीवार में पत्थर की जगह लग गया है। इतिहास के अक्षर लोप हो गये !!

२. यह **केलझर** है, पौनार से १० मील दूर। यहाँ कई स्तम्भ हैं। और यह एक खंडित-सा स्तम्भ है जिस पर अखण्डित समवसरण चित्रित है-इतना सुंदर और भव्य कि लेखक ने आज तक ऐसा समवसरण खुदा हुआ नहीं देखा। इस स्तम्भ पर जिस किसान का दावा है, वह रोज ढेर के ढेर कंडे इस पर सुखाता है। यहाँ इतिहास की लिपि पर गौबर की कला का लोप हो रहा है। क्षितिज पर लोप उग रहा है।

३. यह **नागरा** है, भंडारा जिले में। १९४२ में लेखक वहाँ गये तो एक मूर्ति पर १५ पंक्तियों का लेख मिला, जिसके ऐतिहासिक महत्व से प्रभावित होकर उन्होंने इसे नकल कर लिया। मूर्ति की व्यवस्था ठीक न हो सकी, क्योंकि वह मूर्ति किसानों के लिए बड़े काम की थी। वह उस पर औजार तेज करते थे। सन् १९५१ की यात्रा में पाया कि वह मूर्ति किसी महंत की समाधि में खण्ड-खण्ड होकर काम आ गई। इतिहास की आत्मा शस्त्रों की धार पर समाधि में विलीन हो गई। अब केवल इतिहास का भूत मुनिजी के कागज में चिपटा बैठा है !

४. यह **पद्मपुर** है, गोंदिया तहसील में-महाकवि भवभूति की जन्मभूमि ! यहाँ खेत-खेत में जैन-मूर्तियां मिलती हैं। इतिहास खेतों में बो दिया गया है। ध्वंस की फसल लहलहा रही है।

५. यह **डोंगरगढ** है, सचमुच दुर्गमगढ ! यहाँ की मूर्तियाँ उपकरणों के लालित्य के कारण बड़ी सुंदर और अद्वितीय हैं। संतोष की बात हो सकती थी कि यहाँ इन मूर्तियों की पूजा होती है। पर लज्जा की बात है कि अहिंसा के अवतार, जैन तीर्थंकर की मूर्ति के आगे पूजा के दिनों में आज भी बकरी का बच्चा जीवित गाड़ा जाता है। यहाँ इतिहास पूजता है !

६. यह **जसो** है, विन्ध्यप्रदेश की प्रसिद्ध पुरातत्त्वभूमि। इसकी मुख्यता यह है कि इसे “जैन मूर्ति का नगर” कहा जाता है। बड़े काम की है ये



मूर्तियाँ । इन मूर्तियों की बड़ी सुन्दर सीढियाँ बनती है । और वह देखिए, तालाब पर हर धोबी का हर पाट चिकना-चिकना, मजबूत-मजबूत इन्हीं मूर्तियों का बना है । और, सुनिए मुनिजी की बात । कहते हैं-“किसानों के शौचालय से एक दर्जन मूर्तियाँ मैंने उठवाई ।” जसो की बात मैं कह रहा हूँ । इसी जसो में एक तालाब है । इसी जसो में एक राजा साहब थे, उन राजा साहब का एक हाथी था । एक दिन वह बेचारा हाथी मर गया । दूर कहाँ ले जाते, तालाब के किनारे गाड़ दिया । जहाँ गाड़ा वहाँ एक गढा रह गया । बेचारे राजा साहब क्या करते ? उन्होंने ने हुक्म दिया-‘कोई हर्ज नहीं यह बेकार मूर्तियाँ जो पड़ी हुई है, सब लाकर इस गढे में भर दो । मूर्तियाँ गढे में भर दी गई । जसो में इतिहास की उपयोगिता है, यहाँ इतिहास को जस मिलता !

७. यह **बहुरीबंद** है, जबलपुर से ४२ मील उत्तर की ओर । यहाँ “खनुवादेव” का निवास है । खनुवादेव की मूर्ति श्याम पाषाण की है । खूब, १३ फूट उंची । भव्य ! निःसंदेह भव्य ! ! यहाँ के हिंदु ‘खनुवादेव’ को इसलिए पूजते हैं कि यह काबू में रहे और डर के मारे सुविधाएं देते रहें । ‘खनुवादेव’ सुविधाएं देते हैं, क्योंकि वह डरते हैं । वह डरते हैं क्योंकि वह हर आते जाते के हाथ जूतों से ‘पूजते’ हैं । भगवान शान्तिनाथ की इस मूर्ति के पारखियों ने पुरातत्त्व विभाग से लिखापढी की; ‘आंदोलन’ भी किया; पर ‘खनुवादेव’ की यह पूजा बंद न हो सकी । पूजा के मामले में सरकार हस्तक्षेप नहीं करती ! हमारा राज्य स्वतंत्र है, हमारा राज्य ‘सैक्युलर’ है; हम इतिहास की रक्षा करते हैं !

लीजिए, एक और सुन लीजिए । प्रत्यक्ष लेखक के ही शब्दों में **रोहणखेड** (मध्यप्रदेश) की घटना :-

८. “मेरे सम्मुख ही एक संन्यासी जो वहाँ के बालाजी के मंदिर में रहते थे और मुझे पुरातन अवशेष बताने चले थे, लट्ट से दक्षिण की खड्गासन जैन प्रतिमा के मस्तक को धड़ से अलग कर प्रसन्न हुए ।” जी हाँ, आपने ठीक पढ़ा है - “धड़ से अलग कर प्रसन्न हुए !”

यह **रोहणखेड** है । यहाँ संन्यासी प्रसन्न होता है, और इतिहास फूट-फूटकर विलखता है ! इस प्रसंग का और आगे बढ़ना ठीक नहीं । इतना हमें यह समझने के लिए पर्याप्त होना चाहिए कि जिस इतिहास की सृष्टि करके हमारे देशने अपना ही नहीं मानव जाति का मस्तक उंचा किया था, उसे हम



पैरों तले रौंदकर नष्ट कर रहे हैं। हम करते हैं। अनार्योंने, म्लेच्छोंने, मुसलमानोंने भारतीय मूर्तिकला की उच्चतम अभिव्यक्तियों को नष्ट कर डाला। अब जब हम यह बात कहें तो हमें पौनार का, कैलझर का, नागरा का, पद्मपुर का, डोंगरगढ का भी ध्यान जाना चाहिए। हमें जसो के विगत महाराज और रोहणखेड के संन्यासी को भी इसी सूची में याद कर लेना चाहिए। अपनी-अपनी शक्ति भर हम इन कला कृतियों को इन अज्ञानियों और असहिष्णुओं के हाथ से बचायें, इस तरह जैसे हम सम्पत्ति की रक्षा करते हैं।

‘खंडहरों का वैभव’ प्रकाशित करके भारतीय ज्ञानपीठ पाठकों का ध्यान भारतीय पुरातत्त्व की गरिमा और सुरक्षा की आवश्यकता की ओर प्रकर्षित करना चाहता है। पुस्तक का विषय गंभीर है, भाषा भी तदनुकूल गंभीर मालूम होगी। पर, जो पढ़ने और समझने की चीज है उसे मन लगाकर पढ़ना ही चाहिए। राष्ट्रों का निर्माण ज्ञान के प्रति इतना श्रम तो चाहता ही है।

पुरातत्त्व के विषय में प्रत्येक लेखक सावधानी से लिखने का प्रयत्न करता है, पर विस्मृत अतीत को अंधकार से निकालकर पढ़ने में अनुमान के धुंधले प्रकाश में काम चलाना पड़ता है। सतत अनुसन्धान ही निश्चयात्मक ज्ञान-ज्योति देता है। अनुसन्धान सम्बन्धी ऐसी पुस्तकों को पाठकों से आदर मिले तो पुरातत्त्व के विद्वान् अपने लिए अधिकाधिक प्रेरित हों। “ज्ञानपीठ” अपनी सेवा की अंजलि चढ़ा रहा है।

खण्डहर दर्शन

भारतवर्ष का सांस्कृतिक वैभव खण्डहरों में बिखरा पड़ा है। खण्डहर मानवता के भव्य प्रतिक हैं। भारतीय जीवन, सभ्यता और संस्कृति के गौरवमय तत्त्व पाषाणों की एक-एक रेखा में विद्यमान हैं। वहाँ की प्रत्येक कृति सौन्दर्य का सफल प्रतिनिधित्व करती है। जनजीवन का उच्चतम रूप और प्रकृति का भव्य अनुकरण कलाकारों ने संस्कृति के पुनीत प्रकाश में, कला के द्वारा जिस उत्तम रीति से किया है, वही हमारी मौलिक सम्पत्ति है।

खण्डहरों के सौन्दर्य सम्पन्न अवशेष हृदय के तारों को झंकृत कर देते हैं। हृदय में स्पंदन उत्पन्न कर देते हैं। प्रकृति की सुकुमार गोद में पले कलात्मक प्रतीकों के दर्शन से अनिर्वचनीय आनंद प्राप्त होता है। रसपूर्ण आकृतियाँ “रसोऽयमात्मा” की अमर उक्ति पर मुहर लगा देती हैं। आन्तरिक



वृत्तियाँ जागृत हो जाती है और मानव कुछ क्षणों के लिए अन्तर्मुख हो, आत्म दर्शन करने लगता है। आत्मीय विभूतियों के प्रति सम्मान से मस्तक झुका जाता है। जीवन में अदम्य उत्साह छा जाता है। कलात्मक कृति रूपी लता से परिवेष्टित खंडहर, कलाकारों को या दृष्टिसम्पन्न मनुष्यों को नन्दन वन-सा लगता है। वहाँ के कण-कण में संस्कृति और साधना के मौन स्वर गुंजरित होते हैं। एक-एक ईंट व पाषाण अतीत का मौन संदेश सुनाते हैं। वहाँ की मृत्तिका का संसर्ग होते ही मानस पटल पर उच्चकोटि के भाव त्वरितगति से बहने लगते हैं। कलाकार अपने आपको खो बैठता है। उसकी दृष्टि शिल्प गौरव से स्तंभित हो जाती है, जैसे अर्थ गौरव के साहित्यिक की। तन्मयता, वाणीविहीन भाषा का काम करती है। जीवन का सत्य प्राप्त करने के लिए एकाग्रता वांछनीय है।

कलाकार का दृष्टिकोण जितना निर्मल, व्यापक, शुद्ध और बलिष्ठ होगा और जितनी रस-ग्रहण शक्ति तीव्रतर होगी, उतनी ही निकटता का वह पाषाणों से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है व विगत गौरव का रस वहीं चूसता है। देह-गौणत्व ही देही के रहस्य को प्राप्त कर सकता है। वहाँ चक्षुदर्शन महत्व नहीं रखता पर अन्तरदर्शन की प्रधानता रहती है। “ज्योतिः पश्यति रूपाणि” का संचार-साक्षात्कार खण्डहरों में होता है। वहाँ अन्तरमन तृप्त होकर नवीन भावनाओं को जन्म देता है। तभी तो वैभव की झांकी होती है। वहाँ का वैभव प्रेरक होता है।

प्रसंगतः एक बात की स्पष्टता आवश्यक है। वह यह कि खण्डहरों का यथार्थ आनंद और वास्तविक रहस्य प्राप्त करना है, व कलात्मकता के मौलिक भावों को समझना है तो आप जब कभी किसी कलात्मक खण्डहर में जायें तो एकाकी ही जायें। क्योंकि सामूहिक निरीक्षण से खण्डहरों का ऐतिहासिक व कालिक महत्व तो समझा जा सकता है, पर उसकी आत्मा का ज्ञान नहीं होता, न सौन्दर्य का समुचित बोध ही होता है। खण्डहरों की अनुभूति वाणी की अपेक्षा नहीं रखती, वह हृदयस्थ भावों की ब्रह्मांडव्यापिनी कविता है जो चिरमौन में ही अपना और सम्पूर्ण लोक-जीवन का सच्चा परिचय देती है। खण्डहर संस्कृति, प्रकृति और कला का त्रिवेणी संगम है, जहाँ सत्यं शिवं सुन्दरम् का साक्षात्कार होता है। वह साक्षात्कार मस्तिष्क से नहीं पर हृदय से होता है। मस्तिष्क तथ्य तक सीमित रहता है जब हृदय सत्य को खोजता है। अनुभूति का व्यक्तिकरण ही यदि कविता है तो मैं कहूँगा कि साहित्यिक भाषा



में खण्डहर महाकाव्य है ।

अपने विहार में-पाद भ्रमण में जहां मुझे खण्डहर मिल जाते हैं चाहें वे किसी भी सांस्कृतिक परम्परा से सम्बन्धित क्यों न हों-वहाँ मेरी प्रसन्नता का वेग गतिशील हो जाता है । मेरा लेखनकार्य व चिन्तन वहीं पर होता है । मुझे वहाँ प्रेरणा मिलती है । मानसिक शान्ति का अनुभव होता है । आध्यात्मिक भाव जागृत होते हैं । वहाँ पर बिखरे हुए जीर्णशीर्ण-वृटित-अखंडित्व कलात्मक प्रतिकों की भावपूर्ण व सुकुमार रेखाओं में मुझे तो आत्मलक्ष्मी संस्कृति के महान् साधकों का चिंतन परिलक्षित होता है । सर्वांगीण विकसित जीवन तत्त्व और साधना का सत्य, अपेक्षाकृत पुरातन होते हुए भी चिरनवीन तत्त्वों का उत्तम संस्करण ज्ञात होता है । उनके निरपेक्ष सौन्दर्य व शैल्पिक ओज से मैं अनुप्राणित होता हूँ ।

धर्म और कला

भारतीय कला के उज्ज्वल अतीत से अवगत होता है कि उसने धर्म के विकास में महान योग दिया है या यों कहना चाहिए कि सापेक्षतः धर्माश्रित कला का विकास अधिक हुआ है । पुरातन मन्दिर, प्रतिमा आदि उपर्युक्त पंक्तियों के समर्थन के लिए पर्याप्त है । कला ने आध्यात्मिक वृत्ति जागरण में मानवता की जो सहायता की है, वह अनुकरणीय है । भाव जागरण के लिए रूप शिल्प की मानव जीवन में तब तक आवश्यकता है, जब तक वह अप्रमत्त दशा को प्राप्त नहीं हो जाता । वह रूप शिल्प आत्मोत्थान में सहायक भावों का प्रतिबिम्ब होना चाहिए, जिससे अन्तःवाणी के उन्नत आदर्श की पूर्ति हो सके । इस लिए कहा गया है-

दि स्टुडियो आव दि आर्टिस्ट आव टुडे ।

उड्वी टेम्पल आव ह्युमैनिटी टुमारो ॥

उपर्युक्त पंक्तियों से कला की सोद्देश्यता स्पष्ट है । उद्देश्य है मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनाना । धर्म का भी कर्तव्य यही है कि मानवीय गुण के विकास द्वारा आत्मा को निरावृत बनाना । गुण विकास और साधना में साधक तत्त्वों का पुष्टीकरण कला के द्वारा होता है । सम्पूर्ण भारत में धर्म-मूलक जितनी भी उत्कृष्ट कलाकृतियां खंडहरों से उपलब्ध की जा सकती हैं और कितनी ही आज भी उपेक्षा के कारण दैनन्दिन नष्ट हो रही हैं । उन सबका



सीधा सम्बन्ध धर्म या लोकोत्तर जगत से होते हुए भी, उनका लौकिक महत्व किसी भी दृष्टि से अल्प नहीं। आत्मस्थ सौन्दर्य को उद्बुद्ध करने में निमित्त होने के कारण तथाकथित कृतियाँ या पार्थिव आवश्यकताओं में जन्म लेनेवाली कला भौतिक होते हुए भी आध्यात्मिक कोटि में ही आती है, किन्तु उनसे हमारे पूर्वकालीन लोकजीवन एवं नृतत्व शास्त्र पर जो प्रभाव पड़ा है वह अध्ययन की मूल्यवान् सामग्री है। तात्पर्य कला में जीवन के उभयपक्षों का अनुपम विकास स्पष्ट है।

दृष्टिकोण

किसी भी वस्तु विशेष को देखने-परखने का प्रत्येक व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण होता है। वस्तु का महत्व भी दृष्टिपरक होता है। सौन्दर्य-दृष्टिहीन हृदय अत्युच्च कलाकृति पर आकृष्ट नहीं होता। पर सौन्दर्य-दृष्टि-सम्पन्न कलाकार टूटी-फूटी कलाकृति या खण्डहर पर न केवल मुग्ध ही हो जाता है, अपितु उसकी गहन गवेषणा में अपना समस्त जीवन समर्पित कर देता है। जिस प्रकार दार्शनिक परिभाषा में नित्यानित्य पदार्थ विज्ञान की सुदृढ परम्परा विकसित हुई है, ठीक उसी प्रकार सौन्दर्य-दर्शन के उपकरणों को लेकर विभिन्न परम्पराओं का उद्भव हुआ है-होता रहता है। अमुक वस्तु में ही सौन्दर्य है या अमुक प्रकार का उपादान ही सौन्दर्य व्यक्तिकरण के लिए उपयुक्त है ऐसा एकान्त नियम नहीं है। न कला के व्यापक क्षेत्र में ऐसे एकान्तवाद की कल्पना ही सम्भव है। वह तो अनेकान्तवाद की सुदृढ शिला पर आधृत है। तात्त्विक दृष्ट्या सौन्दर्य वस्तुगत न होकर व्यक्तिगत है। हृदयहीन सौन्दर्य-संपन्न वस्तु से आनन्द नहीं पा सकता और लौकिक दृष्टि से उपेक्षित, खंडित सौन्दर्य-विहीन वस्तु से भी दृष्टि-सम्पन्न मानव आनन्दानुभव कर सकता है। आत्मस्थ सौंदर्य, समुचित चित्तवृत्ति एवं अन्तर दृष्टि के विकास पर ही पार्थिव सौन्दर्य दर्शन निर्भर है।

शिल्पी या कलाकार के अनवरत श्रम और उदात्त विचार परम्परा का मूल्यांकन हृदय ही कर सकता है न कि अर्थ या मस्तिष्क। जहाँ शिल्पी की हृदयगत भावना सुकुमार रेखाओं में प्रवाहित होती है, वहाँ अर्थ गौण हो जाता है। कलाकृति देखते ही कला समीक्षक कलाकार की सराहना करता है न कि उस लक्ष्मीपुत्र की जिसने भव्य कृति सृजित करवाई। आज अनगढ़ कृति को देखकर भी हमारे हृदय में इसलिए क्षोभ उत्पन्न नहीं होता कि हम में यह दृष्टि

ही कहाँ जो दिर्घकालव्यापी साधना के श्रम का उचित मूल्यांकन कर सके । पुरातन कलाकृति को देखकर तात्कालिक नैतिक चरित्र का और पूर्व परम्परा का कला में जो विकास हुआ है, उस पर विचार करनेवाले हैं कितने ? भावना को भावना ही हृदयंगम कर सकती है न कि शुष्क विचार ।

पुरातत्त्वान्वेषण

खण्डहर दर्शक का मानसिक स्तर अध्ययन की दृष्टि से बहुत ही उच्च कोटि का होना चाहिए । तभी वह वहाँ बिखरे हुए सांस्कृतिक वैभव की झांकी पा सकेगा । पुरातत्त्वान्वेषण में अभिरुचि रखनेवाले व्यक्ति का इन निम्नलिखित विषयों का गंभीर अध्ययन व मनन होना चाहिए—

खंडहरों से केवल शिल्पावशेष ही प्राप्त होते हैं ऐसी बात नहीं । कभी ताम्र व शिलोत्कीर्ण लिपियाँ, मुद्राएँ, प्राचीन शास्त्रास्त्र, आभूषण, भाजन तो कभी ग्रन्थस्थ वाङ्मय भी निकल पड़ता है । भूगर्भ से किसी भी प्रकार की वस्तु निकलती है उसकी रक्षा के प्रयत्न, प्राप्त साधन-सामग्री के आधार पर ऐतिहासिक व सांस्कृतिक तत्त्वों की गवेषणा एवं कला व सभ्यता के क्रमिक विकास की मौलिक परम्पराओं का व्यवस्थित अध्ययन करना आदि समस्त कर्तव्यों का अन्तर्भाव पुरातत्त्वान्वेषण में होता है ।

१. शिल्पस्थापत्य - प्राकालीन इमारतों की निर्माण शैली और उनमें विकसित कला का अभ्यास करना और प्राचीन शिल्प-स्थापत्य पर प्रकाश डालनेवाले साहित्यिक ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन व मनन करना । अध्ययन करते समय इस बात का भलीभाँति ध्यान रखना चाहिए कि ग्रन्थस्थ शिल्प-परम्परा, कला द्वारा पत्थर, काष्ठ व अन्य धातु पर कहाँ तक सफलतापूर्वक अवतरित हो सकी है । एवं उसमें कलाकारों ने कौन-कौन से सामयिक परिवर्तन किये हैं । ऐसे शिल्प प्रतीकों से संस्कृति और सभ्यता के क्रमिक विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र एवं फरगुसन, विन्सेन्ट स्मिथ, डॉ. कुमारस्वामी, बर्जेस व कनिंघम आदि विद्वानों के साहित्य परिशीलन पर उपर्युक्त दृष्टि का विकास हो सकता है ।

२. मूर्ति-शास्त्र - भूमि से प्राप्त या अन्य किसी स्थान से उपलब्ध जैन, बौद्ध और हिन्दु-धर्म सम्बद्ध प्रतिमाओं का सशास्त्र अध्ययन । कलाकार को उक्त विषय का जितना सूक्ष्म ज्ञान होगा उतना ही वह अन्वेषण के क्षेत्र में यशस्वी होगा । अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण कभी-कभी ख्याति प्राप्त



पुरातत्त्ववेत्ता भयंकर भूल कर बैठता है। खंडहरों के वैभव में ऐसी भद्दी भूलों का परिमार्जन किया गया है। मूर्तिशास्त्र का अध्ययन तुलनामूलक होना चाहिए। प्रान्तीय प्रभावों पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है।

३. उत्कीर्ण व उठे हुए - लेख भी खंडहरों से या कभी-कभी खेतों में प्राप्त होते हैं। इनको पढ़ने के लिए और बिना कालसूचक लेखों के समयादि स्थिर करने के लिए एवं तद्गत ऐतिहासिक तत्त्व प्राप्त्यर्थ पुरातन लिपियों का गंभीर सक्रिय अध्ययन वांछनीय है। बिना लिपिज्ञान के कलाकार अपनी साधना में सफल न हो सकेगा। मान लीजिए, कभी आप किसी खंडहर में निकल गये, वहाँ एक लेख पर आपकी दृष्टि पड़ी, किंतु लिपि विषयक आपका ज्ञान सीमित है, आप उसे नहीं पढ़ सकते हैं, न आपके पास केमरा है। पर पुरातत्त्व में रुचि रखने के कारण जिज्ञासा अवश्य ही होती है कि इसमें क्या है। उस समय मन में बड़ा उद्वेग होता है। यदि इस आकस्मिक प्राप्त सामग्री की उपेक्षा करते हैं तो वह शिला ग्रामीण द्वारा भंग व चटनी पीसने के निमित्त उठवा ली जाती है, बहुधा ऐसा हुआ है। इस समस्या को हल करने के लिए स्वर्गीय पुरातत्त्वज्ञ बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर द्वारा एक प्रयोग मेरे ज्येष्ठ गुरुबन्धु मुनि श्री मंगलसागरजी को प्राप्त हुआ था जो इस प्रकार है -

ढाई तोला स्वच्छ मोम में डेढ़ तोला काजल मिलाया जाय, उष्ण करके मथा जाय, तदनन्तर मोटी पेन्सिल के समान डंडाकृति में ढालकर ३६ घंटे पानी में भिगा दिया जाय, आवश्यकता पड़ने पर इस प्रकार व्यवहार में ला सकते हैं। पतला कागज लेख के उपर जमा लें, एक ओर से पूर्व निर्मित पेन्सिल कागज पर आहिस्ता आहिस्ता घिसी जाय। लिपि स्थान श्वेत हो जायगा और कागज श्याम। समझिए लेख की प्रतिलिपि आप प्राप्त कर चुके। फोटोग्राफ की अपेक्षा इस पर से ब्लॉक भी बहुत साफ बनता है।

४. मुद्रा-शास्त्र - पुरातन खंडहरों से मुद्राएं भी प्राप्त होती हैं। खंडहरों के निकट भरनेवाले साप्ताहिक बाजारों में कभी-कभी पुरातन मुद्राएँ उपलब्ध हो जाती हैं। व्यापारी उन्हें गलाकर रजत या स्वर्ण प्राप्त कर लेते हैं।

१. मैंने मध्य प्रान्त के कई नगरों में देखा है और सिवनी में श्रीयुत धन्नीलालजी चुन्नीलालजी नाहटा और मालू खुशालचंदजी के पास ऐसी सिक्कों की पर्याप्त सामग्री अनायास ही एकत्र हो गई है। प्रसन्नता की बात है कि वे स्वर्ण-लोभ से पुराने सिक्कों को न गलाकर सुरक्षित रखते हैं। मुझे भी कुछ मुद्राएँ आपने महाक्षत्रप रुद्रदामन की प्रदान की थीं, जो धनसौर, लखनादौन व छपारा से प्राप्त हुई थीं। आज भी चातुर्मास के बाद कभी-कभी निकल पड़ती हैं।



पर कलाकार को चाहिए कि मुद्राशास्त्र का व्यवस्थित अध्ययन करें एवं तदुपरि उत्कीर्णित लिपियों में राजा महाराजादि का अन्यान्य साधनों द्वारा अस्तित्वकाल प्रकट करें। मुद्राएँ इतिहास की सर्वाधिक विश्वस्त सामग्री है और हमारी संस्कृति का मौलिक विकास किसी-किसी मुद्राओं में बहुत स्पष्टतः परिलक्षित होता है। मुद्राशास्त्र केवल आंग्ल परम्परा की देन नहीं है पर १४वीं शदी में इसके अध्ययन का सूत्रपात हो चुका था। ठक्कुर फेरुने^१ द्रव्यपरीक्षा नामक स्वतंत्र ग्रन्थ ही मुद्राशास्त्र पर वि.सं. १३७५ में प्रस्तुत किया था। प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों में आनेवाले मुद्रा के उल्लेखों को न भूलें।

५. ग्रन्थ-साहित्य - मेरा तात्पर्य प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ व दस्तावेजों से है। मेरा अनुभव है कि इतिहास और कला के क्रमिक विकास पर प्रकाश डालनेवाली जो सामग्री स्वतंत्र ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होती वह पुराने ज्ञानभंडारों के फुटकर पत्रों में मिल जाती है। जैन इतिहास का जहाँ तक प्रश्न है मैं विनम्रतापूर्वक कहना चाहूँगा कि इसकी प्रचुर सामग्री फूटकर पत्रों में बिखरी पड़ी है। समाज की असावधानी से दैनन्दिन दिमकों के उदर में इतिहास समाता जा रहा है।

६. अतिरिक्त वस्तु निरीक्षण - इस विभाग में सूचित सामग्री का अध्ययन विशेष रूप से अपेक्षित है। यद्यपि वर्ण्यवस्तु सामान्य-सी ज्ञात होती है पर बीना इस पर समुचित अध्ययन किये कलाकार की दृष्टि पूर्ण नहीं होती न निरीक्षण शक्ति का ही विकास होता है। आज के वैज्ञानिक-शोध-प्रधान युग में खंडहरों के अन्वेषण में रुचि रखनेवाले विद्यार्थीयों को भूगर्भ-शास्त्र का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। बिना इस ज्ञान के न तो खुदाई की जा सकती है और न उसमें पायी जानेवाली वस्तुओं का काल निर्देश ही। एक ही खंडहर की खुदाई में कभी-कभी भिन्नकालीन वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं, जिनकी आयु खंडहरों से कई वर्ष पूर्व की भी संभव है। दीवाल के थरों में भी अलग-अलग शताब्दियों की मृत्तिका व भवन निर्माण शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। खुदाई करवानेवाला यदि सावधानी से कार्य न करेगा तो एक स्थान पर विभिन्न सभ्यताओं के सांस्कृतिक परिज्ञान से वंचित रह जायगा। खुदाई में निकलनेवाले सुलेमानी मन के, प्राचीन शस्त्रास्त्र, पुराने कलापूर्ण बरतन, शिरस्त्राण, आभूषण और बालकों के खिलौने आदि मृण्मूर्तियाँ वगैरह अनेक

१. विशेष के लिए देखें “ठक्कुर फेरु और उनके ग्रन्थ” शीर्षक मेरा निबंध विशाल भारत जून-जुलाई १९४५।



प्रकार का सामान निकलता है। कभी-कभी एक ही वस्तु ऐसी निकल पड़ती है जो इतिहास पर गहरा प्रकाश डालती है। इन समस्त विषयों का परिज्ञान सुयोग्य शोधक के चरणों में बैठकर प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि कलाकार नृत्य शास्त्र की उपेक्षा न करें, क्योंकि मानव जाति की विभिन्न परंपराओं का भौतिक इतिहास भी इन कृतियों को समझने में सहायक होता है।

७. इतिहास, सभ्यता और संस्कृति - का गंभीर व तुलनात्मक अध्ययन नितान्त अपेक्षित है, यही तो वास्तविक चक्षु या प्रेक्षणशक्ति का मूलस्रोत है। राजनैतिक और भौगोलिक इतिहास व संस्कृति का समुचित ज्ञान न हो तो उपकरणाश्रित सभ्यता को आत्मसात् करना असंभव हो जायगा। इतिहास के द्वारा ही तो कला में कलाकृत विभाजन संभव है। समय-समय पर सामाजिक परिवर्तन के कारण सभ्यता पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका वास्तविक ज्ञान उपर्युक्त अन्वेषण पर अवलंबित है। आवश्यकीय शास्त्रीय व पारंपरिक अनुभवमूलक ज्ञान के अतिरिक्त पुरातत्त्व विभाग व प्राच्य विद्या सम्मेलन के वार्षिक वृत्तांत एवं साहित्य, संस्कृति और कला पर अधिकारी विशिष्ट विद्वानों के निबंधों का मनन भी आवश्यक है। अध्ययन जितना क्रियात्मक होगा कलाकार उतनी ही गवेषणा में सफलता प्राप्त कर सकेगा।

मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व

“खंडहरों के वैभव” का मुख्य भाग मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व से संबद्ध है। मध्यप्रदेश ऐसा भू-भाग है, जहाँ संस्कृति के मुख को उज्ज्वल करनेवाली विपुल कलात्मकराशि के रहते हुए भी शोधकों की दृष्टि से अद्यावधि उपेक्षित ही रहा है। जनरल कनिंघम और राखालदास बनर्जी, डॉ. हीरालाल आदि कुछ विद्वानोंने अपने संस्कृतिपरक ग्रन्थों में प्रसंगतः प्रांत की कलात्मक संपत्ति का उल्लेख किया है; किंतु उसकी व्यापकता को देखते हुए वह नगण्य है। जिन्होंने स्वयं अरण्य व खंडहरों में भ्रमणकर एतद्विषयक अनुभव प्राप्त किया है, उनका मत है कि जितनी गवेषणा हो चुकी है और उनका जो महत्व पुरातत्त्वविभाग द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है, उससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण व सौंदर्यसंपन्न साधन आज गवेषणा की प्रतीक्षा में है। मध्यप्रांत में एक नहीं पर दर्जनों ऐसे खंडहर विद्यमान हैं व उनमें ऐसी-ऐसी कला संपन्न सामग्री सुरक्षित है जहाँ पुरातत्त्वविभाग के उच्च वेतनभोगी कर्मचारी नहीं पहुँच सके हैं। ऐसी



स्थिति में उनकी रक्षा का उल्लेख ही व्यर्थ है। स्वतंत्र भारत की सरकार क्या इन अवशेषों की रक्षा के लिए सक्षम नहीं है ?

मध्यप्रदेश

मैंने अनुभव किया कि जिस अवशेषों को, जिन खंडहरों में प्रथम यात्रा में मैंने देखा था वे दूसरी यात्रा में दृष्टिगोचर नहीं हुए। इनमें से कुछ-एक जनता द्वारा नष्ट कर दिये गये, एवं कथित कलाप्रेमी ग्रामीणों की आंखें बचाकर उठा ले आये और कभी-कभी सरकारी अफसर मनपसन्द कला-कृतियाँ अपने ड्राईंग रूम को सजाने के लिए उठा ले आये। जनरल कर्निघम ने बहुत से ऐसे अवशेषों का वर्णन अपनी रीपोर्ट में किया है जिनका पता डॉक्टर हिरालाल को न लग सका और डॉ. हिरालाल व श्री राखालदास बनर्जी ने जिन मूल्यवान कलात्मक प्रतिमाओं की चर्चा अपने ग्रंथों में की है, उनमें से बहुसंख्यक मूर्तियाँ सूचित स्थानों पर मुझे दृष्टिगोचर नहीं हुईं, संभव है जिन कृतियों का उल्लेख मैंने अपने “खंडहरों के वैभव” में किया है वे भी शायद कुछ वर्षों के बाद न रहें इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है।

उपेक्षा

जो मूल्यवान साधन नष्ट हो गये हैं, गिट्टी बन सड़कों पर बिछ गये, मकानों की नीवों में मर गये, उनकी चर्चा अब व्यर्थ है। यदि विगत अनुभव से प्रान्तीय कलाकार व शासनने लाभ नहीं उठाया तो अवशिष्ट सामग्री से भी वंचित रहना पड़ेगा। पुरातन वस्तु या पुरातन प्रतिमाओं को नष्ट करने के सैकड़ों प्रयोगों में से एक के उल्लेख का लोभ संवरण नहीं कर सकता। दक्षिण कोसल में आदिवासियों में मोहिनी की पुडिया खूब प्रसिद्ध है। इसे बेंगा (आदिवासी समाज का पुरोहित) नवदंपति को पारस्परिक स्नेहसंवर्धन व सौंदर्य परिवर्द्धनार्थ प्रदान करता है। प्राचीन मूर्तियों का मुखसौंदर्य अनुपम रहता है। ऐसी मूर्तियों के मौखिक सौंदर्यवाले स्थान को बारीक छेनी से खरोच लिया जाता है। पपडियों का चूर्ण ही मोहिनी की पुडिया है, बेंगा और समाज के सदस्यों का मानना है कि इसे लगाने से मूर्ति के समान अपना भी मुखमंडल सौंदर्य से उद्दीपित हो उठता है। इस अंधपरंपरा ने सहस्राधिक मूर्तियों के सौंदर्य का निर्दयतापूर्वक अपहरण किया। इस प्रकार कला के महत्व को न जाननेवाले वर्ग की ओर से भयंकर आघात, इन संस्कृति के मूक प्रतीकों



को सहना पड़ता है ।

आज प्रांत में ऐसा कलाकार नहीं जो शोध की साधना में अपने आपको खपा दे । पुरातत्त्वविभाग भी पूर्णतया उदासीन है, वेतनभोगी, कर्मचारी के पास उतना समय नहीं कि वह खंडहरों में पथराये हुए प्रत्येक प्रतीक की अन्तरध्वनि सुन सके । प्रांतीय शासन की उपेक्षापूर्णनीति तो बहुत ही खलती है, न तो शासन ने कभी स्वतंत्र रूप से एतद्विषयक अन्वेषण प्रारंभ किया एवं न स्वतंत्र कार्य करनेवाले कलाकारों को प्रोत्साहित ही किया । हाँ, सांस्कृतिक व लोककल्याण की पारमार्थिक भावना से उत्प्रेरिक होकर कार्य करनेवालों के बीच रोडे अटकाने का कार्य अवश्य किया । उन पर धृणित आरोप लगाने में शासन के जी-हुजूरियों को तनिक भी संकोच नहीं हुआ । ऐसा लगता है कि शोध विषयक कार्य शासन को सुहाता नहीं है ।

महाकोसल के जैन पुरातत्त्व पर नवीन प्रकाश

कला और संस्कृति के विकास में युग का बहुत बड़ा साथ रहता है । सूचित प्रदेश के जैन पुरातत्त्व पर यह पंक्ति सोलहों आने चरितार्थ होती है ।

खंडहरों के वैभव में पृष्ठ १३१ से १८४ में महाकोसल के जैन पुरातत्त्व पर प्रकाश डाला गया है, किंतु उल्लिखित प्रकाश विषयक फर्में छपने के बाद मुझे महाकोसल के नवीन खंडहरों की यात्रा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ । मूक विषय से संबंध होने के कारण उपलब्ध नवीन तथ्यों का उल्लेख आवश्यक हो गया ।

पृष्ठ १६५ में सूचित किया जा चुका है कि महाकोसल में प्राचीन स्थापत्य विषयक जैन खंडहरों में आरंग का ही एक मंदिर है किंतु अब मैं संशोधन करता हूँ । उपर्युक्त मंदिर की कोटि के दो और मंदिरों का अस्तित्व पनागर व बरहटा में पाया गया है निःसन्देह यह दोनों मंदिर न केवल स्थापत्य-कला के भव्य प्रतीक ही हैं अपितु कुछ नवीन तथ्यों को लिये हुए हैं । बरहटा का मंदिर संपूर्ण महाकोसल के मंदिरों का सफल प्रतिनिधित्व करता है । वहाँ की अति विशाल जैन-मूर्तियाँ पांडवों के नाम से आज भी पूजी जाती हैं । संस्कृति प्रकृति और कला के संगम स्थान बरहटा में १५० से अधिक व अत्यल्प खंडित तीर्थंकरों के ये प्रतीक सरोवर के धोबी-घाटों में लगे हुये हैं । कुछ-एक मूर्तियों को उलटाकर चटनी व भंग पीसने में प्रयुक्त होती है । कलचुरियों के समय बरहटा जैनधर्म व संस्कृति का महाकेन्द्र था । वह आज



यह उपेक्षित अरक्षित व समाज द्वारा विस्मृत खंडहर मात्र रह गया है ।

पनागर (जिला होशंगाबाद) दूधी नदी के किनारे बसा हुआ है । इसी नदी के तट पर अतिविशाल व सुंदर कोरणी युक्त जैनमंदिर था जो अभी-अभी मिटा है । एक ही इस मंदिर के संपूर्ण अवशेष यत्रतत्र १२ मिल की परिधि में छाये हुये है । किंतु मंदिर का व्यास रिक्त स्थान से आंका जा सकता है । मंदिर में से यों तो ५० प्रतिमाएं उपलब्ध हुई थीं, सब लेखयुक्त थीं । सलेख मूर्तियों की सामूहिक उपलब्धि पनागर को छोड़कर अन्यत्र महाकोसल में कहीं नहीं हुई । संपूर्ण लेख तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से संबद्ध है । महाकोसल की मूर्ति-निर्माण कला पर इन लेखों से कुछ प्रकाश पडता है । उपलब्ध लेख ये हैं-

प्रतिमा १८ X १८ इंच

१. “संवत् १२४४ फाल्गुन सुदि ४ गुरौ उ..... सवाल्यवये साधु देह सुत साधु तोहट भार्या साकसीया प्रणमिन्ति नित्यं ॥”

प्रतिमा १९ X २० इंच

२. १॥ संवत् १२६८ वर्षे वैसाष शुदि १० रवौ आचार्य स्त्री स्नुत (श्रीश्रुत) कीर्ति गुरुप्रदेशेन साह पाल्ह भार्या श्रामिलि ललिया सुत साधु थीरु भार्या वल्हा बल्हासुत महिपति धणपति प्रणमन्ति नित्यं ॥

प्रतिमा २२ X १९ इंच

३. संवत् १२६४ वर्षे वैसाष सुदि १० रवौ गृहपति साधु आसड खेता उसील पितापुत्र प्रणमन्ति नित्यं ॥

४. “नेवान्वये साधु वरणसामि तद्भार्या रत्ना सुत लाषू प्रणमन्ति सं. १२२५” ॥

मूर्तियां स्निग्ध है । मुखदर्शन तो होता ही है साथ ही मौर्यकालीन चमक का आभास भी मिलता है ।

जैन-प्रभाव

महाकोसल में जैनसंस्कृति के व्यापक प्रभाव के कारण हिन्दु और बौद्ध-धर्म की मूर्तियों पर जैनकला का प्रभाव पडा है । बरहटा में खड्गासन में द्विभुजी विष्णु की एक मूर्ति उपलब्ध हुई है, जो ढीमर चौतरे पर पडी है । इसका सिर जैन-मूर्ति के समान मुकुटविहीन है । केश भी वैसे ही गोल गुच्छों



के समान है। जब विष्णु की मूर्ति मुकुटसहित और चतुर्भुजी होती है। ध्यानी विष्णु में भी जैन मूर्ति का ही प्रभाव है।

नोनिया में शंकरमूर्ति पर भी जैन प्रभाव^१ है। शिवमूर्ति में जटा का रहना आवश्यक माना गया है। यही एक ऐसी मूर्ति है जिस पर केश नहीं है और भोलाशंकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े है। पार्वती, नन्दी, कार्तिकेय, शिवगण भी विद्यमान है। पद्मासन और खड्गासन जैन-मूर्ति विधानशास्त्र की मौलिक देन है।

त्रिपुरी की बौद्ध व हिन्दू प्रतिमाओं में ध्यानी मुद्रा व अष्टप्रातिहार्य का क्रमशः अंकन पाया जाता है। जैन मूर्तियों में इनका अंकन सोद्देश्य है। तीर्थंकरों की जीवनी के साथ अष्टप्रातिहार्य का संबन्ध है। पर बौद्ध और हिन्दू-धर्म-मान्यता नेताओं की मूर्तियों में इसका अंकन किसी भी दृष्टि से उचित नहीं। ज्ञात होता है कलाकारों ने इसे भी अन्य कलोपकरणों के समान समझकर खोद देते रहे होंगे।

अश्रुतपूर्व एक प्रतीक

इतिहास के मध्यकाल में संत-परम्परा का प्रभाव बहुत बढ़ चुका था। संत-साहित्य और जीवन में समन्वयवादी भावना मूर्त रूप धारण किये थी। कलात्मक प्रतीक युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। मुझे अपनी खोज में एक प्रतीक ऐसा मिला है जो भारत में अपने ढंग का प्रथम है। संतों को समन्वयवादी साधना का मूर्त रूप कला में व्यक्त करने वाली यह प्रथम कृति है। एक ही प्रस्तर शिला पर जैन, शैव और वैष्णव संस्कृति के प्रतीक खुदे हुए हैं। शिला के मध्य भाग में भगवान भोलाशंकर पद्मासन लगाये बैठे हैं, दोनों और शेषशायी व बांसुरी लिये विष्णु की प्रतिमा उत्कीर्णित है। तन्निम्न भाग में दोनों ओर ५ जिन मूर्तियाँ खड्गासनस्थ विराजमान हैं। शंकर का पद्मासन में बैठना ओर जिनमूर्ति का वैदिक मूर्तियों के साथ अंकित करना यह जैन प्रभाव का प्रमाण है, साथ-साथ समन्वय का कलात्मक प्रतीक भी।

१. सुप्रसिद्ध गवेषक बाबू कामताप्रसादजी जैन के ता. ३०.०४.५३ के पत्र से विदित हुआ की इन्दौर के संग्रहालय में आपने एक ऐसी शिवमूर्ति देखी थी जो बिल्कुल जैन मूर्ति ही लगती थी। उनका मानना है कि भगवान ऋषभदेव को शिवरूप में अंकित किया गया है। संभव है दृष्टि सम्पन्न कलाकार शोध में तन्मय हो जायँ तो ऐसी और भी रचना मिल जाय।



अन्वेषक

यहाँ पर मैं कुछ-कुछ विद्वानों का परिचय दे रहा हूँ जिन्होंने ने प्रान्त के इतिहास व पुरातत्त्व पर आंशिक प्रकाश डालकर अपने गौरव की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा। ऐसे विद्वानों में स्व.डॉ. हीरालालजी का स्थान प्रथम पंक्ति में आता है।

डॉ. हीरालाल - आपने सर्वप्रथम हिन्दी में गजेटियर तैयार किये और प्रान्तीय विद्वानों को इस पुनीत कार्य के लिए प्रोत्साहित किया। इनके व इनकी परम्परा का अनुधावन करनेवाले विद्वत्समाज ने जो गजेटियर तैयार किये उनमें पुरातत्त्व सामग्री का अच्छा संकलन है। मुझे भी अपने अन्वेषणों में उनसे भारी मदद मिली है।

स्पष्ट कहा जाय तो थोड़ा बहुत भी मध्यप्रान्त का गौरव आज विद्वत्समाज में है, वहा डॉ. साहब की शोध के कारण ही। पर खेद की बात है कि वह डॉ. साहब जैसे विद्वान को पाकर भी प्रान्तीय विद्वान उनकी शोधविषयक परम्परा कायम न रख सका। उनके लिखे गजेटियर के परिवर्द्धित संस्करणों का प्रकाशन नितान्त आवश्यक है। डॉ. सा. राष्ट्रकूट व कलचुरियों के माने हुए विद्वान थे।

पं. लोचनप्रसादजी पाण्डेय - आपने मध्यप्रान्त के इतिहास व पुरातत्त्व की महान सेवा की है। जंगलों में घूम-घूमकर लेखों का संग्रह करना, उनका संपादन कर उचित स्थान पर प्रकाशित करवाना, यही आपके जीवन की साधना रही है और आज भी जारी है। महाकोसल के शिला व ताम्रलेखों को आपने योग्यतापूर्वक सम्पादन कर “महाकोसल रत्नमाला” के भागों में प्रकट किया है। आपकी “महाकोसल हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी” (विलासपुर) आज भी शोधकार्य में तन्मय है।

स्व. योगेन्द्रनाथ सील - ये सिवनी के सुप्रसिद्ध वकील व नागरिक थे। आपको प्रान्त “मध्यप्रदेश का इतिहास” के लेखक के नाते ही जानता है। पर आपने जैन पुरातत्त्व और इतिहास की जो मूक सेवा की है, बहुत कम लोगों को ज्ञात है। आपने मध्यप्रान्त के ऐतिहासिक स्थानों को २५ वर्ष पूर्व देखा था, सभी के नोट्स भी आपने लिये थे। इनकी दैनन्दिनी मैंने गतवर्ष उनके सुयोग्य पुत्र श्री नित्येन्द्रनाथ सील के पास देखी थी। इसके प्रकाशन से जैन-पुरातत्त्व की कई मौलिक सामग्री पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ने की संभावना



है। घनसौर की खोज आपने ही की थी, जहाँ ५२ जैन मंदिरों के खण्डहर उन दिनों थे। आज तो केवल पाषाणों का ढेरमात्र है।

इनके अतिरिक्त स्व. यादव माधव काले, ब्यूहार श्री राजेन्द्रसिंहजी, श्री प्रायगदत्तजी शुक्ल, श्री एच.एन. सिंह, डॉ. हीरालालजी जैन, श्री वा.वि. मिराशी आदि सरस्वती पुत्रों ने प्रान्त की गरिमा को प्रकाशित करने में जो श्रम किया है और आज भी कर रहे हैं, उनसे बहुत आशा है कि वे अपने शोध-कार्य द्वारा छिपी हुई या दैनन्दिन नष्ट होनेवाली कलात्मक सम्पत्ति के उद्धार में दत्तचित्त होंगे।

खण्डहरों का वैभव

समय-समय पर लिखे गये पुरातत्त्व व मूर्तिकला विषयक १० निबंधों का संग्रह है। तीन वर्ष से कुछ पूर्व भारतीय ज्ञानपीठ काशी के उत्साही मंत्री बाबू अयोध्याप्रसादजी गोयलीय व लोकोदेय ग्रन्थमाला के सुयोग्य सम्पादक बाबू लक्ष्मीचंद्रजी जैन ने मुझे से कहा था कि मैं उन्हें अपने चुने हुए निबंधों का संग्रह तैयार दूँ। पर मेरे प्रमाद के कारण बात यों ही टलती गई। परंतु श्री गोयलीयजी काम करवाने में ऐसे कठोर व्यक्ति हैं कि उनको टालना, मेरे जैसे के लिए किसी भी प्रकार संभव न था। उनके ताने तकाजे भरे उपालंभपूर्ण पत्रों ने मुझे संग्रह शीघ्र तैयार करने को विवश कर दिया। प्रमाद जीवनोन्नति में बाधक हुआ करता है पर इस वैभव के लिए तो वह वरदान ही सिद्ध हुआ। इसका अनुभव मुझे इन पंक्तियों के लिखते समय हो रहा है।

बात यों है मुझे १९४९ के बाद बनारस से विन्ध्यप्रदेश होकर अपने पूज्य गुरुवर्य श्री उपाध्याय मुनि सुखसागरजी महाराज के साथ पुनः मध्य प्रान्त आना पड़ा। इतः पूर्व १९४०-१९४५ तक हम लोग मध्यप्रान्त के विभिन्न नगर-ग्राम-खण्डहर वनों में विचर चुके थे। उस समय भी मैंने विहार में आनेवाले खण्डहरों और वनों में बिखरे शिल्पावशेषों के यथामति नोट्स लिये थे। कुछ एक का प्रकाशन भी “विशाल भारत” में हुआ था। जब पुनः मध्यप्रदेश आना पड़ा तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। इससे धार्मिक लाभ तो हुआ ही, पर साथ ही तीन लाभ और भी हुए। प्रथम तो विन्ध्यप्रदेश के कतिपय खण्डहरों में बिखरी हुई जैन पुरातत्त्व की सामग्री का अनायास संकलन हो गया। यद्यपि विन्ध्यभूमि का मेरा भ्रमण अत्यन्त सीमित ही था, पर वहाँ जो साधन उपलब्ध हुए वे वहाँ की श्रमणसंस्कृति और कला का भलीभाँति प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।



द्वितीय लाभ यह हुआ कि कटनी तहसील स्थित बिलहरी आदि की सर्वथा नवीन और पूर्णतया उपेक्षित जैनश्रितशिल्प व मूर्तिकला-सम्पत्ति के दर्शन हुए। कलचुरि युगीन जैन मूर्तियों का तब तक मेरा अध्ययन अपूर्ण ही रहता जब तक मैं इन खण्डहरों को न देख लेता; क्योंकि तात्कालिक कला केन्द्रों में बिलहरी का भी स्थान था।

पूर्व निरीक्षित खण्डहरों को पुनः देखने का अवसर प्राप्त हुआ। यद्यपि सम्पूर्ण तो नहीं देख पाया, किन्तु अल्पकाल में सीमित पुनर्विहार से जो सामग्री उपलब्ध हुई उससे महाकोसल के जैन इतिहास और वैविध्य दृष्ट्या जैनमूर्ति कला पर जो नवीन प्रकाश पड़ा उससे मन प्रमुदित हुआ। दो-एक ऐसी कलाकृतियाँ प्राप्त हो गई जो भारत में अन्यत्र अनुपलब्ध है-एक तो स्लिमनांबाद का नवग्रह युक्त जिनपट्टक, दूसरा श्रमण-वैदिक समन्वय का प्रतीक व तीसरा जिनमुद्रा का हिन्दु मूर्तियों पर सांस्कृतिक प्रभाव। यह श्रमण संस्कृति के लिए महान गौरव की बात है।

तीसरा लाभ हुआ पुरातन सर्वधर्मावलम्बी अरक्षित-उपेक्षित कृतियों का संकलन। जिस प्रकार महाकोसल के सांस्कृतिक विकास में १५०० वर्षों से श्रमणपरम्परा ने योग दिया उसी श्रमणपरम्परा के एक सेवक द्वारा विशृंखलित कृतियों का एकीकरण भी हुआ। यह बात मैं विनम्रता पूर्वक ही लिख रहा हूँ। इस संग्रह का श्रेय तो सम्पूर्ण जैन समाज को ही मिलना चाहिए। केवल २ सप्ताह में २५० कलात्मक प्रतीक संग्रहीत हुए जिसमें कुल २०० रु. लगभग व्यय हुआ। मेरे इस संग्रह में कई अनुपम व अन्यत्र अनुपलब्ध कृतियाँ भी सम्मिलित हैं। इनमें से कुछ-एक का परिचय वैभव में आया है।

इस संग्रह के फलस्वरूप स्वतंत्र भारत के प्रान्तीय शासन द्वारा मुझे जो पुरस्कार प्राप्त हुआ, उसका उल्लेख न करना ही श्रेयस्कर है। पर इतना मैं नम्रतापूर्वक कहना चाहूँगा कि किसी अन्य साधन राष्ट्र में ऐसा पुरस्कार किसी कलाकार को प्राप्त होता तो वहाँ की स्वाभिमानी जनता शासन को अपदस्थ किये बगैर न रहती। बात ऐसी हुई कि मुझ में चाटुकारित का बचपन से प्रभाव रहा है और शासन को इस पवित्र सांस्कृतिक कार्य में आवेशयुक्त चिन्तन के कारण, राजनीति की गंध आयी^१। अब भी शासन विवेक से काम

१. पर वास्तविक तथ्यों से भारतीय पुरातत्व विभाग के तात्कालिक प्रधान श्री माधवस्वरूपजी वत्स व उपप्रधान श्री हरगोविन्दलाल श्रीवास्तव (दोनों अवकाश प्राप्त) पूर्णतया परिचित हैं।

लें और आत्म शुद्धि करें। मेरा यह संग्रह “शहीद स्मारक” जबलपुर में रखा जायगा। अच्छा है शहीदों की स्मृति के साथ शासन द्वारा मेरे संग्रह प्राप्ति का इतिहास भी अमर रहे।

खण्डहरों के वैभव में मध्यप्रान्त के जैन, बौद्ध और हिन्दु पुरातत्त्व पर जो सामग्री प्रकट हुई है वह अन्तिम नहीं है, पर भविष्य में की जानेवाली शोध की भूमिका मात्र है। इसमें प्रकाशित निबंधों में मुझे पूर्व प्रकाशित निबंधापेक्षया आमूल परिवर्तन व परिवर्द्धन करना पडा है। और संभव है भविष्य में भी करना पडे। शोध का विषय ही ऐसा है जिसकी चाह नहीं है। पुरातत्त्वान्वेषण में छोटी-छोटी वस्तु भी शोध की दृष्टि से बहुत महत्व रखती है। उसका तात्कालिक महत्व नहीं होता पर किसी घटना विशेष के साथ सम्बन्ध निकल आनेपर वह इतनी महत्वपूर्ण प्रमाणित हो जाती है कि उसके आधार पर प्रकाश तद्विदों को स्वमतपरिवर्तनार्थ बाध्य होना पडता है। मुझे खुदको जैन मंदिरों के नवोपलब्धि के कारण अपना मत बदलना पडा।

इस वैभव में मैंने न केवल खंडहर व वनस्थ कृतियों का समावेश किया है, अपितु जो सजे-सजाये मंदिरों में सौन्दर्यसंपन्न कृतियाँ थी उनका भी उल्लेख किया है^१। क्योंकि मंदिरों में भी जैन पुरातत्त्वान्वेषण की प्रचुर साधन-सामग्री विद्यमान है, पर हमारा कला पर स्वस्थ व स्थिर दृष्टिकोण न होने के कारण उनका महत्व सीमित हो गया है और हम उनमें कला व सौन्दर्य का उचित मूल्यांकन नहीं कर पाते। काश अब भी हम कुछ सीखें।

१. मुझे यहाँ पर एक घटना याद आ जाती है जो मध्यप्रदेश के सुप्रसिद्ध साहित्यिक डॉ. बलदेवप्रसादजी मिश्र से सुनी थी। वे एक बार किसी रेजीडेन्ट को भोरमदेव का मंदिर (कवर्धा) बता रहे थे। उसने डॉ. साहब से प्रश्न किया कि गोंडों का इतिहास गोंडकाल में किसी ने क्यों नहीं लिखा?, मिश्रजी ने कहा कि गोंडकाल में प्रथा थी कि जो सर्वगुणसम्पन्न और सुशिक्षित पंडित होता था उसे गोंडशासक द्वारा विजयादशमी के दिन दन्तेश्वरी के सम्मुख चढा दिया जाता था। ऐसी विकट स्थिति में इतिहास कौन लिखता? इतिहास लिखकर या अपना पाण्डित्य प्रदर्शित कर काहेको कोई जान-बुझकर मृत्यु को निमंत्रण देता। मैं तो किंवदन्ती ही मानता था। उस समय का गोंडवाना आज का महाकोसल हो गया है पर वृत्ति में परिवर्तन तो आज के प्रगतिशील युग में भी अपेक्षित है।

२. मध्यप्रान्तीय जैनमंदिरों में सैकड़ों प्रतिमा लेख भी उपलब्ध हुए हैं। उनमें से मेरे विहार में आनेवाले लेखों का प्रकाशन मेरे “जैन धातु प्रतिमा लेख” में हुआ है।



मध्यप्रान्त की अवलोकित जैनाश्रित शिल्प-सामग्री से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि कलचुरियों को लगाकर आजतक जैनाश्रित कला की लता शुष्क नहीं हुई है। प्रत्येक शताब्दी के जैनमंदिर व मूर्तियाँ पर्याप्त उपलब्ध होती हैं। कई जगह जैन नहीं हैं पर जिन-प्रतीक विद्यमान हैं।

मैं प्रसंगतः एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक समझता हूँ। वह यह कि इसमें प्रकाशित निबंधों में १ व १० को छोड़कर शेष सबमें मैंने अपनी खोज को ही महत्व दिया है। प्रयागसंग्रहालय की जैन मूर्तियों पर यद्यपि श्री सतीशचन्द्रजी काला का भी एक निबंध मेरे अवलोकन में आया है, जिसकी कुछ स्खलनाओं का परिमार्जन मुझे इसी वैभव में करना पड़ा है, जो परिवर्द्धन मात्र है। इतः पूर्व प्रयाग संग्रहालय की जैनमूर्ति पर मेरा निबंध धारावाहिक रूप से, ज्ञानपीठ के मुखपत्र 'ज्ञानोदय'^१ में प्रकाशित हो चुका था। विन्ध्य और मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व की समस्त सामग्री सर्वप्रथम ही समुचित रूप से वैभव में प्रकाशित हो रही है। मैंने जो निबंध लेखन की तारीखें डाली हैं वे परिवर्द्धित काल से सम्बन्ध रखती हैं। मुझे जहाँतक स्मरण है मध्यप्रान्त के पुरातत्त्व इसको छोड़कर-मैं विनम्रता पूर्वक ही लिख रहा हूँ, अन्यत्र कहीं पर भी विस्तृत रूप से संकलित साधनों का प्रकाशन नहीं हुआ है^२। इतः पूर्व विद्वत्समाज द्वारा गवेषित शैलिक साधनों का इसमें उपयोग नहीं किया है।

मैंने समझ पूर्वक ही अपना क्षेत्र सीमित रखा है। जिन खण्डहर और शिल्पावशेष व मूर्तियों का साक्षात्कार मैंने नहीं किया वे महत्वपूर्ण होते हुए भी उन्हें-इसमें स्थान नहीं दिया। मेरा ऐसा करने का एक यह कारण भी है कि यदि भारत के प्रत्येक जिले के विद्वान अपने-अपने भू-भागों की कला-लक्ष्मी पर इस प्रकार प्रकाश डालने लगेंगे तो बहुत बड़ा सांस्कृतिक कार्य हो जायगा। कम से कम जैन विद्वानों से और मुनि व पंडितों से मेरा विनम्र निवेदन है कि अपने प्रान्तीय (या जहाँ हों वहाँ के) संग्रहालयस्थ व विहार मार्ग में आने वाले अवशेषों पर विवेचनात्मक प्रकाश अवश्य ही डालें।

इस कार्य में स्थानीय विद्वान व मुनि ही अधिक सफलता प्राप्त कर

१. वर्ष १ अंक ३, ४, ५, सन १९४९।

२. मैंने सुना है कि पं. प्रयागदत्तजी शुक्ल ने अभी अभी "सतपुडा की सभ्यता" नामक ग्रन्थ प्रकट किया है, पर प्रयत्न करने पर भी इन पंक्तियों के लिखते समय तक मैं उसे नहीं देख सका हूँ।



सकते हैं। सरकार का मुँह ताके बैठे रहना व्यर्थ है। न पुरातत्त्वविभाग के भरोसे ही रहना उचित है। आपकी संस्कृति के प्रति जितना आपको गौरव व अनुराग होगा, जितना आप श्रम करेंगे उतनी आशा, कम से कम मैं तो वैतनिक व्यक्तियों से नहीं करता, अनुभव मुझे मजबूर करता है।

सूचनात्मक अनुपूर्ति

इन पंक्तियों के लिखे जाने के वैभव के छपने के बाद भी मुझे अपनी पैदल यात्रा में जैन और हिन्दु पुरातत्त्व व मूर्तिकला की प्रचुर मूल्यवान सामग्री उपलब्ध हुई है, उनका उपयोग मैं भविष्य में करूँगा।

आभार और कृतज्ञता

सर्वप्रथम मैं अपने परम पूज्य गुरुदेव शान्तमूर्ति उपाध्याय मुनि श्री सुखसागरजी महाराज व मेरे ज्येष्ठ गुरुबन्धु मुनि मंगलसागरजी महाराज के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनकी छत्र-छाया में रहकर मैं कुछ सीख सका और उन्हीं के कारण धार्मिक साधना के साथ मेरी रुचि खण्डहरों के अन्वेषण में प्रवृत्त हुई। समय-समय पर उन्होंने ने अपने अनुभवों से मुझे लाभान्वित किया और स्वयं कष्ट सहकर भी मेरी शोध-साधना की गति में मन्दता नहीं आने दी। वरना जैन मुनि के लिए यह कार्य बहुत ही कठिन है।

श्रीयुत बाबू लक्ष्मीचंदजी जैन व बाबू श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय का मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अपनी पुष्पमाला में इसे स्थान दिया और तकाजों से पुनः पुनः मुझे प्रेरित किया। यदि श्री गोयलीयजी मुझसे कठोरता से काम न लेते तो शायद इसका प्रकाशन भी शीघ्र संभव न होता। उन्होंने हर तरह से इसे सुन्दर बनाने में जो श्रमदान दिया है, उसका मूल्य आभार या धन्यवाद से कैसे अंकित किया जा सकता है?

खण्डहरों के वैभव में प्रकाशित चित्रों के कतिपय ब्लाक्स श्रीयुत राजेन्द्रसिंहजी व्यौहार (जबलपुर), सुप्रसिद्ध विद्वान बाबू कामताप्रसादजी जैन, (अलीगंज), पं. श्री नेमिचन्दजी ज्योतिषाचार्य (आरा), बाबू दीपचन्दजी नाहटा (कलकत्ता) और बाबू घेवरचन्दजी जैन से प्राप्त हुए हैं। तदर्थ मैं उनका हृदय से आभार मानता हूँ।

प्रान्त में मैं प्रान्तीय राज्य-शासन व विद्वानों से विनम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि वे प्रान्तीय कलात्मक सम्पत्ति की रक्षा के लिए तत्पर हों और

अपने-अपने भू-भाग स्थित प्राचीन ऐतिहासिक अवशेषादि साधनों पर विवेचनात्मक प्रकाश डालकर एतद्विषयक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करें ।

खण्डहरों का वैभव पुरातत्त्व विषयक शोध में आंशिक सहायक हो सका और पुरातत्त्व के उपेक्षित-अरक्षित अवशेषों के प्रति जनरुचि उत्पन्न करा सका तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूंगा ।

- मुनि कान्तिसागर



जैन पुरातत्त्व



आर्यावर्त की तक्षणकला के संरक्षण और विकास में जैन-समाज ने उल्लेखनीय योग दिया है, जिसकी स्वर्णिम गौरव-गरिमा की पताका स्वरूप आज भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला-कौशल के उत्कृष्टतम प्रतीकसम पुरातन मंदिर, गृह, प्रतिमाएँ, विशाल स्तम्भादि, बहुमूल्यावशेष, बहुत ही दुरवस्था में अवशिष्ट है। ये प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के ज्वलन्त दीपक प्रकाश स्तम्भ हैं। अतीत इनमें अन्तर्निहित है। बहुत समय तक धूपछाँह में रहकर इन्होंने अनुभव प्राप्त किया है। वे न केवल तात्कालिक मानवजीवन और समाज के विभिन्न पहलुओं को ही आलोकित करते हैं, अपितु मानो वे जीर्ण-शीर्ण खण्डहरों, वनों और गिरि-कन्दराओं में खड़े-खड़े अपनी और तत्कालीन भारतीय सांस्कृतिक परिस्थितियों की वास्तविक कहानी, अति गंभीर रूप से, पर मूकवाणी में, उन सहृदय व्यक्तियों को श्रवण करा रहे हैं, जो पुरातन-प्रस्तरादि अवशेषों में अपने पूर्व पुरुषों की अमर कीर्तिलता का सूक्ष्मावलोकन कर नवीन प्रशस्त-मार्ग की सृष्टि करते हैं।

यदि हम थोड़ा भी विचार करके उनकी ओर दृष्टि केन्द्रित करें तो विदित हुए बिना नहीं रहेगा कि प्रत्येक समाज और जाति की उन्नत दशा का वास्तविक परिचय इन्हीं खण्डित अवशेषों के गंभीर अध्ययन, मनन और अन्वेषण पर अवलम्बित है। मेरा मन्तव्य है कि हमारी सभ्यता की रक्षा और अभिवृद्धि में किसी साहित्यादिक ग्रन्थापेक्षया इनका स्थान किसी भी दृष्टि से कम नहीं। साहित्यकार जिन उदात्त, उत्प्रेरक एवं प्राणवान् भावों का लेखनी के सहारे व्यक्तिकरण करता है, ठीक उसी प्रकार भावजगत् में विचरण करनेवाला आनन्दोन्मत्त कलाकार पार्थिव उपादानों द्वारा आत्मस्थ भावों को अपनी सधी हुई छैनी से व्यक्त करता है। जनता को इससे सुख और आनन्द की उपलब्धि होती है।

एक समय था ऐसे कलाकारों का समादर सम्पूर्ण भारतवर्ष में, सर्वत्र होता था। मानव सभ्यता का प्रेरणाप्रद इतिहास कलाकारों द्वारा ही सुरक्षित रह सका है। वे अपनी उच्चतम सौन्दर्य-संपन्न कलाकृतियों द्वारा जन-जीवन



उन्नयन की सामग्री प्रस्तुत करते थे। अतः प्राचीन भारतीय साहित्य और इतिहास में इसका स्थान अत्युच्च है। जैनाचार्य श्रीमान **हरिभद्रसूरिजीने**—जो अपने समय के बहुत बड़े दार्शनिक और प्रतिभा-सम्पन्न ग्रन्थकार थे—अपने **षोडशप्रकरणों** में कलाकारों के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे भारतीय कला के इतिहास में मूल्यवान् समझे जावेंगे। उनके हृदय में कलाकारों के प्रति कितनी सहानुभूति थी, निम्न शब्दों से स्पष्ट है—

“कलाकार को यह न समझना चाहिए कि वह हमारा वेतन-भोगी भृत्य है, पर अपना सखा और प्रारम्भीकृत कार्य में परम सहयोगी मानकर उनको आवश्यक सुविधाएं दे, सदैव सन्तुष्ट रखना चाहिए, उनको किसी भी प्रकार से ठगना नहीं चाहिए। समुचित वेतन के साथ, उनके साथ ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे उनके मानसिक भाव दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हों, ताकि उच्चतम कलाकृति का सृजन कर सके।”

वास्तुकला

वास्तुकला भी ललिताकला का एक भेद है। शिल्पकला आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ सौंदर्य का संवर्धन भी करती है। जिस प्रकार प्राणीमात्र की समवेदना का सर्वोच्च शिखर संगीत है—ठीक उसी प्रकार शिल्प का विस्तृत और व्यापक अर्थ भवन-निर्माण है। जनता में आम तौर पर शिल्प का सामान्य अर्थ ईंट पर ईंट या प्रस्तर पर प्रस्तर संजोकर रख देना ही शिल्प है, परन्तु वस्तुस्थिति की सार्वभौमिक व्यापकता के प्रकाश में यह परिभाषा भावसूचक ज्ञात नहीं होती—अपूर्ण है। शिल्प की सर्वगम्य व्याख्या कला के समान ही सरल नहीं है।

प्रोफेसर **मुल्कराज आनन्द** ने शिल्प की परिभाषा यों की है—“शिल्प वही है जो निर्माण-सामग्रियों द्वारा उच्चतम कल्पनाओं के आधारों पर बनाया जाय। उस शिल्प को हम अद्वितीय कह सकते हैं, जिसकी कला एवं कल्पना का प्रभाव मनुष्य पर पड़ सके।”

उपर्युक्त दार्शनिक परिभाषा से सापेक्षतः कलाकार का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है—“मनुष्य पर प्रभाव” और “प्राप्त सामग्रियों द्वारा निर्माण” ये शब्द गंभीर अर्थ के परिचायक हैं। प्राप्त सामग्री अर्थात् केवल कलाकार के औजार एतद्विषयक साहित्यिक ग्रन्थ ही नहीं हैं, अपितु उनके वैयक्तिक चरित्र शुद्धि की ओर भी व्यंग्यात्मक संकेत हैं। मानसिक चित्रों की परम्परा को सुनियंत्रित



रूप से उपस्थित करना ही कला है, जैसा कि समालोचकों ने स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में शिल्पी केवल मिस्त्री ही नहीं रह जाता-अपितु सक्षम दार्शनिक एवं कलागुरु के रूप में दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति में बिखरे हुए अनन्त सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त करता है, कल्पनाओं के सम्मिश्रण से वह निःस्सीम सौन्दर्य को विभिन्न उपादानों द्वारा ससीम करता है। सौन्दर्य बोध 'स्व' आवश्यकता से 'पर' का पदार्थ है, इसीलिए शिल्पी की मानसिक सन्तान को भी कला कहा गया है।

कल्पनात्मक शिल्प-निर्माण में जो मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करनी पड़ती है, वह अनुभवगम्य विषय है। जिनको प्राचीन खंडहर देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है-यदि उनके साथ कलाप्रेमी और कला के तत्त्वों को जानने वाले रहे हों तब तो कहना ही क्या-वे तल्लीन हो जाते हैं, भले ही उनके मर्मस्पर्शी इतिहास से परिचित न हों। इन खंडहरों एवं ध्वस्त अवशेषों में कलाकार को सत्य का दर्शन होता है। तदनुकूल मानसिक पृष्ठभूमि तैयार होती है, तात्पर्य यह कि मानव संस्कृति के विकास और संरक्षण में जिनका भी योग रहा है, उनमें शिल्पकार का स्थान बहुत उंचा है।

भारतीय वास्तुकला का इतिहास यों तो मानव विकास युग से मानना पड़ेगा, पर विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से कला-समीक्षकों ने **मोहन-जो-दड़ो** एवं **हरप्पा** माना है। इस युग के पूर्व-जहाँ तक समझा जाता है-बाँस, लकड़ी और पत्तों की झोंपड़ियों का युग था। वह अधिक महत्वपूर्ण था। उस सामान्य जीवन में भी संस्कृति थी। जीवन सात्विक भावनाओं से ओत-प्रोत था। प्रकृति की गोद में जो वैचारिक मौलिक सामग्री मिलती है, उसे ही कलाकार जनहितार्थ कलोपकरण द्वारा मूर्त रूप देता है। इस प्रकार दैनन्दिन वास्तुकला का विकास होता गया, परंतु आज से तीन हजार वर्ष पूर्व की विकसित वास्तु प्रणाली के क्रमिक इतिहास पर प्रकाश डालने वाली मौलिक सामग्री अद्यावधि अनुपलब्ध-सी है। यद्यपि प्रासंगिक रूप से **वेद, ब्राह्मण और आगम तथा जातकों में** संकेत अवश्य मिलते हैं किन्तु वे जिज्ञासा तृप्त नहीं कर सकते। **मोहन-जो-दड़ो** एवं **हरप्पा** अवशेषों से ही सन्तोष करना पड़ रहा है। शिल्प द्वारा स्तुति का समर्थन **ऐतरेय ब्राह्मण** से होता है-“**ओं शिल्पानी शसति देवशिल्पानि।**”

शिशुनाग वंश के समय निःसन्देह भारतीय वास्तु प्रणालिका उन्नति के शिखर पर आरूढ़ थी, बल्कि स्पष्ट कहा जावे तो उन दिनों भारत और



बेबीलोन का राजनैतिक सम्बन्ध के साथ कलात्मक आदान-प्रदान भी होता था, जैसा कि आज भी बेबीलोन में भारतीय शिल्प-कला से प्रभावित अवशेष पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। मौर्य, सुंग-काल की कलाकृति एवं खण्डहरों के परिदर्शन से स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों प्राणवान शिल्पियों की परम्परा सुरक्षित थी। यदि मानसार को गुप्त काल की कृति मान लिया जाय तो कहना होगा कि न केवल तत्काल में भारतीय तक्षण कला ही पूर्ण रूपेण विकसित थी, अपितु तद्विषयक साहित्य सृष्टि भी हो रही थी। यों तो विक्रम की प्रथम शताब्दी के विद्वान आचार्य पादलिप्तसूरि की निर्वाणकलिका से कुछ झांकी मिल जाती है। ब्रह्मसंहिता में भी मूर्ति विषयक उल्लेख है। कवि कालिदास और हर्ष ने भी अपने साहित्य में ललितकला का उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में वास्तुशास्त्र का अन्तर्भाव हो ही जाना चाहिए। भले ही तद्विषयक पुष्ट-सिद्धान्त लिखित रूप में उपलब्ध न हों।

अजन्ता, जोगीमारा, सिद्धणवास एवं तदुत्तरवार्तीय, एलोरा, चांदवड, एलीफेण्टा आदि अनेकों गुफाएँ हैं, जो भारतीय तक्षण और गृह-निर्माणकला के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक हैं। वास्तुकला का प्रवाह समय की गति और शक्ति के अनुरूप बहता गया, समय-समय पर कलाविज्ञों ने इसमें नवीन तत्त्वों को प्रविष्ट कराया, मानो वह स्वकीय संपत्ति ही हो। निर्माण-पद्धति, औजार आदि में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। जब जिस विषय का सार्वभौमिक विकास होता है, तब उसे विद्वान लोग लिपिबद्ध कर साहित्य का रूप दे देते हैं। जिससे अधिक समयतक मानव के सम्पर्क में रह सकें, क्योंकि कल्पना जगत के सिद्धांतों की परम्परा तभी चल सकती है, जब सुयोग्य एवं प्रतिभासम्पन्न उत्तराधिकारी मिलें।

पुरातत्त्व शब्द में अर्थ-गांभीर्य है। व्यापकता है। इतिहास के निर्माण में इसकी उपयोगिता सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। भारतीय कलाकारों ने किसी भी प्रकार के उत्पादनों को अपनाकर कला-नैपुण्य से उनमें जीवन का संचार किया। आत्मस्थ-अमूर्त भावों को मूर्त रूप दिया-अतः इस श्रेणी में आनेवाली कृतियों को, रूप शिल्पात्मक कृतियाँ कहें तो अनुचित न होगा। संगीत और काव्य में भावों की प्रधानता रहती है। इसमें भी वही बात है।

आबु, देलवाडा, खजुराहो और ताजमहल किसी काव्य से कथमति कम नहीं है। काव्य और संगीत से रूपशिल्प में हमें भले ही भिन्नत्व के दर्शन होते हों परंतु भावगत एकत्व स्पष्ट है, भिन्नता केवल धर्मगत है। यहां पर मुझे



ललित कला के सूक्ष्म और स्थूल भेदों की चर्चा में नहीं पडना, परंतु इतना भी कहने का लोभ संवरण नहीं कर सकता कि उच्चकला वही है, जिसके व्यक्तिकरण में यथासाध्य सूक्ष्म उपादानों का उपयोग किया जाय, उपादान में जितनी सूक्ष्मता होगी, कला भी उतनी ही श्रेष्ठ होगी। इस दृष्टि से पुरातत्त्व की कृतियाँ तीसरी श्रेणी में आती हैं। कारण कि इसमें भाव व्यक्तिकरण के लिए बहुत मोटे आधार का सहारा लेना पड़ता है। इस कला से दो लाभ होते हैं।

एक वह आध्यात्मिक उन्नति में सहायता करती है और दूसरी अपने युग की विशेषताओं को सुरक्षित रखती हुई भावी उन्नति का भी सूक्ष्म संकेत करती है। शाश्वत सत्य की ओर उत्प्रेरित करनेवाली भाव-परम्परा आधार तो चाहेगी ही। इसमें ऐतिहासिक संकेत हैं। पार्थिव कला आध्यात्मिक प्राण से धन्य हो जाती है। न केवल वह आनन्द ही देती है, पर शाश्वत सौंदर्य की ओर खींच ले जाती है। इसीलिए त्याग प्रधान आदर्श पर जीवित रहनेवाली श्रमण-संस्कृति में भी रूपशिल्प की परम्परा का जन्म हुआ।

जैन-पुरातत्त्व का अध्ययन अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य है। अभीतक इस विषय पर समुचित प्रकाश डालनेवाली सामग्री अन्धकाराच्छन्न है। अजैन विद्वानों के विवरण हमारे सम्मुख हैं, जो कई खंडहरों पर लिखे गये हैं, परन्तु वे इतने भ्रान्तिपूर्ण हैं कि उनमें सत्य की गवेषणा कठिन है, कारण कि जिन दिनों यह कार्य हुआ उन दिनों विद्वान जैन-बौद्ध का भेद ही नहीं समझते थे-आज भी कम ही समझते हैं। अतः यह सम्मिश्रण अध्यवसायी विद्वान ही पुथक् कर सकते हैं। जैनों ने कला के प्रकाश में कभी भी अपने उपकरणों को नहीं देखा। अजैनों ने इन्हें धार्मिक वस्तु समझा, परंतु जैन-तीर्थ-मन्दिर और मूर्ति केवल धार्मिक उपासना के ही अंग नहीं हैं, परंतु उनमें भारतीय जनजीवन के साथ कला और सौंदर्य के निगूढ तत्त्व भी सन्निहित हैं।

विशुद्ध सौंदर्य की दृष्टि से ही यदि जैन-पुरातन अवशेषों को देखा जाय तो उनकी कल्पना, सौष्ठव और उत्प्रेरक भावनाओं के आगे नतमस्तक होना पड़ेगा। बिना इनके समुचित अध्ययन के भारतीय शिल्प का इतिहास अपूर्ण रहेगा। प्रसंगतः एक बात का उल्लेख मुझे कर देना चाहिए कि जैनों ने न केवल पूर्व परम्परा में पली हुई शिल्प-कला और उनके उपकरणों की ही रक्षा की, अपितु सामयिकता को ध्यान में रखते हुए, प्राचीन परम्परा को संभालते हुए, नवीनतम भावना और कलात्मक उपकरणों की सफल सृष्टि भी की। सामान्य वस्तु को भी संजोकर कलात्मक जीवन का परिचय दिया। यद्यपि



मंदिरों और गुफाओं को छोड़कर जैनाश्रित वास्तुकला के प्रतीक उपलब्ध नहीं होते हैं, पर जो भी विद्यमान है वे उत्कृष्ट कला के प्रतीक हैं। उनमें मानवता का मूक सन्देश है। सौम्य और समान भाववाली परम्परा जैनाश्रित पुरातन अवशेषों के एक-एक अंग में परिलक्षित होती है। इनकी कला केवल कला के लिए न होकर जीवन के लिए भी है। अरस्तूने कहा है कि “**उस कला से लाभ नहीं, जिससे समाज का उपकार न होता हो।**” जैनाश्रित कला जनता के नैतिक स्तर को उंचा उठाती है। समत्व का उद्बोधन कर जनतंत्रात्मक विचार-पद्धति का मूक समर्थन करती है। त्यागपूर्ण-प्रतीक किसी भी देश के गौरव को बढ़ा सकते हैं।

प्राचीनता

जैन-पुरातत्त्व का इतिहास कबसे शुरू किया जाय ? यह एक समस्या है। कारण कि **मोहन-जो-दडो** की खुदाई से जो अवशेष प्राप्त किये गये हैं, उनमें कुछ ऐसे भी प्रतीक हैं, जिन्हें कुछ लोग जैन मानते हैं। जब तक वे निःसंशय जैन सिद्ध नहीं हो जाते, तब तक हम जैन-पुरातत्त्व के इतिहास को निश्चयपूर्वक वहाँ तक नहीं ले जा सकते। यद्यपि तत्कालीन एवं तदुत्तरवर्ती सांस्कृतिक साधनों का अध्ययन करें, तो हमें उनके जैनत्व में शंका नहीं रहती। कारण आर्यों के आगमन के पूर्व भी यहाँ पर ऐसी संस्कृति थी, जो परम आस्तिक और आध्यात्मिक भावों में विश्वास करती थी। वैदिक-साहित्य के उद्भट विद्वान **प्रो. क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय** तो कहते हैं कि वे लोग श्रमण संस्कृति के उपासक थे। इतिहास भी इस बात की साक्षी देता है कि आर्यों को यहां आकर संघर्ष करना पड़ा था। काफी संघर्ष के बाद भी वे लोग आर्यों में मिल नहीं सके। कारण कि उनकी अपनी स्वतंत्र संस्कृति थी, जो उनसे कहीं अधिक सबल और व्यापक थी। वह श्रमण संस्कृति ही होनी चाहिए।

यहाँ पर प्रश्न यह उठेगा कि **कुषाण और मोहन-जो-दडो** की कडियों को ठीक से संजोनेवाली मध्यवर्ती सामग्री प्राप्त है या नहीं ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि अभी पक्षपात रहित अन्वेषण ही कहाँ हुआ है ? बहुत-से प्राचीन खंडहर भी खुदाई की राह देख रहे हैं। प्रत्यक्षतः इतना कहना उचित होगा कि कुषाणकालीन जो अवशेष मिले हैं, उनकी और मोहन-जो दडों से प्राप्त सामग्री में, कलात्मक अंतर भले ही हो-स्वाभाविक भी है-परंतु धर्मगत भिन्नता नहीं है। दोनों की भावना में मतद्वैध नहीं है। आदर्श में भी



पर्याप्त साम्य है^१। क्योंकि भारतीय शिल्प में कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं, जो विशुद्ध जैन संस्कृति की ही देन हैं-जैसे कि कायोत्सर्ग मुद्रा। प्रचीन जैन-मूर्तियाँ अधिकतर इसी मुद्रा में प्राप्त हैं।

भारतीय-कला एक प्रकार से प्रतीकात्मक है। प्रत्येक सम्प्रदायवाले अपने-अपने शिल्प में स्वधर्म-मान्य प्रतीकों का प्रयोग करते आये हैं। कुछ प्रतीकों में इतनी समानता है कि उन्हें पृथक् करना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ त्रिशूल को ही लें। त्रिशूल तीनों गुणों पर विजय पाने का सूचक मानकर वैदिक-संस्कृति ने अपनाया है। जैनों ने भी रत्नत्रय का प्रतीक माना है। कर्लिंग की जैन गुफाओं में भी त्रिशूल का चिह्न है। मोहन-जो-दड़ो में यही प्रतीक मिला है। धर्मचक्र का भी यही हाल है। जैन-बौद्ध कृतियों में अवश्य ही उत्कीर्णित रहता है।

यों तो जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य-कला का इतिहास कुषाण काल से माना जाता है, क्योंकि इस युग की अनेक कला-कृतियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं, परंतु उपर्युक्त अन्वेषण के बाद एक सूत्र नया मिला है, जो इसका इतिहास ३०० वर्ष और उपर ले जाता है।

जैन-साहित्य में आर्द्रकुमार की कथा बड़ी प्रसिद्ध है। वह अनार्य देश का रहनेवाला था। मगध के राजवंश के साथ उसकी पारस्परिक मैत्री थी। अभयकुमार ने इनको जिन-प्रतिमा भिजवाई थी। बाद में वह भारत आता है और क्रमशः भगवान महावीर के पास जाकर श्रमण-दीक्षा ग्रहण करता^२ है। “डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार को प्रभासपाटण से एक ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ था, इसमें लिखा है कि “बेबीलोन के नृपति नेबुचन्दनेजार ने रैवतगिरि के नाथ नेमि के मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था^३।” जैन-साहित्य इस घटना पर मौन है। उन दिनों सौराष्ट्र का व्यापार विदेशों तक फैला हुआ था, अतः उसी

१. विशेष ज्ञातव्य के लिए देखें “मोहन-जो-दड़ो की कला और श्रमण-संस्कृति”

—“अनेकान्त” वर्ष १०, अंक ११-१२।

२. मुनि-दीक्षा अंगीकार कर भगवान महावीर के दर्शनार्थ जाते समय हस्त्यावबोध के भावों का प्रस्तर पर अंकन किया गया है जो आबू की विमलवसही में आज भी सुरक्षित है।

३. टाईम्स ओफ इन्डिया १९-०३-३५



मार्ग से अधिकतर आवागमन जारी था। बहुत संभव है कि वह भी यहीं से आया हो और पूर्व प्रेषित जिनमूर्ति के संस्कार के कारण मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया हो, परंतु इसके लिए और भी अकाट्य प्रमाणों की आवश्यकता है। हाँ बेबीलोन के इतिहास से यह अवश्य प्रमाणित होता है कि वहाँ पर जो पुरातन-अवशेष उपलब्ध हुए हैं, उन पर भारतीय-शिल्प का स्पष्ट प्रभाव है। वहाँ की न्याय-प्रणालिका पर भी भारतीय न्याय और दंड विधान की छाया है^१।

उक्त लेख से स्पष्ट है कि ईसवी पूर्व छठवीं शती में गिरिनार पर जैन-मन्दिर था। जूनागढ़ से “बाबा प्यारा” के नाम से जो मठ प्रसिद्ध है, वहाँ पर जैन-गुफाएँ उत्कीर्णित हैं।

बम्बई से प्रकाशित दैनिक “जन्मभूमि” (२५-०५-४१) में “पुरातत्त्व संशोधन का एक प्रकरण” शीर्षक नोट प्रकाशित हुआ था। उसमें एक नवोपलब्ध लेख की चर्चा थी। इस लेख में “तीरबस्वामी” का नाम था। गुजरात के पुरातत्त्वज्ञ श्री अमृतवसंत पंड्याने इसे “तीरथस्वामी” पढ़ा, क्योंकि ब्राह्मी में ‘थ’ और ‘ब’ में कम अन्तर है। अन्ततः तय हुआ कि “तीरथस्वामी” का सम्बन्ध जैनधर्म से ही होना चाहिए। इस लेख की लिपि क्षत्रप कालीन है। यह काल, सौराष्ट्र में जैनउत्कर्ष का माना जाता है। श्री पंड्याजी का मानना है कि “क्षत्रप-कालीन सौराष्ट्र में जैनधर्म का अस्तित्व सूचक जो लेख बाबाप्यारा के मठ में उपलब्ध हुआ है उसके बाद के लेखों में यही उपर्युक्त लेख आता है।”

मगध के शासक शिशुनाग और नन्द नृपति जैन-धर्म के उपासक थे। नन्दनृपति भगवान महावीर के माता-पिता, भगवान पार्श्वनाथ की अर्चना करते थे। भगवान महावीर गृहस्थावास में जब भाव मुनि थे और राजमहल में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े थे, उस समय के भावों को व्यक्त करनेवाली गोशीर्ष चन्दन की प्रतिमा विद्युन्माली देव द्वारा निर्मित हुई एवं कपिल केवली द्वारा प्रतिष्ठापित हुई। बाद में वीतभयपतन के राजा उदायी व पट्टरानी प्रभावती द्वारा पूजी जाती रही। इस घटना का उल्लेख प्राचीन जैन साहित्य में तो पाया ही जाता है, परंतु इन्हीं भावों को व्यक्त करनेवाली एक धातु प्रतिमा भी

उपलब्ध हो चुकी है। जिसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है।

‘तित्थोगाली पड़न्य’ से ज्ञात होता है कि नन्दोंने पाटलीपुत्र में ५ जैन स्तूप बनवाये थे, जिनका उत्खनन कला के द्वारा धन की खोज के लिए हुआ। चीनी यात्री श्युआन च्युआङ् ने भी इन पंच जैन-स्तूपों का उल्लेख यात्राविवरण^१ में करते हुए लिखा है कि अबौद्ध राजा द्वारा वे खुदवा डाले गये। पहाडपुर से प्राप्त ताम्र-पत्र (ईसवी ४७९) से फलित होता है कि आचार्य गृहनन्दी व उनके शिष्य “पंचस्तुपान्वयी” कहलाते थे।

खारवेल के लेख से स्पष्ट है कि नन्दकाल में जैन मूर्तियां थीं। सातवीं शती में भी श्रमण-संस्कृति, कलिंग में उन्नति के शिखर पर थी। **खारवेल के** लेख की अंतिम पंक्ति में जीर्ण जलाशय एवं मंदिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। वहाँ पर उसी समय चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएं बैठाई। लेखान्तर्गत जलाशय **ऋषितडाग** ही होना चाहिए। इसका उल्लेख **बृहत्कल्पसूत्र** में आया है। वहाँ पर मेला लगा करता था। स्व. डॉ. बेनीमाधव वडुआ ने इसे खोज निकाला था। अपने स्वर्गवास के कुछ मास पूर्व मुझे उन्होंने एक मानचित्र भी बताया था।

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी में निश्चयतः जैन मूर्तियों का अस्तित्व था । मौर्यकालीन जैन-प्रतिमाएं तो लोहानीपुर (जो पटना ही का एक भाग है) से प्राप्त हो चुकी हैं । **लोहानीपुर** में १४ फरवरी १९३७ में प्राप्त हुई थीं । मूर्ति हल्के हरे रंग के पाषाण पर खुदी है । इसकी पोलीस स्पर्धा की वस्तु है । शताब्दियों तक भू-गर्भ में रहते हुए भी उसकी चमक में लेशमात्र भी अन्तर नहीं आया, जो मौर्यकालीन शिल्प की अपनी विशेषता है । स्वर्गीय **डॉ. जायसवालजी** ने इसका निर्माणकाल गुप्तपूर्व चार सौ वर्ष स्थिर किया है । मूर्ति २.५ फुट उंची है ।

मौर्य सम्राट **सम्प्रति वीरशासन** की प्रभावना करनेवाले व्यक्तियों में अग्रगण्य है। सम्प्रति द्वारा विदेशों में प्रचारित जैन धर्म के अवशेष, आज भी वहाँ बसनेवाली जातियों के जीवन में पाये जाते हैं। **यूनान** की “समनिमा जाति” श्रमण परम्परा की ओर इंगित करती है। कहा जाता है कि सम्प्रति ने

୧. On Yuan Chawang's travels in India, P. 96

२. एपिग्राफिया इंडिया । वॉ. XX पेज ५९ ।

३. जैब एंटीक्वेरी, भाग ४, अंक ३ में चित्र प्रदर्शित है।

कुषाण-काल पूर्व मगध में स्तूप पूजा का सार्वत्रिक प्रचार था । अपने पूज्य पुरुषों के सम्मान में या जीवन की विशिष्ट घटना की स्मृति-रक्षार्थ स्तूप बनवाने की प्रथा का सूत्र-पात किसके द्वारा हुआ, अकाट्य प्रमाणों के अभाव में निश्चयरूप से कहना कठिन है । पर जो ग्रन्थस्थ वाङ्मय हमारे सम्मुख उपस्थित है, उस पर से तो यही कहना पड़ता है कि इस प्रकार की पद्धति का सूत्रपात जैनपरम्परा में ही सर्वप्रथम हुआ ।

युगादिदेव को, एक वर्ष कठोर तप के बाद **श्रेयांसकुमार** ने आहार कराया था, उस स्थान पर कोई चलने न पावे, इस हेतु से एक थूभ-स्तूप बनवाये जानेका उल्लेख “**धर्मोपदेशमाला**” की वृत्ति में इस प्रकार आया है।

ठाहि ति रि (२)-यणेहिं, कओ शुभो कुमरेण^१ भत्तीए ॥

थूभ विषयक और भी दो एक उल्लेख ग्रन्थ में आये है ।

इसी प्रकार जैनकथा साहित्य में **थूभ-स्तूप** विषयक प्रमाण मिलते हैं। इनका अध्ययन वांछनीय है।

अष्टपद पर्वत पर इन्द्र द्वारा तीन स्तूप स्थापित करने का उल्लेख श्रीजिनप्रभसरि अपने “विविधतीर्थकल्प” में इस प्रकार करते हैं ।

यत्रास्थापयदिन्द्रः स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥

प्राचीन तीर्थमालाओं में कई स्तूपों-थूभों की चर्चा है ।

यों तो पुरातन विश्वसनीय जैन-स्तूप^१ मथुरा में उपलब्ध हुए हैं; परंतु मेरा विश्वास है कि ईसवी पूर्व छठवीं शती मगध में बना करते थे। भगवान महावीर के निर्वाण स्थान पर एक स्तूप बनवाये जानेका उल्लेख जैन साहित्य में आता है। **पावापुरी** से एक मील दूर आज भी एक **भग्न स्तूप** विद्यमान है। ग्रामीण जनता का विश्वास है कि यही भगवान महावीर का निर्वाण स्थान है। आचार्य **श्रीजिनप्रभसूरिजी** ने विविधतीर्थ^२ कल्पान्तर्गत अपापाबृहत्कल्प में जो उल्लेख किया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

तहा इत्थव पुरीए कत्तियअमावसारयणीए भयवओ निव्वाणद्धाणे
मिच्छद्दिट्ठीहिं सिरिवीरथूभद्धाणठावियनागमंडवे अज्ज वि चाउवण्णिणय-
लोआ जत्तामहूसवं करिति ॥ तीए चेव एगरत्तिए देव याणु भावेणं
कुवायड्डिअजलपुण्णमल्लियाए दिवोपज्जलइ तिल्लं विणा ।

आज यद्यपि स्तूप मंडपाच्छादित तो नहीं है, पर अजैन जनता, आज भी इसे बहुत ही सम्मानपूर्वक देखती है। एवं कार्तिक अमावस्या को उत्सव भी मनाती है। उल्लेख से ज्ञात होता है कि विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में महावीर-निर्वाण-स्थान के रूप में यह स्तूप प्रसिद्ध था। यदि वहाँ निर्वाण सूचक अन्य महत्वपूर्ण स्थान होता, तो **जिनप्रभसूरिजी** उसका उल्लेख अवश्य ही करते। श्रद्धाजीवी जैन समाज इस स्तूप को विस्मृत कर चुका है। इसकी ईंटें **राजगृही** की ईंटों के समान हैं। व्यास को देखते हुए ऐसा लगता है कि किसी समय यह बहुत विस्तृत रूप में रहा होगा।

संभव है, खोज करने पर और भी जैन-स्तूप उपलब्ध हों। जैन-बौद्ध-स्तूपों के भेदों को न समझने पर पुरातत्त्वविज्ञ कैसी भूलें कर बैठते हैं, इस पर डाक्टर स्मिथ के विचार की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ।

पिछली शताब्दियों का इतिहास इस बात की साक्षी देता है कि कुषाणों के बाद भारत में जैनाश्रित कृतियों का व्यापक रूप से सृजन आरंभ हो गया

१. धर्मोपदेशमाला ग्रन्थ में इसे “दिव्यमहाथूभ” कहा गया है ।

२. पृष्ठ ४४

था। प्रांतीय प्रभाव उन पर स्पष्ट है। ऐसी प्राचीन सामग्री में मगध की कृतियाँ भी सम्मिलित हैं। एल, गुप्त, सोम, कलचुरि, राष्ट्रकूट, चौलुक्य और वाघेलाओं के समय में भी अनेकों महत्वपूर्ण जैनाश्रित कृतियाँ निर्मित हुई। इनमें से कुछेक तो सम्पूर्ण भारतीयकला का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। **आबू, खजुराहो, राणकपुर, श्रवणबेल्लोल, देवगढ, जैसलमेर और कुंभारिया** आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वास्तुकला के साथ मूर्तिकला में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। उत्तर पश्चिम कृतियाँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं और दक्षिण पूर्व की दिगम्बर संप्रदाय से।

भारतीय जैन शिल्प का अध्ययन तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक वास्तु-कला के अंग-प्रत्यंगों पर विकासात्मक प्रकाश डालनेवाले साहित्य की विविध शाखाओं का यथावत अध्ययन न किया जाय, क्योंकि तक्षणकला और उसकी विशेषता में परस्पर साम्य होते हुए भी, प्रांतीय भेद या तात्कालिक लोकसंस्कृति के कारण जो वैभिन्न्य पाया जाता है, एवं उस समय के लोक जीवन को शिल्प कहाँ तक समुचित रूप से व्यक्त कर सका है, उस समय की वास्तुकला विषयक जो ग्रन्थ पाये जाते हैं, उनमें जिन जिन शिल्पकलात्मक कृतियों के निर्माण का शास्त्रीय विधान निर्दिष्ट है, उनका प्रवाह कलाकारों की पैनी छैनी द्वारा प्रस्तरों पर परिष्कृत रूप में कहाँ तक उतरा है? यहाँ तक कि शिल्पकला जब तात्कालिक संस्कृति का प्रतिबिम्ब है, तब उन दिनों का प्रतिनिधित्व क्या सचमुच ये शिल्पकृतियाँ कर सकती हैं? आदि अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का परिचय, तलस्पर्शी अध्ययन और मनन के बाद ही सम्भव है।

जैन अवशेषों को समझने के लिए सारे भारतवर्ष में पाये जानेवाले सभी श्रेणी के अवशेषों का अध्ययन भी अनिवार्य है, क्योंकि जैन और अजैन शिल्पात्मक कृतियों का सृजन जो कलाकार करते थे, वे प्रत्येक शताब्दी में आवश्यक परिवर्तन करते हुए एक धारा में बहते थे, जैसा कि वास्तुकला के अध्ययन से विदित हुआ है। प्रांतीय कलात्मक अवशेषों को ही लीजिए, उनमें साम्प्रदायिक तत्त्वों का बहुत ही कम प्रभाव पायेंगे, परंतु शिल्पियों की जो परंपरा चलती थी, वह अपनी कला में दक्ष और विशेष रूप से योग्य थी।

मध्यकाल के प्रारंभिक जो अवशेष हैं उनको बारहवीं शती की कृतियों से तौलें तो बिहार, मध्यप्रान्त और बंगाल की कला में कम अन्तर पायेंगे। मैंने कलचुरि और पालकालीन जैन तथा अजैन प्रतिमाओं का इसी दृष्टि से



शिल्प की आत्मा वास्तुशास्त्र में निवास करती है, परंतु जैन-शिल्प का यदि अध्ययन करना हो तो हमें बहुत कुछ अंशों में इतर साहित्य पर निर्भर रहना पड़ेगा, कारण कि जैनों ने शिल्पकला को प्रस्तरों पर प्रवाहित करने-कराने में जो योग दिया है, उसका शतांश भी साहित्यिक रूप देने में दिया होता तो आज हमारा मार्ग स्पष्ट और स्थिर हो जाता। यों तो **बाराहमिहिर की संहिता** में जैन मूर्ति का रूप प्रदर्शित है, परंतु जहाँ तक वास्तुकला के क्रमिक विकास का प्रश्न है, जैन साहित्य मौन है।

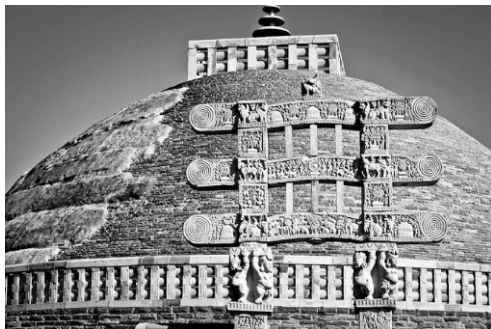
प्रसंगानुसार कुछ उल्लेख अवश्य आते हैं, जिनका सम्बन्ध शिल्प के एक अंग प्रतिमाओं से है। यक्ष एवं यक्षिणियों के आयुध, स्वरूप आदि की चर्चा “निर्वाणकलिका” में दृष्टिगोचर होती है। नेमिचंद का “प्रतिष्ठासार” आचारदिनकर (वर्द्धमानसूरिकृत) और ठक्कुर फेरुकृत “वास्तुसार” आदि कुछ, ग्रंथों के नाम लिये जा सकते हैं, परंतु इन ग्रंथों के उल्लेख मूर्तिकला और मंदिरादि निर्माण पर कुछ प्रकाश डालते अवश्य हैं, किंतु बहुत कुछ अंशों में मानसार का स्पष्ट अनुकरण है। मंडनने यद्यपि स्वतंत्र ग्रंथ बनाये पर वे काफी बाद के हैं। जब जैन समाज में कला के प्रति स्वाभाविक रुचि न थी, केवल अनुकरण प्रवृत्ति का जोर था।

समरांगण सूत्रधार, रूपमंडन और देवतामूर्तिप्रकरण जैसे ग्रंथों से हमारा मार्ग अवश्य ही थोड़ा बहुत स्पष्ट हो जाता है। प्रतिष्ठा-विषयक साहित्य में भी कुछ सूचनाएं मिल जाती हैं, वे भी एकांगी ही हैं। बारहवीं सदी के कुछ ग्रंथों में चर्चा है कि आर्य खपट और उसौर वाचक उमास्वाति ने भी

आज भी गुजरात-काठियावाड में “सोमपुरा” नामक एक जाति है, जिसका प्रधान कार्य ही शास्त्रोक्त शिल्पविद्या के संरक्षण एवं विकास पर ध्यान देना है। ये जैन शिल्पस्थापत्य के भी विद्वान और अनुभवी हैं। इन लोगों की मदद से एक आदर्श जैन-शिल्पकला सम्बन्धी ग्रन्थ अविलम्ब तैयार हो ही जाना चाहिए। इसमें इन बातों का ध्यान रखा जाना अनिवार्य है कि जिन-जिन प्रकार के शिल्पोल्लेख साहित्य में आये हैं-वे पाषाण पर कहाँ कैसे और कब उतरे हैं, इनका प्रभाव विशेषतः किन-किन प्रान्तों के जैन-अवशेषों पर पड़ा है, बाद में विकास कैसे हुआ; अजैन से जैनों ने और जैन से अजैन कलाकारों ने क्या लिया-दिया आदि बातों का उल्लेख सप्रमाण, सचित्र होना चाहिए। काम निःसन्देह श्रमसाध्य है, पर असंभव नहीं है, जैसाकि अकर्मण्य सोच बैठते हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिए जैनाश्रित शिल्पकला कृतियों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है ।

१. प्रतिमा	२. गुफा	३. मंदिर
४. मानस्तम्भ	५. इतर भाव-शिल्प	६. लेख



जैन मंदिर



पुरातन जैन-अवशेषों में मन्दिरों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। जैन-तीर्थ और मंदिरों का श्रेष्ठत्व न केवल धार्मिक दृष्टि से ही है, अपितु भारतीय शिल्प-स्थापत्य और कला की दृष्टि से भी उनका अपना स्वतन्त्र स्थान है। इन मंदिरों पर से ही हमारी सांस्कृतिक विचारधारा स्पष्ट हो जाती है। वहाँ पर हमे निवृत्तिमूलक भावना का प्रत्यक्षीकरण होता है। वहाँ स्व-पर के क्षुद्रतम भेदों को भूल जाते हैं। आत्मतत्त्व निरीक्षण की दृष्टि विकसित होती है और गुण के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है। वहाँ का वायुमंडल इतना शुद्ध और पवित्र रहता है कि दर्शक-यदि वह भावनाशील हो तो, आनंद-विभोर हो उठता है-कुछ क्षणों के लिए अपने आपको भूला देता है।

मंदिर हमारी आध्यात्मिक साधना का पुनीत स्थान है, साथ ही साथ जिनधर्म और नैतिक परंपरा का समर्थक भी। मैं अपने कई निबंधों में सूचित कर चुका हूँ कि श्रमणसंस्कृति का अंतिम साध्य मोक्ष होते हुए भी वह समाज के प्रति कभी उदासीन नहीं रही। मंदिर आध्यात्मिक स्थान होते हुए भी कलाकारों ने अपने मानसिक भावों के द्वारा, उसे ऐसा अलंकृत किया कि साधक आन्तरिक सौंदर्य की उपासना के साथ, बाहरी पृथ्वीगत-सौंदर्य से नैतिक और पारम्परिक अन्तश्चेतना जगानेवाले उपकरणों द्वारा वीतरागत्व की ओर बढ़ सकें।

यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होते हैं कि मंदिरों का निर्माण कबसे प्रारंभ हुआ, मध्यकालीन मंदिरों का पूर्वरूप कैसा था, प्राचीन काल के साधना स्थानों का निर्माण कहाँ होता था ? ये प्रश्न निःसन्देह महत्वपूर्ण हैं। पर इनका उत्तर सरल नहीं है। पुरातत्त्व और इतिहास के उपलब्ध साधनों के आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि प्रथम मूर्ति का निर्माण और बाद में मंदिर, जिसे एक प्रकार से गुफा का विकसित रूप मानें तो अत्युक्ति नहीं। मंदिर की उत्पत्ति और स्थिति विषयक विद्वानों में मतभिन्नत्व स्पष्ट है। जितनी प्राचीन मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उतने मन्दिर नहीं। मूर्तियों की अपेक्षा मन्दिरों की उपलब्धि भी कम हुई है। इसका कारण मध्यकालीन इतिहास तो यह कहता है कि मुसलमानों के



सांस्कृतिक आक्रमणों ने कई मंदिर, मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिये, ऐसे मंदिरों की संख्या सर्वाधिक गुजरात में पाई जाती है। महाकोसल में मैंने ऐसे भी जैन मंदिर देखे हैं जिन पर अजैनों का आधिपत्य है।

इतिहास और जैनागम साहित्य से यह ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व छठवीं शती में यक्ष-मंदिरों का सामूहिक प्रचलन था, परंतु उन मंदिरों का उल्लेख “चैत्य” शब्द से किया गया है। आज भी हम लोग “चैत्यालय” और “चैत्यवंदन” आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। परंतु यहाँ पर देखना यह है कि उन दिनों “चैत्य” शब्द, जिस अर्थ में व्यवहृत होता था, क्या आज भी हम उसी अर्थ में लेते हैं या तद्भिन्न। क्योंकि “चैत्य” शब्द की व्युत्पत्ति “चिता” से मानी जाती है। महापुरुषों के निर्वाण या दाह-स्थानों पर उनकी स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए वृक्ष लगाये जाते थे या प्रस्तर-खंड तथा शरीर के अवशेष रखकर मढियाँ बना दी जाती थी। धीरे-धीरे पूज्य पुरुषों की प्रतिमाएँ बनने लगीं और बड़े-बड़े मंदिरों का निर्माण होने लगा। पंडित बेचरदासजी की उपर्युक्त मान्यता शब्दशास्त्र की दृष्टि से युक्त-संगत नहीं जान पड़ती है। क्योंकि इस तर्क के पीछे, कोई सांस्कृतिक विचारधारा या अकाट्य प्रमाण नहीं है^१। डॉ. प्रसन्न कुमार आचार्य ठीक कहते हैं कि चैत्य या कब्रों से मंदिरों का कोई संबंध न था।

डॉ. आचार्य लिखते हैं “कल्पसूत्र के कुछ अंश को शुल्मसूत्र कहते हैं, जिसमें वेदी बनाने की रीति और उनकी लंबाई आदि दी है। इसमें “अग्नि” या ईंटों से बनी हुई बृहत्तर वेदियों की रीति का वर्णन है। वे वेदी सोमयज्ञ की थीं, जिनका निर्माण वैज्ञानिक तौरपर हुआ था। संभवतः यहीं से मंदिर-निर्माण का सूत्रपात होता है^२।

१. जबलपुर के निकट एक लघुतम पहाड़ी पर जैन-चैत्यालय हैं, जिसे लोग “मढिया” कहते हैं। लोगों का विश्वास है कि रानी दुर्गावती की पीसनहारी ने-जो-जैन थी, स्वोपाजित वित्त से इस कृति का सृजन करवाया था। दोनों मढियों पर आज भी चक्री के दो पाट लगे हुए हैं, इनसे उनका संबंध स्पष्ट हो जाता है। पद्मपुर आदि और भी अनेक स्थानों पर देवस्थान स्वरूप छोटी-सी टपेरियाँ मिलती हैं, जिन्हे मध्यप्रदेश में “मढिया” कहते हैं। सरोवर तीर पर और पहाडियों पर भी ऐसी मढियें मिलती हैं।

२. मंदिर दाहस्थान का सूचक नहीं, किन्तु देवस्थान का परिचायक हैं।

३. प्राचीन भारतवर्ष १, सं. ८।



ऐतिहासिक उल्लेखों से यही ज्ञात होता है कि प्राप्त मूर्तियों में सर्व प्राचीन प्रतिमाएं जैनों की है, जैसा कि ऊपर के भाग में सूचित किया जा चुका है, परंतु एक बात का आश्चर्य अवश्य होता है, कि जितना प्राचीन जैन पुरातत्त्व उपलब्ध हुआ है, उतना ही अर्वाचीन एतद्विषयक साहित्य है। अर्थात् प्रतिमाओं का इतिहास **मोहन-जो-दडो** तक पहुँचाता है, तो शिल्प विषयक ग्रन्थों का निर्माण १०वीं शती बाद का मिलता है। प्रथम “साहित्य” या “कृति” यह प्रश्न उठता है और विशेषता इस बात की है कि जिन प्रतिमाओं की सृजन शैली में कालानुसार भले ही परिवर्तन हुआ, पर मौलिकता में बराबर एकरूपता रही। जिन दिनों मूर्ति का निर्माण हुआ, उन दिनों कलाकारों के सम्मुख साहित्य था या नहीं? नहीं कहा जा सकता, कारण कि मूर्तिकाल तक के प्राचीन मंदिर ही अनुपलब्ध है।

मूर्ति और मंदिर का प्रश्न जहाँ आता है, वहाँ उनके प्रतिष्ठा विधान विषयक एवं वास्तुशास्त्र की समस्या भी खड़ी होती है। गवेषक की इन शंकाओं का समुचित समाधान हो सके ऐसा प्राचीन साहित्य नहिंवत् ही है। हाँ इतना अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि जब **पादलिप्तसूरिजी ने निर्वाणकलिका** की रचना की उस समय शिल्प का थोडा बहुत साहित्य अवश्य ही रहा होगा^१, भले ही वह लिपिबद्ध न होकर पारस्परिक या मौखिक ही क्यों न रहा हो, कारण कि देव-देवियों के आकार प्रकार एवं आयुधों की चर्चा उसमें वर्णित है।

मथुरा के जैन अवशेषों से स्पष्ट है कि **निर्वाणकलिका** पूर्व भी यक्ष-यक्षिणियों का स्वरूप स्थिर हो चुका था। मथुरा के कलात्मक अवशेष इस बात की पुष्टी करते हैं कि इंडोसाइथिक समय के जैनों ने एक प्राचीन मंदिर में से खुदाई के लिए उसके अवशेषों का उपयोग किया था। स्मिथ भी यह मानते हैं कि “ईस्वी पूर्व १५० में मथुरा में जैन-मंदिर था”^२। मथुरा के “**बौद्धस्तूप**” से शायद ही कोई अपरिचित होगा। इससे ज्ञात होता है कि उस

१. मथुरा का देवनिर्मित कहा जानेवाला स्तूप धर्म-ऋषि और धर्मघोष मुनि की रुचि के अनुसार कुबेरा ने बनवाया था। इससे इतना तो निश्चित है कि मुनिवर्ग कलात्मक उपकरणों के प्रति उदासीन न था। उस समय आजीवक संप्रदाय भी था, जो ज्योतिष आदि में प्रवीण माना जाता था। वह शिल्प से सर्वथा अपरिचित हो, यह तो कम संभव है।

२. दि जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज ऑफ मथुरा, प्रस्तावना, पृ. ३।



समय जैनों में स्तूप पूजा का भी रीवाज चल पड़ा था, पर यह स्तूप परंपरा चली नहीं^१। **बै. जायसवालजी का मानना है** कि ओरिसा में भी **कायनिसीदी** अर्थात् जैन-स्तूप था, जिसमें अरिहन्त का अस्थि गड़ा हुआ था। बौद्ध स्तूप के तोरण में जो अलंकरण और भावशिल्पों के प्रतीक हैं उनमें जिनभक्ति का सम्यक् रूप लक्षित होता है। मंदिर की रचना उस समय हो चुकी थी।

तैत्तिरीय संहिता^२ में पूर्वकथित वदी के स्वरूपों का वर्णन है—**चतुरअश्येनचित, प्रोणचित, कूर्मचित, समुह्यचित, प्रौगचित, रथक्रचित** आदि। इसीका अनुकरण **बौधायन** और **आपस्तम्भ** में हुआ है। इन वेदियों में धर्मजनित भेदों को स्थान नहीं था। अर्थात् हिन्दू, जैन और बौद्ध सभी स्वीकार करते थे। परिवर्तनप्रिय मानव ने क्रमशः संशोधन, परिवर्द्धन प्रारंभ किये, जिनके फलस्वरूप गुम्बज और शिखर उठ खड़े हुए। मंडपों का विधान भी बढ़ता ही चला। मंडपों का विकास समय की आवश्यकतानुसार होता गया। डॉ. आचार्य का उपर्युक्त मत समीचीन जान पड़ता है।

वर्णित वेदियों का विकसित रूप ही मंदिर है। इसके क्रमिक विकास का इतिहास भी बड़ा मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक है, परंतु यहाँ इतना स्थान कहाँ कि उन पर समुचित प्रकाश डाला जा सके। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि मंदिर का निर्माण गुफा पूर्व का है, जैसा कि अर्थशास्त्र से सिद्ध है। गुफा और मंदिर का सम्बन्ध गुजरात के कलाकार **श्रीरविशंकर रावल** इतना ही मानते हैं कि “अग्रिम मंडप दर्शनार्थी भक्तों के लिए और गर्भगृह देवमूर्ति के लिए होता है।”

‘मानसार’ में मंदिरों के भेदों पर कुछ प्रकाश डाला है, परंतु कला की दृष्टि से उन भेदों में विशेष अंतर नहीं पड़ता, न धर्मगत शिल्प की अपेक्षा से

१. १३ वीं शती के जैनों के ऐतिहासिक साहित्य से ज्ञात होता है कि प्रतिमा संपन्न आचार्यों के दाह स्थान पर “स्तूप” बना करते थे। ऐसे सैकड़ों स्तूपों का उल्लेख प्राचीन हिन्दी पद्यों में भी आता है। १८ वीं शताब्दी तक यह स्तूप परंपरा चलती रही। इसमें से आचार्य श्रीजिनदत्तसूरि और श्रीजिनपतिसूरिजी तथा श्रीजिनकुशलसूरिजी महाराज के स्तूप विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीजिनपतिसूरिजी पृथ्वीराज चौहान की सभा के रत्न थे और अनेकानेक ग्रन्थ रचयिता विद्वानों के गुरु भी।

२. खंड ४, ११।



छोटे-छोटे मंदिर होते हैं ।”

“ऐसे मंदिरों को पंचायतन मंदिर कहते हैं । ब्राह्मणों के मंदिरों में विशेषकर गर्भगृह रहता है, जहाँ मूर्ति स्थापित होती है और उसके आगे मंडप । जैन-मंदिरों में कहीं-कहीं दो मंडप और एक विस्तृत वेदी भी होती है । दोनों शैलियों के मंदिरों में गर्भगृह के उपर शिखर और उसके सर्वोच्च भाग पर आमलक नाम का बड़ा चक्र होता है । आमलक के ऊपर कलश रहता है, और वहीं ध्वजदंड भी होता है” ।”

आर्य और द्रविड दोनों शैलियों के जैनमंदिर पर्याप्त मिलते हैं । उत्तर भारतीय मंदिरों की जिस आर्यशैली की चर्चा ओझाजी ने की है, उसमें भी प्रान्तीय भेदों को लेकर कई उपशैलियां बन गई हैं । विशेषकर शिखर में तो बहुत ही परिवर्तन हुए हैं । कई स्थानों पर एक ही शैली के मंदिर होते हुए भी उनमें कलात्मक वैभिन्न परिलक्षित होता है । नागर^१, द्राविड, बेसर इन तीन शैलियों का उल्लेख मानसार में इस प्रकार आया है ।—

नागरं द्राविडं चैव बेसरं च त्रिधा मतम् ।

कण्डादारभ्य वृत्तं यद् तद्वेसरमिति स्मृतम् ॥

ग्रीवमारभ्य चाष्टश्रं विमानं द्राविडाख्यकम् ।

सर्वं वै चतुरश्रं यत्प्रासादं नागरं त्विदम् ॥

वास्तुसार में प्रासाद और शिखर के कई प्रकारों का वर्णन है । अपराजित, समरांगणसूत्रधार, प्रासादमंडन, दीपार्णव आदि शिल्प विषयक ग्रन्थों में भी इसकी विशद चर्चा है ।

यहाँ पर सूचित कर देना उचित जान पड़ता है कि मंदिर-निर्माण विषयक शैली का होने के पूर्व भी जिन मंदिर बन चुके थे । भृगुकच्छ-भडौच के शकुनिकाविहार-मुनिसुव्रत तीर्थकर का मंदिर इस कोटि में आता है । वि.सं. ४ पूर्व यहाँ पर आर्य खपुटाचार्य के रहने का उल्लेख जैन प्रबन्धों में आता है । यह विहार प्रथम काष्ठ का था, पर चौलुक्यों के समय में आंबडभट्ट ने पाषाण का बनाया । लेकिन अल्लाउद्दीन ने गुजरात पर आक्रमण कर

१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. १७५, ६ ।

२. दोनों शैलियों का विवेचन शिल्प-ग्रन्थों में तो मिलता ही है । स्व. जायसवालजी ने इतिहास के आधार पर “अन्धकार युगीन भारत” में भी विचार किया है ।



भृगुकच्छ सर किया और इतिहास प्रसिद्ध इस सांस्कृतिक तीर्थस्वरूप विहार को जामअ-मस्जिद में बदल दिया। यह घटना ई.स. १२९७ की है। इस पर **बर्जेस** ने विशेष विचार किया है^१। वह इसकी कला के संबन्ध में लिखता है-
“इस स्थान की प्राचीन कारीगरी, आकृतियों की खुदाई और रसिकता, स्थापत्य, शिल्पी की कला का रूप और लावण्य भारत में बेजोड है”^२। इस विहार पर प्रकाश डालनेवाले संस्कृत, प्राकृत और देश्य भाषा में अनेक उल्लेख - बल्कि स्वतंत्र ग्रन्थ मिलते हैं।

कच्छ-भद्रेश्वर का मंदिर भी सम्प्रति द्वारा निर्मित माना जाता है^३। पश्चिम भारत में जो प्रान्तीय साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसमें और भी कई प्राचीन मंदिरों का उल्लेख है, पर आठवीं शती पूर्व के ऐसे अवशेष अल्प ही मिले हैं। सम्भव है उनका उपयोग और कोई कार्य में हो गया हो, जैसा कि **भद्रेश्वर** के अवशेषों का उपयोग ई.स. १८१० में **मुद्रा** ग्राम बसाने में हुआ था और **शकुनिकाविहार** का मस्जिद में। कलचुरि **बुद्धराज** का पुत्र **शंकरगण जैन** था। कल्याण में दैवी उपसर्ग को शान्त करने के लिए माणिकस्वामी की मूर्ति भी प्रतिष्ठापित की थी। कहा तो यह भी जाता है कि **कुल्पाकक्षेत्र (हैद्राबाद)** के मंदिर में १२ ग्राम इसने भेंट किये थे।

ओझाजी ने मंदिरों के चारों ओर देव कुलिकाओं का उल्लेख किया है, वह बावनजिनालय से संबंध रखा है। श्रीमान लोग इस प्रकार के मंदिर बनवाते थे। **चौलुक्य कुमारपाल** ने भी **ईडरगढ** पर ऐसा मंदिर बनवाया था^४। नन्दीश्वर द्वीप-रचना के मंदिर भी मिलते हैं।

दशम शती पूर्व के मैंने कुछ मंदिर देखे हैं, उनमें गर्भगृह और आगे मंडप भर रहता है। ज्यों-ज्यों समय बदलता गया और शिल्पकला विकसित होती गई, त्यों-त्यों प्रासाद-रचना शैली में भी उत्कर्ष होता गया। कलाकार भी

१. आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया वा. ९।

२. आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया वा. ६, पृ. २२।

३. चाणक्य ने अर्थशास्त्र में नगर में भिन्न-भिन्न देवमंदिर कैसे होने चाहिए इसका विधान किया है।

४. समकालीन आचार्य श्रीजिनपतिसूरि ने तीर्थमाला में इस प्रकार उल्लेख किया है-

ईडरगिरौ निविष्टं चौलुक्याधिपतिकरितं जिनं प्रथमं।



“प्रत्येक मंदिर और शिल्प की रूपभावना तथा कारीगरी का श्रेय प्रधानतः तत्कालीन कुशल कलाकारों को है । उनके प्रेरक भले ही धर्माचार्य, श्रीमान् या और कोई हों, पर कला का जहाँ तक प्रश्न है, यश के अधिकारी तो विश्वकर्मा की संतान ही है । उन्होंने ने अनेक शताब्दियों तक आश्रयदाताओं का प्रभाव और भावना वैभव-शिल्प की अशब्द रूपावली में अमल किया^१ ।”

उत्तर व पश्चिम भारत के मंदिरों के शिखर प्रायः नागरशैली के हैं, गुप्तकाल के बाद के मंदिरों के शिखर सापेक्षतः अलंकरणों से भरे मिलते हैं। उन पर जो सुललित अंकन पाया जाता है, वह कल्पना मिश्रित भावों की मौलिक देन है। न केवल पत्थर के ही शिखर मिलते हैं, पर ईंटों के भी पाये गये हैं। शिखरादि मंदिर के बाह्य अलंकरण और शैली शुष्क धर्ममूलक न होकर, कलामूलक भी रही है। इसे सजाने को कलाचार्यों ने भरसक चेष्टा की है। अंतर केवल इतना ही प्रतीत होता है कि जिस सम्प्रदाय का देवायतन होता था, उस पर धर्म के विशेष प्रसंग या देव-देवियों का अंकन रहता था।

जैसलमेर, राणकपुर, गिरनार, अहमदाबाद, शत्रुंजय, पाटण, खंभायत, आरंग, श्रवणबेलगोला, खजुराहो, देवगढ, हलेबीडे, आबू, कुंभारियाजी आदि स्थानों के मंदिरों को जिन्होंने विशुद्ध कला की दृष्टि से देखा है, वे इन पंक्तियों का अनुभव कर सकते हैं। बाह्य भागों में भीट, जगती, अन्तरपत्र, ग्रासपट्टी, नरथर, हंसथर, अश्वथर, गजथर, सिंहथर की खूदाई पर विशेष ध्यान दिया

जाता था । ये भारतीय शिल्पकला और जनजीवन के इतिहास की अनुपम सामग्री है । इनकी कोरनी, सूक्ष्मकल्पना और उदात्त भावना प्रत्येक को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है ।

शत्रुंजय का पहाड़ तो मंदिरों का नगर ही कहा जाता है । भिन्न-भिन्न शताब्दियों की शिल्प-कला के उत्कृष्ट प्रतीक आज भी वहाँ सुरक्षित हैं । पश्चिम के कुछेक मंदिरों पर एक बंगाली विद्वान् ने लिखा है-

“The Jainas choose wooded mountains and the most lovely retreats of nature for their Places of Pilgrimage and cover them with exquisitely carved shrines in white marble or dazzling stucco. Their contribution to Indian Art is of the greatest importance and India is indebted for a number of its most beautiful architectural monuments such as the splendid temples of Abu, Girnar and Satrunjaya in Gujarat¹.”

मंदिर का भीतरी भाग इन उपभागों में विभक्त रहता है-द्वारमंडप ‘शृंगारचौकी’, ‘नवचौकी’, ‘गूढमंडप’, ‘कोलीमंडप’ और ‘गर्भगृह’, जहाँ पर मूर्ति स्थापित की जाती है । गर्भगृह और गूढमंडप पर क्रमशः शिखर एवं गुम्बज रहते हैं । द्वारमंडप प्रायः सजा हुआ रहता है । दो स्तम्भों का तोरण भी कहीं-कहीं रखा जाता है । मुख्य द्वार पर मंगलचैत्य या जिनमूर्ति की आकृति का रहना आवश्यक है । भीतरी भागों में भी जो मुख्य मंडप रहता है-जहाँ साधक नर-नारी प्रभु-भक्ति करते हैं, वहाँ के सुललित अंकनवाले स्तंभों पर नृत्य करती हुई, या संगीत के विभिन्न वाद्यों को धारण करनेवाली, निर्विकार, पुत्तलिकाओं की भाव-सूचक मूर्तियाँ खुदी रहती हैं । इसे नृत्यमंडप भी कह सकते हैं । स्तम्भों पर आधृत छतों में वीतराग परमात्मा के समवसरण, या जिस तीर्थंकर का मंदिर है, उसके जीवन की विशिष्ट घटनाएं खुदी हुई पाई जाती हैं । कहीं-कहीं विशेष उत्सवों के भावों का प्रदर्शन भी देखा गया है । मधुच्छत्र इसी पर रहता है । आबु का मधुच्छत्र^२ भारतीय शिल्प-कला का अनन्य प्रतीक है ।

१. “डॉन” जुलाई १९०६

२. विमलवसहि वाले मधुच्छत्र के लिए “आर्किटेक्चर ऐट अहमदाबाद” देखना चाहिए ।



लूणिगवसहि के गुम्बज के मध्य भाग का लोलक इतना सुंदर और स्वाभाविक बना है कि इसके सामने इंग्लैंड के ७वें हेन्री वेस्ट मिनिस्टर के लोलक भावविहीन जँचते हैं^१। ऐसे मधुच्छत्र राणकपुर के मेघनाद मंडप में भी है। आबू में तो सोलह विद्यादेवियाँ उत्कीर्णित हैं। छत का विशेष प्रकार का अंकन जैन-मंदिरों को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता। नागपाश या एक मुख, या तीन या पाँच देहवाली आकृतियाँ द्वार के उपर रहती हैं। लोगों का ऐसा विश्वास रहा है कि इस प्रकार की आकृतियाँ बनाने से कोई भी छत्रपति इसके निम्न भाग से निकल नहीं सकता। मुगलकाल में भी इन आकृतियों का विशेष प्रचार रहा। मंदिर का भीतरी भाग प्रायः अलंकृत रहता है। जैन-वास्तुशास्त्र का नियम है कि कहीं पर भी प्लेईन प्रस्तर न रखा जाय।

गर्भगृह के मुख्यद्वार की चौखट पर भी कई आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। चँवरधारिणी नारियों के अतिरिक्त उभय ओर जिन-प्रतिमाएँ या देव-देवियों की मूर्तियाँ तथा जिन-प्रतिमाएँ रहती हैं। मध्यस्थ स्तम्भ पर तो निश्चितरूप से मूर्तियाँ रहती ही हैं। ऐसे दो तोरण मेरे संग्रह में सुरक्षित हैं। प्रयाग संग्रहालय में भी हैं। राजपूताना में भी ऐसी आकृतियों का बाहुल्य है। इन तारणों में लोकजीवन भी प्रतिबिम्बित होता है।

कुछ मंदिर भूमिगत भी हैं। और तीन-चार मंजिल के भी। तीर्थ स्थानों पर मन्दिरों की कला निखर उठती है। जैनों के वे मंदिर ही मध्यकालीन भारतीय वास्तुकला की अमूल्य निधि हैं। जैन संस्कृति का त्याग प्रधान रूप, इसके कण-कण में परिलक्षित होता है। जैन मंदिरों को जो लोग केवल धार्मिक स्थान ही समझे हुए हैं, उनसे मेरा यही निवेदन है कि, वे एक बार कलालता से परिचित हो जायँ तो उनका मत ही बदल जायगा। वे मंदिर न केवल जैनों के लिए ही उपयोगी हैं, अपितु भारतीय कला का उच्चतर कलातीर्थ भी हैं।

मुख्यतः मंदिरों के निर्माण में पत्थरों का प्रयोग होता था। मुनि श्री पुण्यविजयजी महाराज के संग्रहालय में एक धातु मंदिर भी है, जिस पर इस प्रकार लेख खुदा है-

॥ ८० ॥ स्वस्ति श्री नृपविक्रम संवत् १४६२ वर्षे मार्ग वदि ८,

१. विशेष के लिए “पिक्चर्स एण्ड इलेस्ट्रेशन्स ऑफ एन्शेण्ट आर्किटेक्चर इन हिन्दुस्तान” देखें।

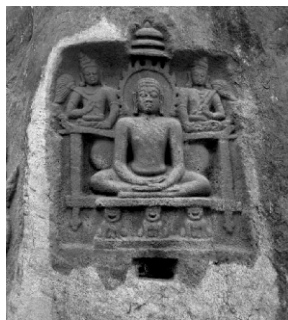


रवौ हस्ते साक्षाज्जगच्चन्द्र सदक्षश्चतुर्मुखः प्रासादः श्री संघेन कारितः॥
साधुधर्माकेन सुवर्णरूप्यैरलंकारितः ॥

जगत शेठ की माता माणिकदेवी ने भी एक रजतमंदिर अपने गृह के लिए बनवाया था। रजत परिकर तो कई मिलते हैं।

भारतीय कलातीर्थ स्वरूप जैनमंदिरों की कला का आजतक समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ, जैनों ने कभी इन पर ध्यान ही नहीं दिया, जैसे वह हमारी कलात्मक सम्पत्ति ही न हो। कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से “हिन्दू टेम्पल” नामक एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें दर्जनों चित्र हैं।

एक हंगेरियन स्त्री डॉ. स्टेला क्रेमरीश ने इसे सश्रम तैयार किया है। मैंने उनसे कहा था कि जैनमंदिरों के बिना, वह इतिहास और शिल्प का परिचय पूर्ण हो ही नहीं सकता। उसने कहा कि मेरा दुर्भाग्य है कि मैं जैनाश्रित कलाकृतियों को श्रम करके भी प्राप्त न कर सकी। कुछ स्थानों पर मैं गई तो चित्र लेने ही नहीं दिये और शाब्दिक सत्कार की तो बात ही क्या! मैं तो बहुत ही लज्जित हुआ कि आज के युग में भी हमारा समाज संशोधन को न जाने क्यों धृणा की दृष्टि से देखता है। मेरे लिखने का तात्पर्य इतना ही है कि हमारी सुस्ती हमें ही बुरी तरह खाये जा रही है, न जाने आगामी सांस्कृतिक निर्माण में जैनों का कैसा योगदान रहेगा, वे तो अपने ही इतिहास के साधनों पर उपेक्षित मनोवृत्ति रक्खे हुए हैं।



१. जिन मंदिर रुपातणो, गृह में सरस बनाय ।

प्रतिमा सोना रजतनी, थापी श्रीजिनराय ॥

-यति निहाल कृत माणिकदेवी रास (रचना सं. १७८९ पोष कृ. १३)

जैन तीर्थंकर प्रतिमाएँ

जैन-पुरातत्त्व की मुख्य वस्तु है मूर्ति । जैन साहित्य में इसकी अर्चना का विशद वर्णन है, परंतु उपलब्ध मूर्तियों का इतिहास ईस्वी पूर्व ३०० से उपर नहीं जाता । यों तो मोहन-जो-दड़ो और हरप्पा के अवशेषों की कुछ आकृतियाँ ऐसी हैं जिन्हें जिन-मूर्ति कहा जा सकता है, पर यह प्रश्न अभी विवादास्पद सा है । मौर्यकालीन कुछ मूर्तियाँ पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं । इस पर की पालिश ही इसका प्रमाण है कि वे मौर्य युगीन हैं । सम्प्रति सम्राट् द्वारा अनेक मूर्तियाँ बनवाने के उल्लेख आते हैं, पर मूर्तियाँ अभी तक उपलब्ध नहीं हुई । जो मूर्तियाँ सम्प्रति के नाम के साथ जोड़ी जाती हैं, वे इतनी प्राचीन नहीं हैं । काफी बाद की प्रतीत होती हैं । मथुरा में जैन मूर्तियों का निर्माण पर्याप्त परिमाण में हुआ । आयागपट्ट भी मिले हैं । डॉ. वूलर कहते हैं-“आयागपट्ट” यह एक विभूषित शिला है, जिनके साथ ‘जिन’ की मूर्ति या अन्य कोई पूज्य आकृति जुड़ी हुई रहती है । इनका अर्थ “पूजा या अर्पण की तख्ती” कर सकते हैं, कारण कि अनेक शिलोत्कीर्ण लेखों के उल्लेखानुसार “अर्हंतों की पूजा” के लिए ऐसी शिलाएँ मंदिर में रखी जाती थीं । ये आयागपट्ट कला की दृष्टि से भी बहुत ही महत्वपूर्ण होते थे । चारों ओर विभिन्न अलंकरणों के मध्य भाग में पद्मासनस्थ जिन रहते हैं । कुछ आयागपट्टों में लेख भी मिले हैं । इन्हें जैनों की मौलिक कृति कहें तो अत्युक्ति न होगी । इन पट्टों पर ईरानी कला का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है । जैनाश्रित कला के ये प्रयत्न विशुद्ध असाम्प्रदायिक हैं ।

इन आयागपट्टों में त्रिशूल एवं धर्मचक्र के चिह्न भी पाये जाते हैं जो

१. धर्मचक्र-यहाँ पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वस्तुतः धर्मचक्र का इतिहास क्या है ? यों तो श्रमण-संस्कृति की एक धारा बौद्धधर्म से इसका संबंध आमतौर से माना जाता है । बौद्ध-संस्कृति से प्रभावित इतिहासकारों ने माना है कि वह बौद्धपरंपरा की मौलिक देन है । वे मानते हैं कि वाराणसी के पास सारनाथ में भगवान बुद्ध ने प्रथम देशना देकर धर्मचक्र प्रवर्तन किया और अशोक ने इस प्रतीक को राजकीय संरक्षण दे इसे और भी व्यापक बना दिया, परंतु वास्तविक सत्य तो कुछ और है । बात यह है कि यह प्रतीक मूलतः जैनों का है । यों तो



जैन धर्ममान्य मुख्य प्रतीक है ।

कुषाणकालीन जैनमूर्तियां भावशिल्प की अनन्य कलाकृतियाँ हैं । उन दिनों मूर्तिकला उन्नति के शिखर पर थी । कला और सौन्दर्य के साथ विभिन्न अलंकरणों से विभूषित थीं । इस युग की मूर्तियां आदि जैनाश्रित शिल्प पर वैदेशिक प्रभाव स्पष्ट है । उन दिनों पद्मासन और खड्गासन तथा सपरिकर और अपरिकर दोनों प्रकार की मूर्तियां बनती थीं । उस समय का परिकर सादा था । **मथुरा** जैनसंस्कृति का व्यापक केन्द्र था । आज भी वहाँ पर खुदाई की अपेक्षा है ।

बुद्धमूर्ति इन्हीं जैनमूर्तियों का अनुकरण मात्र है । कुछ लोगों का अनुमान है कि **मोहन-जो-दडो** की कला का प्रभाव जैनमूर्तियों पर पड़ा है । मूर्तिकला का व्यापक प्रचार होते हुए भी उस समय का साहित्य मौन है । हाँ, आगमों में इनकी अर्चना-विधि का विशद वर्णन उपलब्ध होता है । ऐसी स्थिति में सिन्धु सभ्यता के प्रभाव की कल्पना काम कर सकती है । पर एक बात है । **मोहन-जो-दडो** और कुषाणयुग के बीच की शृंखला जोड़नेवाली सामग्री नहीं मिलती है । केवल साहित्यिक उल्लेखों से ही संतोष करना पड़ता है । हाँ परवर्ती साहित्य में संकेत अवश्य मिलता है, पर वह नाकाफी है ।

भारत के विभिन्न कोनों में जैनमूर्तियों की उपलब्धि होती ही रहती

पौराणिक साहित्य से स्पष्ट भी है कि इसकी प्रवर्तना जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव तीर्थंकर के द्वारा तक्षशिला में हुई । यह तो हुई पौराणिक अनुश्रुति, परंतु विशुद्ध साहित्यिक उल्लेख के अनुसार देखें तो भी जैन उल्लेख ही प्राचीन ठहरता है जो आवश्यक सूत्र निर्युक्ति में इस प्रकार है-

“ततो भगवं विरहमाणो बहलीविसयं गतो, तत्थ बाहुबलीस्स रायहाणी तक्खसिला णामं तं भगवं य पत्तो, बाहुबलीस्स, वियाले णिवेदत्तं जहा सामी आगतो । कल्लं सव्विड्ढिह वंदिस्सामि त्ति ण णिगतो, प्रभाते सामी विहरंतो गतो । बाहुबलीवि सविड्ढिह णिगतो, जहा दसन्न विभासा, जाव सामी ण पच्छेति, पच्छ अधिर्त्ति काऊण जत्थ भगवं वुत्थो तत्थ धम्मचक्रं चिन्धकारेति । तं सव्वर यणमयं जोयणपरिमंडलं, जोयणं च ऊसितो दंडो, एवं केई इच्छति । अत्रे भणंति-केवलनाणे उप्पन्ने तहिंगतो, ताहे सलोगेणं धम्मचक्रवि भूती अक्खाता, तेण कतंति ।”

-आवश्यक सूत्र निर्युक्ति, पृष्ठ १८०-१८१

पटना आश्चर्यगृह में ताम्र का एक धर्मचक्र सुरक्षित है, जो जैन विभाग में रखा गया है ।



है। “जिन” की मौलिक मुद्रा एक होते हुए भी परिकर में प्रान्तीय प्रभाव पाया जाता है। मुखाकृति पर भी असर होता है। इन मूर्तियों का नृतत्वशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन करें तो उनको इन विभागों में बांटना होगा। **उत्तरभारतीय, दक्षिणभारतीय और पूर्वभारतीय**; उत्तरभारतीय-गुजरात, राजस्थान, पंजाब, महाकोसल, मध्यप्रदेश, मध्यभारत और उत्तरप्रदेश की प्रतिमाओं में एक ही शैली मिलती है। मुखाकृति, शरीराकृति और अन्य उपकरणों में काफी साम्य है। दक्षिणभारत द्राविड सभ्यता का दुर्ग माना जाता है। अतः वहाँ की जैन-मूर्तियों पर भी उसका प्रभाव है। उपर्युक्त सूचित शैली से काफी भिन्नत्व है। पूर्वी भारत की मूर्तियाँ तो अपना स्वतंत्र स्थान रखती हैं। वहाँ के कलाकारों ने अपने प्रान्त के उपकरणों का खूब प्रयोग किया है। उनकी मुखाकृति और नासिका तथा परिकर की रचना-शैली ही स्वतन्त्र है। वर्णित तीनों प्रकार की कला-कृतियाँ भूगर्भ से प्राप्त हो चुकी हैं।

उत्तरभारतीय मूर्तिकला के उत्कृष्ट प्रतीक मथुरा, लखनऊ और प्रयाग के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। बहुसंख्यक प्रतिमाएँ पुरातत्त्वविभाग की उदासीनता के कारण खंडहर और अरण्य में जंगली जातियों के देवों के रूप में पूजी जाती हैं। उत्तरभारत के खंडहर और जंगलों में, पाद-भ्रमण कर मैंने स्वयं अनुभव किया है कि सुन्दर से सुन्दर कला-कृतियाँ आज भी उपेक्षित हैं। इनकी रक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं है। उत्तर भारतीय मूर्तियों के परिकर को गंभीरता से देखा जाय तो **भरहुत** और **साँची** के अलंकरणों का समन्वय परिलक्षित हुए बिना न रहेगा। मूर्ति के मस्तक के पीछे का भामंडल और स्तम्भ तो कई मूर्तियों में मिलेंगे। पूजोपकरण भी मिलते हैं, जो स्पष्टतः बौद्ध-प्रभाव हैं।

उड़ीसा के **उदयगिरि** और **खंडगिरि** में इस काल की कटी हुई जैन गुफाएँ हैं, जिन में मूर्तिशिल्प भी है। इनमें से एक का नाम **रानीगुफा** है। यह दो मंजली है और इसके द्वार पर मूर्तियों का एक लम्बा पट्टा है, जिसकी मूर्तिकला अपने ढंग की निराली है। उसे देखकर यह भाव होता है कि वह पत्थर की मूर्ति न होकर एक ही साथ चित्र और काष्ठ पर की नक्काशी है!

मुझे उड़ीसा में विचरण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। **सम्बलपुर** और कटक जिले में बहुत से जैन अवशेष आरक्षित दशा में पड़े हैं। इस ओर काष्ठ का काम पर्याप्त होता है। मुझे भी एक काष्ठ की जैनप्रतिमा प्राप्त हुई



थी। उड़ीसा की कला का एक जैन मंदिर का सम्पूर्ण तोरण आज भी पटना के दीवान बहादुर श्रीयुत राधाकृष्ण जालान के संग्रह में सुरक्षित है। इस पर चतुर्दश स्वप्न और कलश उत्कीर्णित है। जैन दृष्टि से इस ओर अन्वेषण अपेक्षित है^१।

उत्तरभारतीय जैनमूर्तिकला में सामाजिक परिवर्तन और प्रान्तीय प्रभाव स्पष्ट है। उदाहरणार्थ महाकोसल और गुजरात को ही लें। महाकोसल और विन्ध्यप्रान्त की जैन मूर्तियाँ भावों की दृष्टि से एक-सी हैं, पर उनके परिकरों में दो-तीन शताब्दी बाद काफी परिवर्तन होते रहे हैं। अष्टप्रातिहार्य के अतिरिक्त श्रावकों की जो मूर्तियाँ सम्मिलित होती गईं, उनसे परिवर्तन की कल्पना हो सकती है। कुषाणकालीन प्रभामंडल सादा था, गुप्तकाल में अलंकरणों से अलंकृत हो गया और गुप्तोत्तर काल में तो वह पूरी तौरसे, इतना सज गया कि मूल प्रतिमा ही गौण हो गई। महाकोसल एवं तत्सन्निकटवर्ती प्रदेशों के परिकरों में साँची के प्रभाव के साथ कलचुरियों के समय की मूर्तिकला में व्यवहृत उपकरणों का भी प्रभाव है।

मेरा जहाँ तक विश्वास है महाकोसल का परिकर बड़ा सफल और सजीव बन पड़ा है। इसके विकास में सिंहासन के आकारों में स्वतंत्रता और मौलिकता है। प्रभामंडल और छत्र भी अपने हैं। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि कुछ मूर्तियाँ तेवर और बिलहरी में ऐसी भी मिली हैं, जिन पर सम्पूर्ण शिखराकृति आमलक, कलश के भाव खुदे हैं। अपने आप में वे मन्दिर का रूप लिये हुए हैं। एक और विशेषता है। इस ओर दिगम्बर जैनों का प्राबल्य है। अतः बाहुबलीजी भी परिकर में सम्मिलित हो गये हैं। तीर्थंकरों के जीवन की मुख्य घटनाएँ भी आ जाती हैं। इस पर मैंने अन्यत्र विचार किया है।

खड्गासन मूर्तियाँ जो गुप्तोत्तरकालीन और सपरिकर हैं, उन पर गुप्तमंदिरों की शैली का बहुत असर है। ऐसी एक खड्गासनस्थ प्रतिमा मेरे निजी संग्रह में सुरक्षित है। इसका परिकर बड़ा सुन्दर और सर्वथा मौलिक है। इसमें दोनों ओर दो उड़ते हुए कीचक बतलाये गये हैं। पेट भी निकले हुए हैं, मानों सारा वजन उन्हीं पर हो। ऐसी आकृति गुप्तकालीन मन्दिरों के

१. “बाँकुडा जिला तो बिलकुल अछूता ही है, जो ओरिसा की सीमा पर है। लाल पाषाण पर जैन अवशेष प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं। श्री राखालदास बनरजी ने कुछ अन्वेषण किया था, पर वह प्रकाशित न हो सका। मुझे श्रीकेदार बाबू (सं. मोडर्न रिव्यू) ने यह सूचना दी थी।”



जैन धातु, काष्ठ एवं रत्नों की तीर्थंकर प्रतिमाएँ



कलाकार आत्मस्थ सौन्दर्य को उत्प्रेरक कल्पना के सम्मिश्रण से उपादान द्वारा रूप प्रदान करता है। इसमें उपादान की अपेक्षा आन्तरिक सुकुमार भावों की ही प्रधानता रहती है। तात्पर्य कि उपादान कैसा ही क्यों न हो, यदि कलाकार में सौंदर्य-सृष्टि की उत्कृष्ट क्षमता है, तो वह भावों का व्यक्तिकरण सफलतापूर्वक कर देगा। जैनाश्रित कलाकारों ने यही किया। इसी कारण जैन-मूर्ति-कला में सभी प्रकार के उपादानों का सफलतापूर्वक उपयोग हुआ।

सुरक्षा की दृष्टि से धातु की उपयोगिता विशेष मानी गई है। प्रस्तरमूर्ति में खंडित होने की संभावना रहती है। कालान्तर में पपड़ियाँ पड़ जाती हैं। कभी-कभी भक्त की असावधानी से उपांग खंडित हो सकता है; पर धातु मूर्तियाँ इन सब का अपवाद है। अभी तक पुरातत्त्व के विद्वान मानते आये थे, कि धातु की सर्वोत्कृष्ट प्रतिमाएँ बुद्धदेव ही की उपलब्ध होती हैं, जैन लोग धातु-मूर्ति-निर्माण कला में बहुत ही पश्चात्पद हैं, परंतु गत दश वर्षों में अनुसन्धान द्वारा जितनी भी जैन-धातु-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, वे न केवल धर्म एवं जैनाश्रित कला की दृष्टि से ही महत्व की हैं, अपितु भारतीय मूर्तिनिर्माण परंपरा के इतिहास का नवीन अध्याय खोलती हैं। इन मूर्तियों ने प्रमाणित कर दिया है कि गुप्त काल में इस प्रकार की कलाकृतियों का सर्जन न केवल उत्तरभारत या बिहार में ही होता था, अपितु पश्चिम भारतवासी शिल्पी भी एतद्विषयक मूर्तिनिर्माण पद्धति से अनभिज्ञ न थे। उपलब्ध जैन-धातु-प्रतिमाओं का विवेचनात्मक इतिहास उपलब्ध नहीं है, पर तद्विषयक सामग्री पर्याप्त है। अब समय आ गया है कि विशृंखलित कड़ियों को एकत्र कर शृंखला का रूप दें।

धातुमूर्ति-निर्माण-कला का केन्द्र कुर्किहार या नालिन्दा माना जाता रहा है। यहाँ बौद्ध-संस्कृति के उपकरणों को कलाचार्यों द्वारा रूपदान दिया जाता था। यों भी बौद्धों ने सापेक्षतः रूप-निर्माणकला में पर्याप्त उन्नति की है। जब अनुकूल उपकरण मिल जायँ, तो फिर चाहिए ही क्या। चीनी पर्यटकों के यात्रा-विवरणों व तात्कालिक ग्रन्थस्थ उल्लेखों से सिद्ध होता है कि 'मगध'

प्राचीन काल में श्रमण परम्परा का महाकेन्द्र था। गुप्त-काल में जैन संस्कृति उन्नत रूप में थी। यद्यपि इस काल की शिल्पकृतियाँ आज मगध में कम उपलब्ध होती हैं, पर राजगृह की विभिन्न टोकों पर एवं पाँचवीं टोंक के भग्न जैन-मंदिर में जैन-मूर्तियाँ उपलब्ध हैं, वे न केवल गुप्तकालीन मूर्तिकला में व्यवहृत अलंकरणों से विभूषित हैं, अपितु कुछ एक तो ऐसी भी हैं जिनकी तुलना गुप्तकालीन बौद्ध मूर्तियों से सरलतापूर्वक की जा सकती है। उन दिनों जैन-धातु-मूर्तियों का निर्माण मगध में हुआ था या नहीं? यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किन्तु पटना आश्चर्य गृह में जैन-धातु-मूर्तियों का अच्छा-सा संग्रह सुरक्षित है। साथ ही एक धर्मचक्र भी है। इन कृतियों पर लेख का अभाव होते हुए भी ये गुप्तोत्तर और गुप्त काल के मध्य की रचनाएँ हैं। कारण कि मगध की क्रमिक विकसित मूर्ति-परम्परा के अध्ययन की स्पष्ट छाप है। उपर्युक्त संग्रह मगध से ही प्राप्त किया गया है।

भारत-कला-भवन (बनारस) में एक सुन्दर लघुतम जैन-धातु-मूर्ति देखी थी, जो मूलतः **स्वर्णगिरी** के भट्टारक की थी, जैसा कि कटनी के एक जैन तरुण द्वारा ज्ञात हुआ। यह गुप्तकालीन है।

कुछ वर्ष पूर्व **बडौदा** राज्यान्तर्गत विजापुर के निकट **महुडी** ग्राम के कोट्यर्कजी के मंदिर में खुदाई के समय, चार अत्यन्त सुंदर व कलापूर्ण जैन-धातु-प्रतिमाएँ, अन्य स्थापत्यों के साथ उपलब्ध हुई थी। जिनमें से तीन तो बडौदा पुरातत्त्व विभाग ने अधिकृत कर लीं, एवं एक उसी मन्दिर के महंत संरक्षण में है। सीमेंट से दिवाल में जड दी गई है। इन चारों मूर्तियों के चित्र, **रिपोर्ट ऑफ दि आर्क्योलॉजिकल सर्वे बडौदा स्टेट १९३७-३८** में प्रकाशित है। मूर्ति विज्ञान का सामान्य अभ्यासी भी इसके जैन होने की लेशमात्र भी शंका नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में तात्कालिक पुरातत्त्व विभाग के प्रधान डाक्टर **हीरानन्द शास्त्री** ने इन कृतियों को बौद्ध घोषित कर दिया। जब कि इन पर खुदे हुए लेख भी, जैन परम्परा से जुड़े हुए हैं। शास्त्रीजी के भ्रान्त मत का निरसन डाक्टर **हसमुखलाल सांकलिया**^१ व **श्रीयुत साराभाई**^२ नवाब ने भलीभाँति कर दिया है। डाक्टर शास्त्रीजी ने इन मूर्तियों के अध्ययन में जैन दृष्टिकोण का बिलकुल उपयोग नहीं किया है, जैसा कि

१. बुलेटिन ऑफ दि डेक्कन कालेज रिसर्च इन्स्टिट्यूट, मार्च १९८०।

२. भारतीय विद्या भाग १, अंक २, पृष्ठ १७९-१९४।

उनके द्वारा उपस्थित किये गये मन्तव्यों से ज्ञात होता है। डाक्टर शास्त्रीजी इन मूर्तियों में से, दीवाल में लगी मूर्ति का समय सातवीं शती स्थिर करते हैं। उनके असिस्टेंट श्री गद्रे ई.स. ३०० मानते हैं और श्री साराभाई नवाब “वैरिगण” शब्द से इससे भी दो शताब्दी आगे ले जाते हैं, पुरातन धातु प्रतिमाओं में यही एक मूर्ति सलेख है।

जैन-मूर्ति-कला के विषय में विद्वानों में एक भ्रम फैला हुआ है। “प्राचीनतर मूर्तियों में, केश, कंधों पर खुले गिरे होते हैं। प्राचीन जैन तीर्थंकर मूर्तियों के न तो ‘उष्णीय’ होता है न ‘ऊर्णा’ परंतु मध्यकालीन प्रतिमाओं के मस्तक पर एक प्रकार का हल्का शिखर मिलता है।”^१ उपर्युक्त पंक्तियों में सत्यांश बहुत कम है। पुरातन जैन-धातु-प्रतिमाओं में एवं कहीं-कहीं प्रस्तर प्रतिमाओं में भी ‘उष्णीय’ व ‘ऊर्णा’ का अंकन स्पष्टतः मिलता है, एवं स्कंध प्रदेश पर फैले हुए बाल तो केवल ऋषभदेव स्वामी की मूर्ति में मिलेंगे। यह उनकी विशेषता है। इसकी सप्रमाण चर्चा मैं अन्यत्र कर चुका हूँ।

यह लिखने का एकमात्र कारण यही है कि उल्लिखित जैन-धातु-प्रतिमा में, जो प्राचीन है, ‘उष्णीय’ ‘ऊर्णा’ स्पष्ट है। मूर्ति पर लेख उत्कीर्णित है-

“नम (:) सिद्ध (नम्) वैरिगणत.. उप (रि) का-आर्य-संघ-श्रावक-” अभी-अभी बडौदा राज्यान्तर्गत अँकोटक^२ अकोटा के अवशेषों में से पुरातन और अत्यन्त महत्वपूर्ण जैन-धातु-प्रतिमाओं का अन्यतम संग्रह प्राप्त हुआ है। बडौदा में मगनलाल दर्जी के यहाँ खुदाई के समय भी धातु-मूर्तियों का अच्छा संग्रह उपलब्ध हुआ है। इनमें से कुछ एक का परिचय वहाँ के ही श्रीयुत उमाकान्त^३ प्रेमानन्द शाह ने व पंडित लालचन्द्र^४ भगवानदास गांधी ने

१. रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे बडौदा स्टेट १९३७-३८।

२. वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २२६।

३. गुजरात की प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री से परिपूर्ण नगरों में इसकी भी परिगणना की जाती है। विक्रम की नवीं शताब्दी में लाटेश्वर सुवर्ण-वर्ष-कर्क राज्य-काल में अँकोटक भी चौरासी ग्रामों का मुख्य नगर था। शक संवत् ७३४, विक्रम संवत् ६६६ के दान-पत्र से विदित होता है कि नवम-दशम शताब्दी में अँकोटक का सांस्कृतिक महत्व अत्यधिक था। जैनों का निवास भी प्राप्त मूर्तियों से प्रमाणित होता है।

४. जर्नल अफ ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बरोरा, वॉ. १. नं. १, पृ. ७२-७९।

५. जैन-सत्यप्रकाश, वर्ष १६, अंक १०।

अपने लेखों में दिया है ।

नवोपलब्ध मूर्तियाँ भारतीय जैनमूर्ति विधान में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकें, ऐसी क्षमता है । इन प्रतिमाओं में एक प्रतिमा ऐसी है, जिस पर -

ओं देवधर्मोयं निवृत्तिकुले जिनभद्र वाचनाचार्यस्य ॥

शब्द अंकित^१ है । श्री शाह का ध्यान है कि यह **जिनभद्रगणी** क्षमाश्रमण, 'विशेषावश्यकभाष्य' के रचयिता ही है । इसके समर्थन में वे उपर्युक्त लेख की लिपि को रखते हैं-जिसका काल ईस्वी पाँच सौ पचास से छह सौ पड़ता है । वलभी के मैत्रकों के ताम्रपत्रों की लिपि से यह लिपि मेल खाती है ।

सापेक्षतः यह मूर्ति, कला की दृष्टि से भी, प्राप्त मूर्तियों में पुरातन जँचती है । प्रकाशित चित्रों पर से मूर्तियों का सौन्दर्य देखा जा सकता है । मध्य भाग में भगवान युगादिदेव की प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है । तन पर वस्त्र^२ स्पष्ट है । चरण के निकट उभय मृग, साश्चर्य मुख-मुद्रा में उपर की ओर झाँक रहे हैं । बाईं और कुबेर (द्विहस्त) और दाईं और अम्बिका^३ है । इसकी रचनाशैली स्वतंत्र है । पृष्ठ भाग में लेख उत्कीर्णित है । इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है । श्री शाह सूचित करते हैं कि मूर्ति के पास २ छिद्र हैं, उसमें २३ तीर्थंकरों की, प्रभावकी युक्त पट्टिका थी, अब भी दुरावस्था में है । मूर्ति 'सौष्णीष' है ।

जीवन्तस्वामी

उपर्युक्त प्रतिमा की सामान्य चर्चा तो इस निबंध में हो चुकी है, परन्तु इस भाववाली प्रतिमा का सक्रिय स्वरूप कैसा था ? और किस शती तक वैसा रहा, आदि महत्वपूर्ण विषय पर, प्राप्त मूर्ति से प्रकाश पड़ेगा । जीवन्तस्वामी की मान्यता का सांस्कृतिक रूप कैसा था ? इसका पता **वसुदेव^४ हिंडी,**

१. एक अन्य प्रतिमा पर "ओं निवृत्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य" लेख है ।

२. वस्त्र भी पुरातन शैली का है । छोटे-छोटे फूलों से सुसज्जित किया गया है, जैसा कि उस काल की अन्य मूर्तियों में देखा जाता है । उस समय की वस्त्र-निर्माण-पद्धति का परिचय इससे मिल सकता है । धोती में गाँठ बाँधने का ढंग वसंतगढ़ की प्रतिमाओं से मिलता-जुलता है ।

३. अम्बिका देवी के तन पर पड़े हुए वस्त्र, उसकी आँख, नासिका, मुखमुद्रा, आदि का तुलनात्मक अध्ययन, ताडपत्रीय चित्रों से होना चाहिए ।

४. भाग १ पृ. ६१ ।

बृहत्कल्पभाष्य^१ निशीथचूर्णि^२ और त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र आदि ग्रन्थों के परिशीलन से लगता है^३। यों तो कतिपय धातु-मूर्तियाँ भी इस नाम की मिलती हैं, पर उनमें 'भावयति'का अंकन न होकर, वीतरागावस्था का सूचन करती है। हाँ, अंकोट से प्राप्त प्रतिमा इस विषय पर प्रामाणिक प्रकाश डालती है। प्रतिमा दुर्भाग्य से खंडित है। दाहिना हाथ टूट गया है। पादपीठ युक्त मूर्ति की ऊँचाई १५.५ इंच है। चौड़ाई ४.५ इंच है। तीन टुकड़ों में विभक्त निम्न लेख उत्कीर्णित है।

१. ओं देवधर्मोयं जिवंतसामि

२. प्रतिमा चन्द्र कुलिकस्य

३. नागीश्वरी (१ नागीश्वरी) श्राविकस्याः (कायाः)

अर्थात्-ओं यह देवनिमित्त दान है, जीवन्तसामी प्रतिमा का, चन्द्रकुल की नागीश्वरी नामक श्राविका की ओर से”

लेख की मूललिपि में ‘च’ के आगे स्थान छूटा हुआ है। सम्भव है ‘न्’ छूट गया हो। प्रकाशित लिपि की तुलना, ई.स. ५२४-६०० के बीच के वल्लभी के मैत्रकों की दानपत्रों की लिपि से, की जा सकती है।

हाँ इसकी मोड में अन्तर अवश्य पड़ेगा-पर बहुत थोड़ा। उपर्युक्त लेख में प्रतिष्ठा काल का उल्लेख नहीं है, अतः लिपिके आधार पर ही कल्पना की जा सकती है। श्री शाह ने इसका आनुमानिक काल ई.स. ५५ लगभग स्थिर किया है।

प्रतिमा कला का उच्चतम प्रतीक है। देखकर अन्तर्नयन तृप्त होते हैं। मस्तक पर मुकुट है। कर्ण में कुंडल, हाथों में बाजूबन्द व कड़े, गले में मौक्तिकमाला, कमरबन्द आदि राजकुमारोचित आभूषणों से विभूषित है। मुखमुद्रा प्रशान्त व प्रसन्न है। इसकी निर्माणशैली, सापेक्षतः स्वतंत्र जान

१. भाग ३, पृ. ७७६।

२. ताडपत्रीय पोथी जो आचार्य श्री जिनकृपाचंद्रसूरि-संग्रह (सूरत) में सुरक्षित है। १२ वीं शताब्दी की यह प्रति सूरत के एक सज्जन से वि. सं. १९९३ में पूज्य गुरुवर्य श्री उपाध्याय मुनि सुखसागरजी महाराज को प्राप्त हुई थी। पाठ इस प्रकार है।

“अण्णया आयरिया वतिदिशं जियपडिमं वंदिया गता ।”

३. जैन-सत्यप्रकाश वर्ष १७, सं. ५-६, पृ. ९८-१०९।

पडती है ।

इसी प्रकार की धातुमूर्ति, आठवीं शती की, सं. १९५६ में अकाल के समय प्राप्त हुई थी, जो वर्तमान में **पिंडवाडा में** सुरक्षित है^१ । प्रतिमा आदिनाथ भगवान की है । चार फुट से कुछ अधिक ऊँची है । ऐसी एक और प्रतिमा है, जिस पर इस प्रकार पाँच पंक्ति में लेख उत्कीर्णित है—

१. ओम नीरागत्वादिभावेन सर्वज्ञत्व विभावकं ।

ज्ञात्वा भगवतां रूपं, जिनानामेव पावनं ॥

द्रो-वयक

२. यशोदेव देव..... भि... रिदं जैन-कारितं युग्ममुत्तमं ॥

३. भवशतपरंपरार्जित - गुरुकर्मरसो (जो)

.....त ... वर दर्शनाय शुद्धसज्जनचरणलाभाय ॥

४. सवंत ७४४ ।

५. साक्षात्पितामहेनेव, विश्वरूपविधायिना ।

शिल्पिना शिवनागेन कृतमेतज्जिनद्वयम् ॥^२

इस प्रकार के मूर्ति लेख कम मिलते हैं । जिनमें मूर्ति-निर्माण का कारण व लाभ बताये गये हों, और स्थपति का भी नामोल्लेख हो । धातु-प्रतिमाएं, आठवीं शती की सूचित मंदिर में हैं ।^३

१. इसका पूर्ण परिचय “नागरी प्रचारिणी पत्रिका” (बनारस) के नवीन संस्करण भा. १, अं. २, पृ. २२१-२३१ में, मुनि श्री कल्याणविजयजी द्वारा दिया गया है ।

२. वीतरागत्वादि गुण से सर्वज्ञत्व प्रकट करानेवाली, जिनेश्वर भगवन्तों की मूर्ति ही है । (ऐसा) जानकर..... यशोदेव.... आदि ने यह जिनमूर्तियुगल बनवाया । शताधिक भव परम्परयोपार्जित कठिन कर्मरज (नाशार्थ एवं) सम्यग्दर्शन, विमल ज्ञान और चारित्र के लाभार्थ, वि.सं. ७४४ (में यह युगल मूर्ति की प्रतिष्ठा हुई) साक्षात्ब्रह्मा समान सर्व प्रकार के रूप (मूर्तियाँ) निर्माता शिल्पी शिवनाग ने इसे बनाया ।

— श्री जैनसत्य प्रकाश वर्ष ७ अं. १-२-३, पृ. २१७ ।

३. स्व. बाबू पूर्णचन्द्र नाहर के संग्रह में ८वीं शती की एक मूर्ति है जिसमें कनाडी लेख है । मूर्ति अत्यन्त सुंदर है ।

—“रूपम्” १९२४, जनवरी, पृ. ४८ ।



वांकानेर (सौराष्ट्र) व अहमदाबाद के मंदिरों में सातवीं आठवीं शताब्दी की धातुमूर्तियाँ सुरक्षित हैं। इसी काल की जैनधातु-मूर्तियाँ दक्षिण भारत में भी पाई जाती हैं।

जोधपुर के निकट गांधाणी तीर्थ में भ. ऋषभदेव स्वामी की धातुमूर्ति ९३७ की है, लेख इस प्रकार है—

१. ओम ॥ नवसु शतेष्वब्दानां । सप्ततृ (त्रिं) शदधिकेश्वतीतेषु । श्रीवच्छलांगलीभ्यां

२. परमभक्त्या ॥ नाभयेजिनस्यैषा ॥ प्रतिमाऽषाढाब्दमासनिष्यन्ना श्रीम—

३. तारेणकलिता । मोक्षार्थं कारिता ताभ्यां ज्येष्ठार्यपदं प्राप्तौ द्वावपि

४. जिनधर्मवच्छलौ ख्यातौ । उद्योतनसूरेस्तौ । शिष्यो श्रीवच्छ-बलदेवौ ॥

५. सं. ९३७ अषाढाब्दे ।^१

११वीं शताब्दी

श्री मगनलाल दर्जी के संग्रह की धातुमूर्तियाँ अभी ही प्रकाश में आई हैं, उसमें जो मूर्तियाँ हैं, उनकी संख्या तो अधिक नहीं है, पर ग्यारहवीं शती के बाद या उससे कुछ पूर्व मूर्तिनिर्माण में सामयिक परिवर्तन होने लगे थे, उनके क्रमिक विकास पर प्रकाश मिलता है। इसके समर्थन में, लेखयुक्त अन्य प्रतीकों की भी अपेक्षा है, इनसे ज्ञात होगा कि हमारी धातुशिल्प परंपरा कितनी विकसित रही है। इनको मैं प्रान्तीय कलासीमा में न बांधकर भारतीय संस्करण कहना अधिक उपयुक्त समझूंगा।

श्वेताम्बर जैन परंपरा में निवृत्तिकुलीन आचार्य **द्रोणाचार्य** का स्थान महत्वपूर्ण है। ये राजमान्य आचार्य गुजरेश्वर **भीम** के मामा थे। **श्री अभयदेवसूरि** रचित नवांगवृत्तियों के संशोधन में आपने सहायता की थी। ये स्वयं भी ग्रन्थकार थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित धातुमूर्ति^२ पर इस प्रकार लेख खुदा है।

१. जैनलेखसंग्रह भा. १, लेखांक १७०९।

२. मगनलाल दर्जी के संग्रह से प्राप्त हुई।

“देवधर्मायं निवृत्तिकुले श्री द्रोणाचार्यैः कारितो जिनत्रयः ।

संवत् १००६”

स्व. बाबू पूर्णचंद्रजी नाहर के संग्रह में सं. १०११^१, कडी^२ के जैन मंदिर में शक ९१० (वि.सं. १०४५), गोडीपार्श्वनाथ मंदिर में (बम्बई) वि.सं. १०६३^३, नाहर संग्रह में सं. १०७७^४ की, कलकत्ता तूलापट्टी स्थित खरतरगच्छीय बृहत्मंदिर स्थित वि.सं. १०८३^५, सं. १०८४ की भीमपल्ली^६ रामसेन स्थित मूर्ति, सं. १०८६ की जैसलमेरीय प्रतिमा, ओसीया (राजस्थान) की सं. १०८८^७ की, और गौडीपार्श्वनाथ^८ मंदिर (बम्बई) की वि. सं. १०९० मूर्तियों के अतिरिक्त अभी भी अनेक मूर्तियां अन्वेषण प्रतीक्षा में हैं । उदाहरणार्थ बीकानेर^९ के चिन्तामणि पार्श्वनाथ मंदिर के भूमिगृह में १०५० से अधिक जैन-धातुमूर्तियां सुरक्षित हैं, इतना विराट संग्रह एक ही स्थान पर

१. जैनलेखसंग्रह, भा. १, ले. १३४, पृ. ३१ ।

२. जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह भा. १, पृ. १३२ ।

३. भारतनां जैनतीर्थों अने तेमनुं स्थापत्य प्लेट १७ ।

४. जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ. ३ ।

५. जैन-धातु प्रतिमा लेख, पृ. १ ।

६. जैनयुग व. ५ अं. १-३, “जैनतीर्थ भीमपल्ली और रामसेन” शीर्षक निबंध ।

७. “जैनलेखसंग्रह, भा. १, ले. ७९२, पृ. १९५ ।”

८. श्री साराभाई नवाबने अपने “भारतना जैनतीर्थों अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य” नामक ग्रन्थ में (परिचय पृ. ७) सूचित करते हैं कि “इस प्रतिमा में मस्तक के पीछे की जटा गरदन तक उतर आई हैं, वैसी अन्यत्र नहीं मिलती ।” पर मुझे ९ शती की धातुमूर्ति, जो डसरपुर से प्राप्त हुई है, उसमें इस प्रतिमा के समान ही जटा है । मैंने ही साराभाई का ध्यान इस ओर, आज से १२ वर्ष पूर्व आकृष्ट किया था ।

९. संवत् १६३३ में तुरसमखानने सीरोही लूटी । वहीं से १०५० मूर्तियां सम्राट अकबर के पास फतहपुर भेज दीं । सम्राट ने विवेक से काम लिया । अतः उन्हें गलाकर स्वर्ण न निकाला गया । बादशाहने अपने अधिकारियों को कडा आदेश दे रखा था कि उनकी बिना आज्ञा के ये किसी को न दी जायें । मंत्रीश्वर कर्मचंद्र ने बादशाह को प्रसन्न कर यह कला सम्पत्ति प्राप्त की, मंत्रीश्वर ने अपने चातुर्य से भारतीय मूर्तिकला की मूल्यवान सामग्री बचा ली ।

- युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि, पृ. २१७-१८

११ वीं शती बाद की धातुमूर्तियां भारत के विभिन्न भागों में प्राप्त होती हैं, पर उनकी विशद चर्चा का यह क्षेत्र नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कला और सौंदर्य की उज्ज्वल परंपरा का प्रवाह १२ वीं शती तक तो, ले-देकर चला, पर १३वीं के बाद तो विलुप्त हो गया। मूर्तियां तो बाद भी, सापेक्षतः अधिक निर्मित हुई, पर उनमें सौंदर्य का अभाव है। यद्यपि शिल्पिगण ने पुरातन परंपरा के अनुकरण की चेष्टा तो की है, पर रहे असफल। हाँ, लिपि का सौंदर्य अवश्य सुरक्षित रहा। कुछेक मूर्तियों पर, पृष्ठ भाग में चित्र भी उकेरे गये हैं।

जैनाश्रित मूर्तिकला के इतिहास में जितना महत्वपूर्ण स्थान मथुरा के कलात्मक प्रतीक रखते हैं, उतना ही स्थान धातु प्रतिमाओं का भी होना चाहिए। पुरातन और अपेक्षाकृत नवीन मूर्तिविधान की कड़ियाँ इनमें अन्तर्निहित हैं। नृत्य शास्त्रीय दृष्टि से भी इनकी उपयोगिता कम नहीं। नवोपलब्ध मूर्ति-संग्रह से अब यह शिकायत नहीं रही कि जैन-समाज धातु-मूर्ति-निर्माण में पश्चात्पद था।

सापेक्षतः काष्ठ-प्रतिमाएं कम मिलती हैं। विशेष करके इसका प्रयोग भवननिर्माण में होता था। परंतु जैनवास्तुविषयक ग्रन्थों में काष्ठमूर्ति का उल्लेख आता है। श्रमणभगवान महावीर के समय भी चंदन का प्रयोग मूर्तिनिर्माण में हुआ था। मगध के पाल राजाओं ने भी काष्ठप्रतिमाओं का सृजन किया था। अतः परंपरा प्राचीन है। उत्तरकालीन जैनों ने शायद इसका निर्माण इसलिए रोक दिया होगा कि सापेक्षतः इसकी आयु कम है। प्रतिदिन प्रक्षाल से वह

शीघ्र ही जर्जर हो जाता है ।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के आशुतोषसंग्रहालय में एक जैनाश्रित मूर्ति-कला की जिनप्रतिमा है । इसकी प्राप्ति बिहार के विष्णुपुर के तालाब से हुई थी । मेरे मित्र श्री डी. पी. घोषने इसका काल दो हजार वर्ष पूर्व का स्थिर किया है । प्रतिमा को देखने से ज्ञात होता है कि वह पर्याप्त समय जलमग्न रही होगी । क्योंकि उसमें सिकुडन बहुत है । रेखाएँ भी कम नहीं हैं । डॉ. विलियम नार्मन ब्राउन ने मुझे एक भेंट में बताया था कि अमेरिका में भी कुछ काष्ठोत्कीर्ण जिनमूर्तियाँ हैं, जिनका समय आज से १५०० वर्ष पूर्व का है ।

विवेकविलास में प्रतिमा-निर्माण काम में आनेवाले काष्ठ की परीक्षा का उल्लेख इस प्रकार आया है-

निर्मलेनारनालेन पिष्टया श्रीफलत्वचा ।

विलिप्तेऽश्मनि काष्ठे वा प्रकटं मण्डलं भवेत् ॥

परीक्षा के अंगों पर प्रकाश डालनेवाली और भी सूचनाएँ इसीमें हैं । प्रतिमा-निर्माण में इन काष्ठों की परिगणना है-

चंदन, श्रीपर्णी, बेलवृक्ष, कदंब, रक्तचंदन, पियाल, ऊमर, शीशम^१ ।

रत्न की मूर्तियाँ

श्रीसंपन्न जैनसमाज ने बहुमूल्य रत्नों की मूर्तियाँ भी बनवाई । किंवदन्तियों को यदि सत्य मान लिया जाय तो रत्नों की मूर्ति का इतिहास सर्वप्राचीन सिद्ध होगा, पर ऐतिहासिक व्यक्ति के लिए यह मानना कम सम्भव है । इस विभाग में शाश्वता जिनबिम्बों को छोड़ भी दिया जाय तो स्थंभनपार्श्वनाथ की प्रतिमा सर्वप्राचीन ठहरेगी । यह अभी स्तंभतीर्थ-खंभात-में सुरक्षित है । इसका रत्न आजतक नहीं पहचाना गया । इसके बाद भी उत्तर-गुप्तकालीन रत्नमूर्तियाँ महाकोसल के आरंभ (जि. रायपुर) में उपलब्ध हुई हैं । आजकल रायपुर के जैनमंदिर में विद्यमान है । इनमें व्यवहृत रत्न सिरपुर की मूर्तियों की जाति के हैं । इनकी मुखकृति और रचनाकाल सिरपुर से प्राप्त धातुमूर्तियों के

१. कार्यं दारुमयं चैत्ये श्रीपण्णी चन्दनेन वा ।

बिल्वेन वा कदम्बेन रक्तचंदनदारुणा ॥

पियालोदुम्बराभ्यां वा क्वचिच्छिंशिमयापि वा ।

अन्यदारूणि सर्वाणि बिम्बकार्ये विवर्जयेत् ॥

समान है। **सोमवंशीय** नरेशों के समय की मानना उचित जान पड़ता है। मध्यकाल में स्फटिकरत्न की मूर्तियाँ बहुत ही विशाल रूप में बनती थीं। रत्नों में यही एक ऐसा रत्न है, जिसकी शिलाएँ सापेक्षतः विशाल होती हैं। १७वीं शताब्दी की लेखयुक्त एक मूर्ति **नासिक** के जैन मंदिर में है। **गुजरात** इसका बाहुल्य है। पन्ना, हीरा और पुखराज की कई मूर्तियाँ मिलती हैं। **श्रवणबेलगोला**, **कलकत्ता** और **बीकानेर** में रत्नमूर्तियाँ मिलती हैं। भरत-द्वारा रत्नमय बिम्ब अष्टापद पर बनवाने की सूचना जैन-साहित्य देता है।



१. लेख इस प्रकार है-

“संवत् १६९७ फागुण सुद ३ वटपत्र (बडौदा) वासि सा. खीमजी सुपुत्र माणिकजीकेन श्रीअंतरिक्षपार्श्वनाथबिं का. प्र. तपा. श्रीविजयदेवसूरिभिः ।”

इस प्रतिमा के रजतमय सुन्दर परिकर पर भी इस प्रकार लेख खुदा है।

“संवत् १६९७ व. वै. वदि २ दिने नडिआदिनगरवासि उसवाल वृद्ध ज्ञातीय राघण गोत्रीय सा. खीमजी भा. बाई तुलजा कुक्षिसंभूत पुत्र सा. माणिकजी, मेघजीनामाभ्यां श्रीअन्तरिक्ष पार्श्वनाथपरिकरकारितः प्रतिष्ठित तपागच्छेश भट्टारक श्रीविजयदेवसूरि पादेः सूरिश महम्म प्रदत्ताचार्य पदप्रतिष्ठित श्रीविजयसिंहसूरिभिः ।”

- लेखक के “जैन-धातु-प्रतिमा-लेख” से

उपर्युक्त दोनों लेख एक ही निर्माता और प्रतिष्ठापक से सम्बन्ध रखते हैं। अंतर केवल इतना ही पड़ता है कि मूर्ति की प्रतिष्ठा फाल्गुन में हुई और परिकर वैशाख में बना। मूर्ति लघुतम होने से परिकर में निर्माता का पूरा परिचय आ जाता है। नडिआद और बडौदा के भिन्न उल्लेखों से ज्ञात होता है कि दोनों स्थानों पर निर्माता का व्यवसाय-सम्बन्ध होगा। सूचित संवत् में आचार्य श्री का वहाँ गमन भी है।

जैन श्रमण प्रतिमाएँ

भारतीय धर्म का प्रत्येक सम्प्रदाय, अपने आदरणीय महापुरुषों का सम्मान कर, गौरवान्वित होता है। उनके स्वर्गवास के बाद पूज्य पुरुषों के प्रति अपनी हार्दिक भक्ति प्रदर्शनार्थ, या उनकी स्मृति रक्षार्थ, समाधियाँ, स्तूप या ऐसे ही अन्य स्मारक बनवाता है। उनका पूजन करता है। कथित स्मारक यों तो भारत में अगणित प्राप्त होते हैं, पर यहाँ तो श्रमण परंपरा से सम्बद्ध स्मारकों की विवेचना ही अपेक्षित है।

आचार्य व अन्य मुनिवरों के स्मारक के लिए जैन साहित्य में इन शब्दों का व्यवहार देखा जाता है, **निसिदिया**, **निषीदिका**, **निसीधि**, **निशिद्धि**, **निषिद्धि** और **निषिद्धिगे** आदि शब्द एक ही भाव को व्यक्त करते हैं। कहीं-कहीं ‘स्तूप’ का व्यवहार भी इसी अर्थ में हुआ जान पड़ता है। मध्यकालीन जैनमुनियों की प्रशस्ति व निर्वाण-गीतों में ‘थूभ’ ‘थंभ’ ‘तूप’(घृत नहीं) ‘थंभउ’ ये शब्द ‘स्तूप’ के ही पर्यायवाची हैं। १९वीं शती तक इसका व्यवहार हुआ है।

शिलोत्कीर्ण लेख भी उपर्युक्त कोटि के स्मारकों पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। महामेघवाहन महाराज **खारवेल** के ‘हाथीगुफा’ वाले लेख की १४ वीं पंक्ति “का य नि सी दी या य” शब्द व्यवहृत हुआ है। जो किसी अर्हत-समाधि या स्तूप का द्योतक है। कर्लिंग श्रमण-संस्कृति का महान केन्द्र रहा है। वहाँ इस प्रकार के स्मारक बहुतायत में पाये जाते हैं। **डॉ. बेनीमाधव बडुआने** मुझे ऐसे कई स्मारकों के चित्र भी (१९४७ ई.) में बताये थे।

उनमें कुछ तो ऐसे भी थे, जहाँ आज भी मेले व यात्राएँ भरती हैं। पर यह अन्वेषण प्रकाशित होने के पूर्व ही डॉ. बडुआ संसार से चल बसे। मुझे एक अंग्रेजी निबन्ध आपने प्रकाशनार्थ दिया था, पर कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर ने मुझसे, अवलोकन के बहाने हड़प ही लिया।

अन्वेषकों ने, जैन-बौद्ध का मौलिक भेद न समझ सकने के कारण बहुत से जैन-स्तूपों की गणना बौद्ध-स्तूपों में कर डाली। आज भी ऐसे प्रयास होते देखे जाते हैं।



पुरातन जैन साहित्य में उल्लेख आता है कि वहाँ पर **धर्मचक्रभूमि** के स्थान पर 'संप्रति' ने एक स्तूप बनवाया था। मथुरा के कुषाण कालीन जैन-स्तूप अत्यन्त प्रसिद्ध रहै है। **राजावलीकथा** से प्रमाणित है कि **कोटिकापुर** में अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी का स्तूप था। इनके तीसरे पट्ट पर आर्य **स्थूलभद्र** हुए, इनका स्तूप पाटलिपुत्र (पटना) में है। परंतु आश्चर्य है कि जैन पुरातत्त्वज्ञों का ध्यान इस ओर क्यों नहीं गया, जब की पुरातन यात्रियों ने इसका उल्लेख अपने यात्रा वर्णन में किया है।

श्रीस्थूलभद्रजी का स्मारक

आचार्य श्री स्थूलभद्रजी गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। आप आचार्य भद्रबाहु स्वामी के पास, नेपाल में 'वाचना' ग्रहणार्थ गये थे। वे पटना के ही निवासी थे। इनका स्वर्गवास भी पटना में ही वीर नि.संवत् २१९ और ईस्वी पूर्व ३११ में हुआ था।

दाह-स्थान पर शिष्यों द्वारा स्तूप भी बनवाया गया था। यह स्तूप आज भी **गुलजारबाग** स्टेशन के पिछले भाग में है। जहाँ पर इस स्तूप का निर्माण किया गया है, वह भूमि कुछ ऊपर को उठी हुई है। इस स्थान को वहाँ के लोग **कमलदह** कहते हैं। वस्तुतः इसका मूल नाम **कमलहृद** जान पड़ता है। पटना में यही एक ऐसा जलाशय है, जिसमें कमल उत्पन्न होते हैं। मिथिला के सुप्रसिद्ध कवि **विद्यापति** को यह स्थान अत्यन्त प्रिय था। उन्होंने ने अपने साहित्य में भी इसका उल्लेख किया है, ऐसा कहा जाता है। आज भी सरोवर का अवशेष जो बच गया है, उसमें भी कमल होते हैं। पुरातन पाटलिपुत्र की स्मृति को सुरक्षित रखनेवाले **अगमकुवाँ** व पुरातन खुदाई में निकले खण्डहर समीप ही पड़ते हैं। भगवान बुद्ध के पाटलिपुत्र आवागमन पर उनके तात्कालिक निवास-स्थान के विषय में जो उल्लेख आता है, उसमें **आम्रवन** की चर्चा है, जहाँ मगध निवासियों ने बुद्धदेव का रायण-खिरनी के द्वारा स्वागत किया था। यह सब लिखने का एक मात्र कारण यह है कि स्थूलभद्र की समाधि इन सब स्थानों के इतनी समीप पड़ती है कि उन दिनों यह स्थान नगर का अंतिम भाग था।

सांस्कृतिक दृष्टि से इस समाधि स्थान का विशेष महत्व है। जैनों के उभय सम्प्रदाय मान्य स्मारकों में इसकी गणना होती है। अब हमें देखना यह है कि स्तूप का प्राचीनत्व हमें किस शताब्दी तक ले जाता है। सुप्रसिद्ध चीनी



यात्री श्यूआन-चुआंङ् ने जिसे विशों ने यात्रियों का राजा कहा है, अपने यात्रा-विवरण में स्थूलभद्र के उपर्युक्त स्मारक का उल्लेख किया है। उसने इस स्थान को पाखंडियों का स्थान कहा है, जो स्वाभाविक है, क्योंकि उन दिनों धार्मिक असहिष्णुता बढ़ी हुई थी। 'निवास-स्थान' से यह भी ध्वनित होता है कि उस समय यह स्थान आज की अपेक्षा बहुत ही विस्तृत रहा होगा, एवं जैन मुनि-गण के लिए निवास की भी समुचित व्यवस्था रही होगी; क्योंकि ४० वर्ष पूर्व यह समाधि-स्थान कई एकड़ भूमि को संबद्ध किये हुए था, पर जैनों की उदासीनता के कारण आज कुछ एकड़ों में यह सीमित हो गया है। चीनी यात्री का यह उल्लेख इस बात को सिद्ध करता है, न केवल उन दिनों पाटलिपुत्र में जैनों की प्रचुरता ही थी, अपितु सार्वजनिक दृष्टि से इस स्तूप का महत्व पर्याप्त था। होना भी चाहिए। कारण कि स्थूलभद्र न केवल नन्दराज के प्रधान मंत्री के पुत्र ही थे, अपितु मगध की सांस्कृतिक लोकचेतना के अन्यतम प्रतीक भी। जिस टीले पर स्थूलभद्र की समाधि बनी हुई है उसके एक भाग का आज से कुछ वर्ष पूर्व खनन हुआ था, तब तेरह हाथ से भी अधिक लम्बा मानव-अस्थि-पिंजर निकला था। संभव है और भी ऐतिहासिक वस्तु निकली होंगी। गुप्त पूर्वकालीन ईंटें तो आज भी पर्याप्त मात्रा में निकलती हैं। उन्हीं पर तो यह स्थान टिका हुआ है। यूआन चुआंङ् के बाद पन्द्रहवीं शताब्दी तक किसी भी व्यक्ति ने इस स्थान का उल्लेख किया हो, ज्ञात नहीं। सत्रहवीं शती के बाद जिन जैन-यात्री व मुनियों का आवागमन इस प्रान्त में होता रहा, उनमें से कुछेक मुनियों ने अपनी यात्रा को ऐतिहासिक दृष्टि से पद्यों में लिपिबद्ध किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रकार के वर्णनात्मक उल्लेखों का महत्व है। विजयसागर^१, जयविजय^२ और सौभाग्यविजय^३ ने अपनी तीर्थमालाओं में स्थूलभद्र-स्तूप का उल्लेख किया है।

स्थूलभद्र के स्थान के निकट ही सुदर्शनश्रेष्ठ^४ की समाधि भी बनी हुई

१. प्रा. तीर्थमाला, पृष्ठ ५।

२. प्रा. तीर्थमाला, पृष्ठ २३।

३. प्रा. तीर्थमाला, पृष्ठ ८०।

४. अस्या सम्यग्दृशां निदर्शनं सुदर्शनश्रेष्ठो दधिवाहनभूपस्य राज्ञ्याऽभ-
याख्यया सम्भोगार्थमुपसर्ग्यमाणः। क्षितिपतिवचसा वधार्थं नीतः स्वकीयनिष्कम्प-
शील-सम्पत्प्रभावाकृष्टशासनदेवता सान्निध्यात् शूली हैमसिंहासनतामनैषीतः तरिवारिं
च निशितं सुरभिमुमनोदामभूय मनोदामनयत् ॥ १० ॥

-विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ६५-६६।



है, इसका उल्लेख चीनी-यात्री ने नहीं किया, पर व्यापक उल्लेख में इसका अन्तर्भाव स्वतः हो जाता है। सुदर्शन का सौन्दर्य अनुपम था। दधिवाहन राजा की रानी अभया की इच्छापूर्ति न कर सकने के कारण इनको कुछ क्षण तक लौकिक कष्ट सहन करना पड़ा, बाद में मुनि हो गये। प्रतिशोध की भावना से उत्प्रेरित होकर अभयाने, जो मरकर व्यंतरी हुई थी, मुनि पर उपसर्ग^१ किये। समभाव के कारण सुदर्शन को केवलज्ञान हो गया। यह घटना पाटलिपुत्र में घटी। प्रथम घटना का संबन्ध चम्पा से है। द्वितीय घटना के स्मृतिस्वरूप, पटना में एक छतरी व चरण विद्यमान है।

यहाँ पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब मगध व तिरहुत देश में श्रमण संस्कृति का प्राबल्य था, जैसा कि स्मिथ^२ साहब के वक्तव्य से सिद्ध है “एक उदाहरण लीजिए—जैन धर्म के अनुयायी पटना के उत्तर वैशाली में और पूर्व बंगाल में आजकल बहुत कम हैं; परंतु ईसा की सातवीं सदी में इस स्थानों में उनकी संख्या बहुत ज्यादा थी।” उन दिनों अपने आदरणीय महामुनियों के और भी स्मारक अवश्य ही बनवाये होंगे, परंतु या तो वे काल के द्वारा कवलित हो गये या बहुसंख्यक अवशेषों को हम स्वयं भूल गये। स्मिथ ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है कि “उसने (श्यूआन च्युआंइ) ईसा की सातवीं सदी में यात्रा की थी और बहुत से जैन स्मारकों का हाल लिखा, जिनको लोग अब भूल^३ गये।” आगे डाक्टर विन्सेण्ट ए. स्मिथ लिखते हैं पुरातत्त्व गवेषियों ने जैन-धर्म व संस्कृति का समुचित ज्ञान न होने के कारण, उच्चतम जैनाश्रित कलाकृतियों को बौद्ध घोषित कर दीं।

श्रवणबेलगोला के जो लेख प्रकाशित हुए हैं, उनसे सिद्ध होता है कि वहाँ समाधिमरण से संबंध रखनेवाले, मुनि आर्यिकाओं व श्रावक-श्राविकाओं के लेखयुक्त कई स्मारक हैं। जिनमें सर्व प्राचीन समाधि-मरण का लेख शक संवत् ५७२ का है।

कण्ह मुनि की मूर्ति मथुरा में पाई गयी है^४।

१. तत्रैव सुदर्शन श्रेष्ठि महर्षिभया राज्ञ्या व्यन्तरीभूतया भूयस्तर-मुपसर्गतोऽपि न क्षोभमभजत्।

—विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ६६।

२. वर्णी अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ २३३।

३. वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ २३४।

४. दि जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज ऑफ मथुरा प्लेट VII



दशम शताब्दी के पूर्व के स्मारकों की संख्या में अधिकतर चौतरे व चरणों का ही समावेश होता है; धारवाड जिले से प्राप्त शिलालिपियों से ज्ञात होता है कि, उस और भी अर्हतों की 'निषिद्धिकाएँ' बनती थीं। दक्षिण भारत का जैन दृष्टि से अद्यावधि समुचित अध्ययन नहीं हुआ। यदाकदा जो सामग्री प्रकाश में आ जाती है, उससे ज्ञात है कि वहाँ मुनियों के स्मारक पर्याप्त रूप में पाये जाते हैं। इन पर खुदे हुए लेख भी पाये जाते हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के बाद तो आचार्य व मुनियों की स्वतंत्र मूर्तियाँ बनने लगी थीं। उपर्युक्त पंक्ति सूचक काल के बाद जिन जैनाश्रित मूर्ति कला विषयक ग्रन्थों का निर्माण हुआ, उनमें आचार्य-मूर्ति निर्माण कके किंचित् प्रकाश डाला गया है। किन्तु पुरातन स्तूप प्रथा का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। चौदहवीं सदी के आचार-दिनकर में आचार्य-मूर्ति प्रतिष्ठा विधान स्वतंत्र उल्लिखित है, चौदहवीं सदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् ठक्कुर फेरु ने ज्योतिषसार नामक ग्रन्थ में आचार्य-प्रतिष्ठा का मुहूर्त भी अलग से दिया है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि ग्यारहवीं शताब्दी के बाद गुरु-मूर्तियों का निर्माण जोरों पर था। प्राकृत भाषा के धुरंधर कवि व शास्त्र विख्याता परम तपस्वी श्री जिनवल्लभसूरि, अपभ्रंश साहित्य के मर्मज्ञ तथा सुप्रसिद्ध कवि श्रीजिनदत्तसूरि, संस्कृत साहित्य की सभी शाखाओं के पारगामी विद्वान् व अनेक ग्रन्थ रचयिता आचार्य हेमचन्द्रसूरि^१, कुशल कवि श्रीदेवचन्द्रसूरि^२ और पृथ्वीराज चौहान की राजसभा के विद्वत्, मुकुटमणि श्रीजिनपतिसूरि^३, सुप्रसिद्ध दार्शनिक अमरचन्द्रसूरि^४, श्रीजिनप्रबोधसूरि^५, संगीत-विशारद

१. आचार्य हेमचन्द्रसूरि की मूर्ति प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, शत्रुंजय तीर्थपर इनकी छत्री बड़ी प्रसिद्ध है।

२. ये चापोत्कट वंशीय वनराज के गुरु शीलगुणसूरि के पट्ट शिष्य थे।

३. इनका स्वर्गवास विक्रम संवत् १२७७ आषाढ सुदी १० के दिन पालनपुर (गुजरात) में हुआ था। तदनन्तर १२८० वैशाख सुदी १४ के दिन पालनपुर में इनकी मूर्ति जिनहितोपाध्याय द्वारा स्थापित हुई थी। दाह-संस्कार स्थान पर श्रीसंघ द्वारा स्तूप का निर्माण हुआ था।

४. इनकी प्रतिमा पाटन में टाँगडिया वाडा के जैन-मंदिर में विद्यमान है, जिस पर इस प्रकार लेख खुदा है—संवत् १३४९ चैत्र वदी ६ शनौ श्री वायटीय गच्छे श्री जिनदत्तसूरि शिष्य पंडित श्री अमरचन्द्रसूरि: पं. महेन्द्र शिष्य मदन चन्द्राख्याख्येन कारता शिवमस्तु।

५. पाटन में इनकी प्रतिमा विद्यमान है।



श्रीजिनकुशलसूरि^१, मुहम्मद तुगलक प्रतिबोधक व जैन स्तुति स्तोत्र साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन करनेवाले श्रीजिनप्रभसूरि, अकबर प्रतिबोधक युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि^२, श्रीहीरविजयसूरि तथा श्रीविजयदेवसूरि^३ आदि अनेक जैनाचार्यों की स्वतंत्र मूर्तियाँ प्राप्त हो चुकी हैं।

प्राचीन शिल्प विषयक पुरातन जितनी भी गुरु-मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, वे सब बारहवीं शती के बाद की हैं। जिनकी प्रतिमाएँ बनी हैं, वे आचार्य भी अधिकतर इस समय बाद के ही हैं। गुरु-मूर्तियों का शास्त्रीयरूप निर्धारित न होने के कारण उनके निर्माण में एकरूपता नहीं रह सकी है।

उपलब्ध आचार्य प्रतिमाओं में आचार्य श्रीजिनदत्तसूरि और श्रीजिनकुशलसूरि ही ऐसा महापुरुष हुए हैं, जिनकी मूर्ति या चरण सम्पूर्ण भारत में प्रायः पाये जाते हैं। मध्यकालीन जैनसमाज इनके द्वारा उपकृत हुआ है। श्वेताम्बर जैन-परम्परा में इन दोनों का स्थान अनुपम है।

आचार्य-मूर्ति-निर्माण पद्धति का विकास न केवल, श्वेताम्बर परंपरा में ही हुआ अपितु दिगम्बर परंपरा भी इससे अछूती नहीं है। प्रतिष्ठा-पाठ के निम्न उल्लेख से फलित होता है—

प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं सिद्धिबिम्बमपीदृशाम् ।

सूरीणां पाठकानां च साधूनां च यथागमम् ॥ ७० ॥

कारकल के जैन स्मारकों का परिचय देते हुए, कुन्थुनाथ तीर्थंकर के बगल की निषदिका में स्थित कतिपय मूर्तियों का परिचय, श्री पंडित के. भुजबली शास्त्री के शब्दों में इस प्रकार है—“१ कुमुदचन्द्र भ., २ हेमचन्द्र भ., ३ चारुकीर्ति पंडित देव, ४ श्रुतमुनि, ५ धर्मभूषण भ., ६ पूज्यपाद स्वामी । नीचे की पंक्ति में क्रमशः १ विमलसूरि भ., २ श्रीकीर्ति भ., ३ सिद्धान्तदेव, ४ चारुकीर्तिदेव, ५ महाकीर्ति, ६ महेन्द्रकीर्ति । इस प्रकार उक्त इन व्यक्तियों की मूर्तियाँ छह-छह के हिसाब से तीन-तीन युगल रूप में बारह मूर्तियाँ खुदी हैं।”^४

१. इनकी प्रतिमा शत्रुंजय तीर्थ पर चौमुखजी की टोंक में प्रतिष्ठित हैं।

२. इनकी प्रतिमाएँ राजस्थान में प्रायः सर्वत्र प्राप्त होती हैं।

३. इनकी मूर्ति गौडीपार्श्वनाथ मंदिर बम्बई में तीसरे मंजले पर सुरक्षित हैं।

४. वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. २६२।



जैन देवी - देवता की प्रतिमाएँ

२४ तीर्थंकर के २४ यक्ष और २४ यक्षिणियाँ रहती है। तीर्थंकर प्रतिमा में दायें-बायें क्रमशः इनका अंकन रहता है। कुछेक प्रतिमा ऐसी भी पाई जा सकती है, जिन में इनका अस्तित्व न भी हो, पर परिकर में तो ये अपरिहार्य है, महाकोसल में एक तोरण मुझे प्राप्त हुआ है, उसमें तीन तीर्थंकर प्रतिमाओं के अतिरिक्त अन्य ५ यक्षिणियों की मूर्तियाँ हैं।

इनका इतिहास भी कुषाणकाल से प्रारम्भ होता है। उस युग की प्रतिमाओं में इनका अंकन तो है ही, पर उसी समय इनकी स्वतंत्र मूर्तियाँ भी बनती थीं। उन दिनों अंबिकादेवी का रूप व्यापक-सा जान पड़ता है। कारण कि नेमिनाथ की अधिष्ठातृ होने के बावजूद भी भगवान् युगादिदेव की मूर्ति में यह अवश्य देखी जाती है। १३वीं शताब्दी तक ऋषभदेव की मूर्तियों में इनका रूप खुदा हुआ पाया गया है, जब कि वहाँ होनी चाहिए चक्रेश्वरी। उस समय अंबिका की सयक्ष मूर्तियाँ भी बनती थीं। मथुरा में ऐसी एक मूर्ति प्राप्त हुई है। मगध के राजगृह और गत वर्ष कौशाम्बी के खंडहर में भी एक मूर्ति लेखक द्वारा देखी गई है। दायीं ओर गोमेध यक्ष और बायीं ओर अंबिका अपने बालकों सहित विराजमान है। मध्य में आम्र-वृक्ष, उसकी दो डालें, मध्य में जिनमूर्ति (मगध की मूर्ति में शंख का चिह्न भी स्पष्ट है) होती है। इस शैली का प्रादुर्भाव कुषाणों के समय में हुआ जान पड़ता है। कारण कि कौशाम्बी की मूर्ति का पत्थर मथुरा का है और कुषाणयुग की वस्तुओं में वह निकली है।

भू-गर्भशास्त्र की दृष्टि से भी प्राप्ति-स्थान का इतिहास कुषाण युग से संबद्ध है। मूर्ति की यह परम्परा १४-१५ शताब्दी तक चली। इसका विकास महाकोसल तक, उधर मगध तक हुआ है। महाकोसल में इस ढंग की दर्जनों मूर्तियाँ मिलती हैं। अम्बिका की वृक्ष पर झुलती हुई, सिंहारुद, सयक्ष, साधारण स्त्री-समान आदि कोई मूर्तियाँ मिलती हैं। पर उनमें दो बालक,

१. जैन सत्यप्रकाश के पर्युषणांक में इसका चित्र प्रदर्शित है।



आम्रलुम्ब, सिंह और आम्रवृक्ष ज्योंका त्यों है। इनमें से कुछ रूप स्वतंत्र महाकोसलीय है।

गुजरात, काठियावाड़ (ढंकपर्वत की गुफा में) **इलोरा** आदि कई स्थानों पर इनकी मान्यता व्यापक है। चक्रेश्वरीदेवी की दो-तीन प्रकार की प्रतिमा मिलती है। उत्तरभारत की चक्रेश्वरी गरुड़वाहिनी, चतुर्भुजी और अष्टभुजी होती है। चतुर्भुजी और वाहन-विहीन भी मिलती है। **महाकोसल** में तो चक्रेश्वरी का स्वतंत्र मंदिर है। चक्रेश्वरी गरुड़ पर विराजित है और मस्तक पर युगादिदेव है। यह मंदिर **बिलहारी** के लक्ष्मणसागर के तट पर है। **राजघाट** (बनारस) की खुदाई से भी चक्रेश्वरी-की प्रतिमा का एक अवशेष निकला है। **भारत-कलाभवन** में सुरक्षित है।

प्राचीनकालीन जितनी अधिक और कलापूर्ण अम्बिका की मूर्तियाँ मिलती हैं, उतनी ही मध्यकालीन **पद्मावती**^१ की। वह पार्श्वनाथजी की अधिष्ठाता है। जहाँ तक मंत्रशास्त्र का प्रश्न है, पद्मावती से सम्बन्धित ही अधिक मन्त्र मिलते हैं। यंत्र में भी इसीका साम्राज्य है। **विन्ध्याचल** में इनकी गुफा है। विन्ध्यप्रदेश में तो बड़ी विशाल प्रतिमाएँ मिलती हैं। इनके मंत्रकल्प भी कम नहीं हैं। इन देवियों की खड़ी और बैठी कई प्रकार की मूर्तियाँ मिलती हैं। विजया, कालीकी भी मूर्तियाँ मिलती हैं। यों तो **ज्वालामालिनी** की एक अत्यन्त सुंदर मूर्ति मैंने आज से ८ वर्ष पूर्व **केलझर** में देखी थी, पर इनका प्रचार सीमित है। १६ विद्या देवियों की स्वतंत्र मूर्तियाँ आबू के मधुच्छत्र में मिली हैं। २४ शासन देवियों की सवाहन, सायुध और सामूहिक विशाल प्रतिमा **प्रयाग-संग्रहालय** में सुरक्षित है। जैनमूर्तिकला के क्रमिक विकास पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है।

देवियों में **सरस्वती**^२ की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैन-संस्कृति के

१. पाटन, प्रभासपत्तन, शत्रुंजय और विन्ध्याचल आदि कई स्थानों में पद्मावती की बैठी हुई मूर्तियाँ तो काफी मिलती हैं, पर खड़ी प्रतिमाएँ बहुत ही कम। वर्धा जिले के सिन्दी ग्राम में दि. जैन मन्दिर में एक अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण पद्मावती की खड़ी प्रतिमा, भूरे पत्थर पर उत्कीर्णित है। मस्तक पर भगवान पार्श्वनाथजी विराजमान हैं। यह अनुपम कलाकृति उपेक्षित अवस्था में धूल में ढँकी हुई है। इस प्रतिमा को बारहवीं शती के आभूषणों का भंडार कहें तो अत्युक्ति न होगी।

२. तिरुपत्तिकुनरम् ।



अनुसार जिनवाणी ही सरस्वती है। जिनागम ही उसका मूर्तरूप है। पर मध्यकाल में जैन दृष्टि से सरस्वती की मूर्तियाँ भी बनने लगी थीं। इनके परिकर में तथा मस्तक पर जिनमूर्तियाँ उकेरी जाती थीं और उपकरण भी जैनाश्रित कला के रहते थे। ऐसी मूर्तियों में **बीकानेर** स्थित सरस्वती (जो आजकल **न्यु एशियन एण्टिक्वेरियन म्यूजियम** दिल्ली में सुरक्षित है) मूर्तिकला का उत्कृष्ट प्रतीक है। इतनी विशाल और मनोज्ञ देवीमूर्तियाँ कम ही मिलेंगी।

यों तो पश्चिमभारत में जैनाश्रित मूर्तिकला की परम्परा में इनका भी निर्माण प्रचुर परिमाण में हुआ है। दक्षिण भारत के जैनों ने भी सरस्वती को मूर्त रूप दिया था^१।

देवीमूर्तियाँ अधिकतर पहाडियों और गुफाओं में मिलती हैं, पर लोग सिन्दुर पोतकर उन्हें हतना विकृत कर देते हैं कि मौलिक तत्त्व ढंक जाता है। बकरे चढ़ाने लगते हैं। मैंने **चांदवड** में स्वयं देखा है। पासकी पहाडियों में एक गुफा में जैनमूर्तियाँ हैं, उनके आगे यह कुकृत्य १९३९ तक होता रहा।

सापेक्षतः यक्ष प्रतिमाएँ कम मिलती हैं। क्षेत्रपाल और माणिभद्र की कुछ मूर्तियाँ दृष्टिगत हुई हैं। यक्षों में गोमुख, षण्मुख, यक्षराज, धरणेन्द्र, कुबेर, गोमेध, ब्रह्मशान्ति और पार्श्वयक्ष की प्रतिमाएँ स्वतंत्र मिली हैं। पार्श्वयक्ष को पहचानने में लोग अक्सर गलती कर बैठते हैं^२। कारण कि उनकी मुखाकृति, उदर, आयुध गणेश के समान ही होते हैं। इन यक्षों की स्वतंत्र प्रतिमाओं में उनका व्यक्तित्व झलकता है। परिकरान्तर्गत यक्ष मूर्ति इतनी संकुचित होती है कि यदि शिल्प-ग्रन्थों के प्रकाश में उन्हें देखें भ्रम हो जायगा।

उदाहरणार्थ ऋषभदेव के यक्ष गौमुख को ही लें। कुछ मूर्तियों में तो ठीक रूप मिलेगा पर बहुसंख्यक ऐसी मिलेंगी कि उनकी मुखाकृति आयुध और वाहन कुछ भी शास्त्रीय उल्लेख से साम्य नहीं रखते। यहाँ पर एक बात की चर्चा कर देना उचित होगा।

‘कुबेर’ की प्रतिमा ऋषभदेव के परिकर में अक्सर रहती है, परंतु वह कुबेर जैन शिल्प का प्रतीक नहीं होता। कारण कि उसमें रत्नशैली, नकुल, फाँस एवं मोदक या सुरापात्र रहते हैं, जबकि जैन कुबेर चार मुख और आठ

१. श्रीमहावीर स्मृति ग्रन्थ भा. १, पृ. १९२।

२. तत्तीर्थोत्पन्नं कुबेरयक्षं चतुर्मुखमिन्द्रायुधवर्णं गरुडवदनं।

हाथोंवाला होता है^१ ।

यक्ष मूर्तियों के निर्माणपर समाज ने कम ध्यान दिया है । इसका एक कारण है । प्रत्येक मंदिर के रक्षक का स्थान क्षेत्रपाल का होता है और अधिष्ठाता का स्वरूप जिनमूर्ति में तो रहता ही है । क्षेत्रपाल की उच्च कोटि की मूर्ति श्रवणबेलगोला में है । अन्यत्र तो केवल नालिकेर की स्थापना करके सिन्दूर चढ़ाते जाते हैं ।



-
१. गजवाहनमष्टभुजं वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षिणपाणि
बीजपूरकशक्तिमुद्गराक्षसूत्रयुक्तवामपाणिं चेति ।

-वास्तुसार, पृ. १६०

दिगम्बर जैन शास्त्रानुसार कुबेर का स्वरूप ऐसा होना चाहिए :-

सफलकधनुर्दण्डपद्मखड्ग प्रदरसुपाशवरप्रदाष्टपाणिम् ।

गजगमनचतुर्मुखेन्द्रचापद्युतिकलशांकनतं यजे कुबेरम् ॥



जैन श्रावकों की प्रतिमाएँ

राजाओं की जितनी भी प्राचीन मूर्तियाँ भारत में उपलब्ध हुई हैं उनमें सर्वप्राचीन **अजातशत्रु और नन्दिवर्धन** की हैं। वे दोनों जैनधर्म के उपासक थे। इतिहास में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। नन्दिवर्धन ने जब कलिंग को हस्तगत किया, तब वहाँ से एक जैनमूर्ति उठा लाया था। इसीसे इनके जैनत्व का पता चल जाता है।

यों तो जैनमूर्ति के परिकर में यक्ष-यक्षिणी के निम्न भाग में गृहस्थ युगल की कृति दृष्टिगत होती है, पर **वस्तुपाल, तेजपाल, सपत्नीक, वनराज, चावडा, मोतीशाह** आदि कई गृहस्थों की स्वतंत्र मूर्तियाँ भी हाथ जोड़े मंदिर में स्थापित की गई हैं। आबु पर्वत पर तो मंत्रीश्वर विमल के पूर्वजों की मूर्तियाँ भी अंकित हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी पूजा हो, पर भक्ति की मुद्रा में वे खड़े रहें, यही उद्देश्य था।^१

उपर्युक्त पंक्तियों में प्राप्त सभी प्रकार की मूर्तियों का उल्लेख कर दिया गया है। संभव है कुछ रह भी गया हो। तीर्थंकर मूर्तियाँ, उनका परिकर, यक्ष-यक्षिणियों के बिम्ब, न केवल धार्मिक दृष्टि से ही महत्व के हैं, अपितु भारतीय मूर्तिकला के क्रमिक विकास के अध्ययन की मूल्यवान् सामग्री भी है। सामाजिक रहन सहन और आर्थिक विकास भी उनमें परिलक्षित होता है। सौंदर्य के प्रकाश में देखें तो श्रावक रह जाना पड़ेगा। शिल्पाचार्यों ने अपने श्रम से जो कलाकृतियाँ भेट की हैं, उनमें आनन्द देने की अनुपम क्षमता है। उनसे आत्मा को शान्ति मिलती है।

१. भारतनां जैनतीर्थो अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य, प्लेट ४९

२. भारतनां जैनतीर्थो अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य, प्लेट ५०

३. उपर्युक्त ग्रन्थ में ऐसी कई प्रतिकृतियाँ हैं।



जैन गुफाएँ



जैन गुफाएँ पर्याप्त परिमाण में उपलब्ध होती है। आध्यात्मिक साधना के उन्नत शिखर पर अग्रसर होने वाली भव्यात्माएँ वहाँ पर निवास कर, दर्शनार्थ आकर शान्ति का अनुभव कर आत्मतत्त्व के रहस्य तक पहुँचने का शुभ प्रयास करती थीं। प्राकृतिक वायुमंडल भी पूर्णतः तदनुकुल था। प्रकृति की गोद में स्वस्थ सौंदर्य का बोध ऐसे ही स्थानों में हो सकता है। वहाँ की संस्कृति, प्रकृति और कला का त्रिवेणीसंगम मानव को आनन्द विभोर कर देता है। स्वाभाविक शान्ति ही चित्तवृत्तियों को स्थिर कर निश्चित मार्ग की ओर जाने को इंगित करती है। इसमें उकेरी हुई सुन्दर कलापूर्ण जिनप्रतिमाएँ दर्शनार्थी को आकृष्ट कर लेती है।

राग, द्वेष, मद, प्रमाद एवं आत्मिक प्रवंचनाओं से बचने के लिए, शून्य ध्यान में विरत होने में जैसी सहायता यहाँ मिलती है, वैसी अन्यत्र कहाँ ? सत्य की गहन साधना के लिए एकान्त स्थान नितान्त अपेक्षित है। कुछ गुफाएँ तो ऐसी है, जहाँ से हटने को मन नहीं होता। जिनमूर्ति एवं तदंगीभूत समस्त उपकरणों से सुसज्जित रूपशिल्प कलाकार की दीर्घकालव्यापी साधना का सुपरिचय देती है। दैनिक जीवन और उनके प्रति औदासिन्य भावों की प्रेरणात्मक जागृति को उद्बुद्ध करानेवाले तत्त्वों का समीकरण इन भास्कर्य सम्पन्न कृतियों की एक-एक रेखा में परिलक्षित होता है। उचित मात्रा में सौंदर्य बोध के लिए आध्यात्मिक श्रम अपेक्षित है। आत्मस्थ सौंदर्य दर्शनार्थ जीवन को साधनामय बनाना ही श्रमणसंस्कृति का लक्ष है।

भारतीय शिल्प-स्थापत्य कला के विदेशी अन्वेषकों में फर्गुसन का नाम सबसे पहले आता है। उन्होंने जैन स्थापत्य पर भी प्रकाश डाला है, परंतु जैन और बौद्ध-भेद को न समझने के कारण कई भूलें भी कर दी हैं, जिनका परिमार्जन वांछनीय है। उदाहरणार्थ राजगृह को ही लें। वहाँ पर सोनभंडार में जैनमूर्तियाँ और धर्मचक्र उत्कीर्णित है। इनको और भी कई विद्वान बौद्धकृति मानते हैं, वस्तुतः यह मान्यता भ्रामक है, क्योंकि वहाँ पर स्पष्टतः इन पंक्तियों में लेख खुदा हुआ है।



१ निर्व्वाणलाभाय तपस्वि योग्ये शुभे गृहेर्हत्त्र (ति) मा प्रतिष्ठते (।)

२ आचार्य यत्नं मुनिवैरदेवः विनुक्तये कारय दीर्घ (?) तेज (: ॥)

जैन-साहित्य के कई उल्लेखों से इनका जैनत्व सिद्ध है । प्राचीन गुर्वावली एवं तीर्थमालाओं में भी इसकी चर्चा आई है । जैन किंवदन्ती इसका संबंध श्रेणिक और चेलणा से जोड़ती है, यह ठीक नहीं है ।

फर्गुसन ने एक स्थान पर लिखा है कि “जैन कभी गुहा निर्माता रहे ही नहीं ।” आगे फिर लिखा है “जैनों के गुहामंदिर उतने प्राचीन नहीं हैं, जितने अन्य दोनों सम्प्रदायों के । शायद उनमें से एक भी ९वीं शती से पूर्व का नहीं।” यह कथन सर्वथा भ्रामक है । स्पष्ट रूप से कहा जाय तो आति प्राचीन जितनी भी गुफाएँ उपलब्ध हैं, उनमें से बहुतों का निर्माण जैनों द्वारा ही हुआ है ।

सर्वप्राचीन गुफा गिरनार बराबर अरौ नागार्जुनी पहाड़ियों में है । इनमें से दो का ओप और स्निग्धत्व मौर्य-काल की सूचना देता है । दो आजीवक सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं, जो जैनों का एक उपसम्प्रदाय था । अशोक के पुत्र दशरथ ने इन्हें दान किया था । उदयगिरि-खंडगिरि की जैन गुफाएँ विश्वविख्यात हैं । ग्वालियर स्टेट के अन्तर्गत उदयगिरि (भेलसा) में गुप्त कालीन जैन-गुहा-मंदिर है । इसमें भगवान पार्श्वनाथ की भव्य प्रतिमा थी । अब तो केवल सर्पफन शेष है । वहाँ एक जैन-लेख भी इस प्रकार पाया गया है-

१ नमः सिद्धेभ्यः (॥)

श्री संयुतानां गुणतोयधीनां गुप्तान्वयानां नृपसत्तमाना-

२ राज्ये कुलस्याधिविविर्धमाने षड्भिर्युतैः वर्षशतेथ मासे (॥)

सुकीर्तिके बहुलदिनेथ पंचमे

३ गुहामुखे स्फटविकतोत्कटामिमां (।) जितोद्विषो जिनवर

पार्श्वसंज्ञिका जिनाकृतिं शमदमवान

४ चीकरत् (॥)

आचार्य भद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसाचार्य्य कुलोद्गतस्य (।)

आचार्य गोश

५ स्मृमुनेस्तुस्तु पद्मावतावश्वपतेभ्भटस्य (॥) परैरजेयस्य

रिपुघ्नमानिनस्य संधिल

६ स्येत्यभिविश्रुतो भुवि (१)

स्वसंज्ञया शंकरनामशब्दितो विधानयुक्तं यतिमार्गमास्थितः (॥)

७ स उत्तराणां संदेश कुरुणां उदग्दिशादेशवरे प्रसूतः (१) क्षयाय कर्मारिगणस्य धीमान् यदत्र पुण्यं तद पाससज्ज (॥॥)^१

यह लेख गुप्तसंवत् १०६ का है । उस समय कुमारगुप्त प्रथम का शासन था ।

जोगीमारा

मध्यप्रदेश के अन्तर्गत सरगुजा राज्य में लक्ष्मणपुर से बारहवें मीलपर रामगिरि-रामगढ पर्वत है । इस पर जोगीमारा गुफा उत्कीर्णित है । प्राचीन शैलचित्रों में इस गुफा के चित्रों का महत्वपूर्ण स्थान है । धर्म और कला-उभयदृष्ट्या इसका स्थान अनुपम है । इनमें कुछ चित्रों का विषय जैन है । अतः यह भी कभी जैन-गुफा रही होगी । यहाँ से ई. पू. तीसरी शती का एक लेख भी प्राप्त हुआ है । डॉ. ब्लाखने इसका यही समय निश्चित किया है ।

ढंकगिरि

जैन-साहित्य में इसका उल्लेख कई स्थानों पर आया है । यह शत्रुंजय का एक उपपर्वत गिना जाता है । वर्तमान में इसकी स्थिति वल्लभीपुर के निकट है । सातवाहन के गुरु और पादलिप्तसूरि के शिष्य सिद्धनागार्जुन यहीं के निवासी थे । जैसा कि निम्न उल्लेख से ज्ञात होता है-

“ढंकपव्वए रायसीहरायउत्तस्स भोपलनामिअं

धूअं रूपलावण्णा सम्पन्नं दट्ठूणं जायाणुरायस्स

तं सेवमाणस्स वासुगिणो पूतो नागाज्जुणो नाम जाओ”^२

प्रबन्धकोश और पिंडविशुद्धि की टीकाओं में उपर्युक्त पंक्तियों का समर्थन किया गया है । स्वर्णसिद्धि के लिए नागार्जुनने बड़ा श्रम किया था । कहना चाहिए यही उनके लिए प्राणघातिनी साबित हुई । ढंक पर्वत की गुफा में

१. डॉ. फ्लीट, कार्पस इन्स्क्रिप्सन इंडिकेरम, भा. ३

२. विविधतीर्थकल्प, पृ. १०४



इसने रसकूपिका रखी थी, जैसा कि इस उल्लेख से स्पष्ट है ।

“नागार्जुनेन द्वौ कुपितौ भृतौ ढंकपर्वतस्य गुहायां क्षिप्तौ”^१

जिस गुफा का ऊपर उल्लेख किया है, वह जैन गुफा है । यद्यपि डॉ. **बर्जेस** ने इसकी गवेषणा की थी पर जैन प्रमाणित करने का श्रेय मेरे मित्र डॉ. **हंसमुखलाल धीरजलाल सांकलिया** को है । आपने गुफा में भगवान पार्श्वनाथ की एक खड़ी प्रतिमा देखी, अम्बिका की आकृति भी । डॉ. सांकलियाने इस प्रतिमा का समय ईस्वी सन् तीसरी शती स्थिर किया है^२ । इसी काल के कुछ शिल्प **श्री साराभाई नवाब** ने भी सौराष्ट्र में देखे थे^३ ।

चन्द्रगुफा

बाबा प्यारे के मठ का उल्लेख ऊपर एक बार आ चुका है । वहाँ की गुफाओं का अध्ययन **बर्जेस**ने किया है । उनको इन गुफाओं में ईस्वी पूर्व प्रथम और द्वितीय शती के चिह्न मिले हैं । इन में **स्वस्तिक**, **नंदीपद**, **मत्स्ययुगल**, **भद्रासन** तथा **कुम्भकलश** भी सम्मिलित है । ये अष्टमंगल से संबद्ध हैं । मथुरा की जैनाश्रितकृतियों में भी इनकी उपलब्धि हो चुकी है । क्षत्रप कालीन एक मूल्यवान लेख भी प्राप्त हुआ है,^४ जो तात्कालिक जैन इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है । गुफा चन्द्राकार होने से ही इसे चन्द्रगुफा कहते हैं । दिगम्बर जैन साहित्य को व्यवस्थित करनेवाले **श्रीधरसेनाचार्य** ने इसी में निवास किया था । **पुष्पदन्त** और **भूतबलि** का अध्ययन इसी गुफा में हुआ था, परंतु इस पूज्य स्थान की ओर जैनसमाज का

१. पुरातन प्रबंध संग्रह, पृ. ९२

२. श्रीजैन सत्यप्रकाश, व. ४ अं. १-२

३. भारतीय विद्या, भा. १, अंक २

४. (१) स्तथा सुरगण (१) (क्षत्रा) णां प्रथ (भ)....

(२) चाष्टनस्य प्र (पो) त्रस्य राज्ञः क्ष (त्रप) स्य स्वामिजयदामपे (ते)
त्रस्थ राज्ञो म (हा)....

(३) (चै) त्रशुक्लस्य दिवसे पंचमे इ (ह) गिरिनगरे देवासुरनागय
(क्ष) राक्षसे

(४) थ...(पु) रमिव..... केवलि (ज्ञा) न स..... नां जरमरण (१)

- एपीग्राफिया इंडिका, भाग १६, पृ. २३९



भारत सरकार की नीति पर हमें आश्चर्य होता है कि आज भी वह इन अवशेषों की रक्षा की ओर समुचित ध्यान नहीं दे रही है। यदि श्रीपाल महाशय की मोटर का एन्जिन खराब न होता तो शायद अभी तक वे मूर्तियाँ गिट्टी बनकर सड़क पर बिछ गई होतीं। सम्भव है दक्षिण भारत की ओर और भी ऐसी गुफाएँ मिलें।

पश्चिमी गुफा मंदिरों में **एलागिरि-इलोरा** का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है । प्राकृत भाषा के साहित्य में इसका नाम “**एलउर**” मिलता है । **धर्मोपदेशमाला** के विवरण (रचनाकाल सं. ११५) समयज्ञ मुनि की एक कथा आई है, कि वे ‘**मृगुकच्छ**’ नगर से छलकर ‘**एलउर**’ नगर आये और दिगम्बर बसही में ठहरे, इससे जान पड़ता है, उन दिनों एलउर की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी । दिगम्बर बस्ती से गुफा का तो तात्पर्य नहीं है ? यहां के गुफा-मंदिर भारतीय शिल्प की अमर कृतियाँ हैं । इनके दर्शन जीवन की अमूल्य घड़ी है । कोई भी शिल्पी, चित्रकार, इतिहासज्ञ या धर्म के प्रति अनुराग रखनेवाले के लिए प्रेरणात्मक सामग्री विद्यमान है । सौन्दर्य का तो वह तीर्थ ही है । भारतीय संस्कृति की तीनों धाराओं का यह संगम स्थान है । तीस से चौतीस गुफाएँ जैनों की हैं । इनकी कला पूर्णतया विकसित है । जैनाश्रित चित्रकला को रेखाएँ यहीं से प्रतिस्फुटित हुई हैं । **फर्गुसन** को स्वीकार करना पड़ा है कि “**कुछ भी हो, जिन शिल्पियों ने एलोरा की दो सभाओं (इन्द्र और जगन्नाथ) का सृजन किया, वे सचमुच उनमें स्थान पाने योग्य हैं, जिन्होंने अपने देवताओं के सम्मान में निर्जीव पाषाण को अमर-मन्दिर**

- धर्मोपदेशमाला, पृ. १६१ (सिंधी-जैन-ग्रन्थमाला)

गौत्रैः क्लृप्तोपकृतिसुकृतं रक्षितुं त्वां नियुक्ताः ।

नद्यस्तासां प्रचितवयसामर्हसि त्वं न धैर्यान्,

मोघीकर्तुं चटुलशकरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ ४४ ॥

काचित् कान्ता सरिदिह तव प्रेक्ष्य सौभाग्यभङ्गी-

मङ्गीकुर्याच्चपलसलिला वर्तनाभिप्रकाशम् ।

चक्रोरोजावरुणकिरणाच्छादनात् पीडयास्याः

ज्ञातास्वादो विपुलजघनां को विहातुं समर्थः ॥ ४५ ॥

वर्त्मन्यस्मिन् विविधगिरयस्त्वत्परिस्यन्दमन्दी

भूतोत्तापाः क्षितरुहदलैस्तऽपनेष्यन्ति खेदम् ।

पुष्पामोदी करिकुलशतैः पीयमानस्तवातः

शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥ ४६ ॥

विबुधविमलसूरिजीने इलोरा की यात्रा की थी-

विहार करतां आवीया रे, इलोरा गाम मझार

जिन यात्रा ने कारणे हो लाल ।

खटदरिसण तिहां जाणीए रे, जाए विवेकवन्तरे, मुनीसर

तत्त्वधरी बीजीवार ने हो लाल^१ ॥

सुप्रसिद्ध पर्यटक और जैनमुनि श्रीशीलविजयजी भी अट्टारहवीं शती में यहाँ आये थे । तीर्थमाला के निम्न पद्य से ज्ञात होता है-

इलोरि अति कौतुक वस्यूं जोतां हीयडुं अति उल्हस्यूं ।

विश्वकरमा कीधुं मंडाण त्रिभुवन भाव तणु सहिनाण^३ ॥

उपर्युक्त उल्लेख इस बात के परिचायक है कि जैनों का आकर्षण इलोरा की ओर प्राचीन काल से ही है ।

ऐहोल

बादामी तालुके में यह अवस्थित है । आर्यपुर से इसका रूपान्तर ऐहोल

१. विज्ञप्ति लेखसंग्रह पृ. १००, १०१ सिंधी ग्रन्थमाला ।

२. जैन ऐतिहासिक, गूर्जर-काव्य-संचय पृ. ३१ ।

३. प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, पृ. १२१ ।



या ऐविल्ल हुआ जान पड़ता है। ईस्वी सातवीं आठवीं शताब्दी में यहाँ पर चौलुक्यों की राजधानी थी। पूर्व और उत्तर में यहाँ पर गुफाएँ हैं। इसमें सहस्रफणायुक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा अवस्थित है। यह मूर्ति बहुत महत्वपूर्ण है। सापेक्षतः यहाँ की गुफा काफी चौड़ी और लम्बी है। जैन कला के अन्य उपकरण भी पर्याप्त हैं।

प्रभु महावीर की आकृति भी यहाँ दृष्टिगोचर होती है। सिंह, मकर एवं द्वारपालों का खुदाव, उनका पहनाव एलीफण्टा के समान उच्च शैली का है। वामन रूपिणी स्त्री तो बड़ी विचित्र-सी लगती है।

यहाँ से पूर्व की ओर **मेगुटी** नामक एक जैन-मंदिर है, उसमें से एक विस्तृत शिलोत्कीर्णित लेख प्राप्त हुआ है, जो शक ५५६ (ईस्वी ६३४-६३५) का है। चौलुक्यराज पुलकेशी के समय में श्रीवरकीर्ति ने यहाँ की प्रतिष्ठा की जान पड़ती है।

भाभेर

इन पंक्तियों का लेखक इसे देख चुका है। भाभेर का दुर्ग धूलिया से वायव्य कोण से ३० मील दूर है। एक छोटे से टीले में भूमिगृह है। तीसरी गुफा है। इसका बरामदा ७५ फुट लम्बा है। बाईं ओर का भूमिगृह अपूर्ण ही रह गया जान पड़ता है। पड़साल में भी तीन द्वार हैं, जिनसे भीतर तीन खंडों में प्रवेश किया जाता है। प्रत्येक की लम्बाई चौड़ाई २४ × २० है। दीवारों पर पार्श्वनाथ तथा अन्य जिनों की ग्राम्य आकृतियाँ खचित हैं। यहाँ का भास्कर्य नयनप्रिय नहीं है। बहुत-सा भाग नष्ट भी हो चुका है।

अंकाई-तंकाई

सन् १९३७ में मुझे इन गुफाओं के निरीक्षण का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यह स्थान बड़ा विकट और भयप्रद है। येवला तालुके की पहाडियों में इनकी अवस्थिति है। इनकी ऊँचाई ३१८२ फुट है। सुदृढ दुर्ग भी है। यहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य प्रेक्षणीय है। **अंकाई** में जैनों की सात गुफाएँ हैं। ये छोटी होते हुए भी शिल्पकलापेक्षया अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। दुर्भाग्य से बहुत-सा भाग नष्ट हो गया है। यहाँ की बहुत कम जगह बची है, जहाँ सुन्दर आकृतियाँ न खुदी हों। प्रवेशद्वार तो बहुत ही शोभनीय है। तीर्थंकर की मूर्ति

उत्कीर्णित है। दूसरी गुफा के छोरों पर भी मूर्तियाँ हैं। तीसरी गुफा दूसरी मंजिल समान है। आगेका कमरा २५-९ फुट है। एक छोर पर इन्द्र (संभवतः मातंगयक्ष) और इन्द्राणी (सिद्धायिका) दूसरे छोर पर है। इन्द्र की आकृति इतनी विनष्ट हो चुकी है कि हाथी को पहिचानना भी कठिन है।

चँवरधारी के अतिरिक्त गंधर्व और उनके परिचारक पर्याप्त हैं। ये सब दम्पती अपने-अपने वाहनों पर हैं। मालूम पड़ता है कलाकार ने जन्म-महोत्सव के भावों को रूपदान दिया है। आदमकद जिनमूर्ति नग्न है। यह मूर्ति शान्तिनाथजी की होनी चाहिए। कारण कि मृगलांछन स्पष्ट है। पार्श्वनाथ की भी एक प्रतिमा है जिसका कद उपर्युक्त आकृति से तीसरे भाग का है। पंचफन भी स्पष्ट है। गवाक्ष में भी जिनप्रतिमाएं हैं। इन प्रतिमाओं की रचनाशैली से ज्ञात होता है कि १३ शती की होंगी। क्योंकि परिकर के निर्माण में कलाकार ने जिन उपकरणों का प्रयोग किया है, वे प्राचीन नहीं हैं।

महाकवि श्रीमेघविजयजी ने पूर्व सूचित समस्यापूर्तिवाले विज्ञप्ति पत्र में इस स्थान का परिचय इन शब्दों में दिया है-

गत्यौत्सुक्येऽप्यणकितणकी दुर्गयो स्थेयमेव,
पार्श्वः स्वामी स इह विहृतः पूर्वमुर्वाशसेव्यः ।
जाग्रद्रुये विपदि शरणं स्वर्गिलोकेऽभिवन्द्यम्,
अत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥^१

त्रिगलवाडी

आग्रारोड पर स्थित इगतपुरी से छठवें मील पर एक पहाड़ी दुर्ग पर यह ग्राम बसा हुआ है। पहाड़ी के निम्न भाग में एक जैन गुफा है। यहाँ सूक्ष्म खुदाई को देखने से पता लगता है कि किसी समय यह गुफा उन्नतावस्था में रही होगी। गुफा के भीतरी भागवाला कमरा ३५ फुट का है, और इसके अंदर एक और कमरा है। गुफाद्वार-सम्मुख छत के मध्य भाग में गोलाकार पाँच मानवाकृतियाँ खचित हैं। द्वार पर एक जिनमूर्ति है। गुफा के भीतर भी पबासन पर तीन जिन प्रतिमा हैं। भीतर जो कमरा है, उसकी दीवाल के पास भी पुरुषाकार 'जिन' है। वक्षस्थल तथा मस्तक खंडित है। केवल चरण के अवशेष विद्यमान हैं। वृषभ के चिह्न से ज्ञात हुआ कि यह मूर्ति युगादिदेव की

है) में संगीत का विषय आता है। उपलब्ध लेख से शास्त्रीय शब्द भी मिलते-जुलते हैं।

प्रसिद्ध गुफाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है। इनके अलावा भी धारासिव^१, विन्ध्याचल, बामचन्द्र^२, पाटन, मोमिनाबदा^३ चामरलैन एवं औरंगाबाद^४ की गुफाएँ जैनधर्म से सम्बन्ध रखती हैं।

इन गुफाओं के दो प्रकार किसी समय रहे होंगे या एक ही गुफा में दोनों का समावेश हुआ होगा, कारण कि जैनों का सांस्कृतिक इतिहास हमें बताता है कि पूर्वकाल में जैनमुनि अरण्य में ही निवास करते थे, केवल भिक्षार्थ-गोचरी के लिए-ही नगर में पधारते थे। ऐसी स्थिति में लोग व्याख्यानादि औपदेशिक वाणी का अमृत-पान करने के लिए, जंगलों में जाया करते थे, जैसा कि पौराणिक जैनआख्यानों से विदित होता है।

जिनमंदिर की आत्मा-प्रतिमाएँ भी नगर के बाहर गुफाओं में अवस्थित रहा करती थीं। ऐसी स्थिति में सहज में कल्पना जागृत हो उठती है कि या तो दोनों के लिए स्वतंत्र स्थान रहे होंगे, या एक ही में दोनों के लिए पृथक्-पृथक् स्थान रहे होंगे। मैंने कुछ गुफाएँ ऐसी देखी भी हैं। प्राचीन मंदिर के नगर बाहर बनाये जाने का भी यही कारण है। मेवाडादि प्रदेशों में तो जैनमंदिर जंगलों में बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं, वे गुफाओं की पद्धति के अवशेषमात्र हैं। वहाँ ताला वगैरह लगाने की आवश्यकता ही क्या थी? क्योंकि वहाँ न तो आभूषण थे और न वैसी सम्पत्ति के लूटे जाने का ही कोई भय था, यह प्रथा बड़ी सुंदर और सब लोगों के दर्शन के लिए उपयुक्त थी।

प्राचीन गुफाओं में उदयगिरि, खंडगिरि, ऐहोल, सित्तनवासल्ल, चाँदवड, रामटेक, एलूरा-इन गुफाओं से मानना होगा कि दशम शती तक इसी सात्विक प्रथा का परिपालन होता था। ढंकगिरी, जोगीमारा, गिरनार आदि विभिन्न प्रान्तों में पाई जाने वाली अति प्राचीन और भारतीय तक्षणकला की उत्कृष्ट मौलिक सामग्री है। गुफाओं के सौंदर्य अभिवृद्धि करने के ध्यान से जोगीमारा, सित्तनवासल्ल आदि में चित्रों का अंकन भी किया गया था, इन

१. एपिग्राफिया इंडिका, भाग १२

२. केव टेम्पिल्स ऑफ इंडिया

३. आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया भा. ३, पृ. ४८-५२

४. आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया भा. ३, पृ. ५९-७३

जैन कीर्तिस्तम्भ

मध्यकालीन भारत में जैनमंदिर के सम्मुख विशाल स्तम्भ बनवाने की प्रथा, विशेषतः दिगम्बर जैनसमाज में रही है। दक्षिण भारत और विन्ध्य प्रान्त में ऐसे स्तम्भों की उपलब्धि प्रचुर परिमाण में हुई है। प्राचीन वास्तु विषयक ग्रन्थों में कीर्तिस्तम्भों की आंशिक चर्चा अवश्य है, पर मानस्तम्भों के विषय में वे मौन हैं। यद्यपि जैन पौराणिक साहित्य तो इसका अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से बताता है, पर उतने प्राचीन या सापेक्षतः अर्वाचीन स्तम्भ उपलब्ध कम हुए हैं। उपलब्ध साधनों से तो यही कहा जा सकता है कि मध्यकाल में जैन-वास्तुकला का वह एक अंग अवश्य बन गया था।

यह मानस्तम्भ इन्द्रध्वज का प्रतीक होना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है, जो भगवान के विहार के आगे रहता था, देवगढ आदि में पाये गये मानस्तम्भ के अवशेषों से यह फलित होता है कि मानस्तम्भों की मौलिक परम्परा भले ही एक-सी रही हो, पर प्रान्तीय कला विषयक एवं निर्माण शैली सम्बन्धी पार्थक्य उनमें स्पष्ट है। देवगढ आदि में पाये जानेवाले अधिक मानस्तम्भ ऐसे हैं, जिनके ऊपर के भाग में शिखर-जैसी आकृति है। बघेलखंड और महाकोसल के भूभाग में मैंने जितने भी अवशेष देखे, उनके छोर पर चतुर्मुख जिनप्रतिमाएँ खुदी हुई हैं। ये स्तम्भ चपटे और गोल तथा कोई कोनों के बनते थे। एक अवशेष मेरे संग्रह में सुरक्षित है। मुझे यह बिलहरी से प्राप्त हुआ था। कला की दृष्टि से सुंदर है।

मानस्तम्भ पर मूर्तियाँ रखने का कारण लोग तो यह बताते हैं कि शूद्र दूर से ही दर्शन कर सकें। इसमें तथ्य कितना है; यह तो वे ही जानें जो ऐसी बातें बताते हैं। पर जैन मंदिर की सूचना इससे अवश्य मिल जाती है। ये स्तम्भ काष्ठ के भी बनते थे, पर बहुत कम। दक्षिण के स्तम्भ कला की दृष्टि से अनुपम हैं। यहाँ मानस्तम्भों पर यक्ष-यक्षिणियों के आकार खुदे हुए पाये जाते हैं। अभी तक इस मूल्यवान सामग्री पर समाज का ध्यान केन्द्रित नहीं हुआ है।

कुछ मानस्तम्भों पर लेख भी खुदे रहते हैं। वे जैन इतिहास की सामग्री तो प्रस्तुत करते ही हैं, पर उनका सार्वजनिक इतिहास की दृष्टि से भी बहुत

औम (॥) परमभट्टार (क) महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्री-
भोजदेव-महीप्रवर्धमानकल्याणविजयराज्येतनुप्रदत्तपंचमहाशब्दमहासामंत-
श्रीविष्णु (र) म् परिभुज्यमाके (ने) लुअच्छगिरे श्री शान्त्यायत (न)
(सं) निधे श्रीकमलदेवाचार्यशिष्येण श्रीदेवेन कारा (पि) तम् इदम्
स्तंभम् ॥ सम्वत् ९१९ अस्व (श्व) युजेशुक्लपक्ष-चतुर्दश्याम् वृ (बृ)
हस्पतिदिनेन उत्तरभाद्रपद (दा) नक्षत्रे इदं स्तम्भ समाप्तं इति ॥ ० ॥
वाजुआ गगाकेन गोष्ठिकभूतेन इदम् स्तम्भं घटितम् इति ॥ ० ॥ शक
काल (लाब्द) सप्तशतानि चतुरशीत्य-अधिकानि ॥ ७८४ (॥)

लेख वर्णित भोजदेव, महाराज “नगावलोक” (आम) का, पौत्र था। नागावलोक ने बप्पभट्टसूरिजी के उपदेश से देवनिर्मित कहे जानेवाले मथुरा के जैन-स्तूप का जीर्णोद्धार किया था।

कीर्तिस्तम्भों की उपेक्षा नहीं की जा सकती । जैन कीर्तिस्तम्भों पर अद्यावधि समुचित प्रकाश नहीं डाला गया । इस कारण बहुत से कीर्तिस्तम्भों को लोगों ने मानस्तम्भ ही समझ रखा है । चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ १६ वीं शताब्दी की कला का भव्य प्रतीक है । उसमें जैनमूर्तियों का खुदाव आकर्षक बन पड़ा है । इसका शिल्प भास्कर्य प्रेक्षणीय है । दृष्टि पड़ते ही कलाकार की दीर्घकालव्यापी साधना का अनुभव होता है । इस स्तम्भ के सूक्ष्मतम अलंकरणों को शब्द के द्वारा व्यक्त करना तो सर्वथा असंभव ही है । इतना कहना उचित होगा कि संपूर्ण स्तम्भ का एक भाग भी ऐसा नहीं, जिस पर सफलतापूर्वक सुललित अंकन न किया गया हो । सचमुच में यह श्रमणसंस्कृति का एक गौरव स्तम्भ है ।

इसकी ऊँचाई ७५ ।।। फुट है । ३२ फुट का व्यास है । अभी तक लोग यह मानते आये हैं कि इसका निर्माण १२ वीं शती या इसके उत्तरवर्ती काल में बघेरवाल वंशीय साह जीजा ने करवाया था और कुमारपालने इसका जीर्णोद्धार कराया^१ । एकमत ऐसा भी है कि यह वि. सं. ८९५ में बना^२ । मेरे


जैन कीर्तिस्तम्भ
१०२


इस गौरव-स्तम्भ के निर्माता मध्यप्रदेशान्तर्गत **कारंजा** निवासी **पुनर्सिंह** है और १५ वीं शताब्दी में उनसे इसे बनवाया था, जैसा कि **नान्दगाँव** के मन्दिर की एक धातु-प्रतिमा के लेख से ज्ञात होता है। इस लेख को प्राप्त करने में मुझे काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। लेख इस प्रकार है-

दुर्भाग्य से यह लेख इतना ही उपलब्ध हुआ है। कारण कि आगे का भाग प्रयत्न करने पर भी मैं पढ़ न सका, घिस-सा गया है। फिर भी उपलब्ध अंश से एक चलती हुई भ्रामक परंपरा को प्रकाश मिला।

चित्तौड़ में एक और भी कीर्तिस्तम्भ है। आबु में भी एक जैन-कीर्ति-स्तम्भ पाया गया है।

जैन भावशिल्प



इस भाग में केवल वे ही कृतियाँ नहीं आतीं, जिन्हें कलाकार अपनी स्वतंत्र कल्पना द्वारा, विभिन्न रेखाओं में विशिष्ट भावों को व्यक्त करता है। अपितु उनका भी समावेश होगा जो दृश्यशिल्प से संबद्ध है।

शिल्प शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है। वास्तुकला उसका एक भेद है। इसी के द्वारा कलाकारों ने भारतीय जीवन और संस्कृति के अमर तत्त्वों को समुचित रूप से अंकित किया है। जैनोंने जिनमूर्ति, मंदिर और तदंगीभूत उपकरणों का जहाँ निर्माण करवाया, वहाँ पर पौराणिक कथा-साहित्य, और जैनधर्म के आचार प्रतिपादक दृश्यों का भी उत्खनन करवाकर, शिल्प वैविध्य में अभिवृद्धि की।

जैन इतिहास की विशिष्ट घटनाओं को जिस प्रकार साहित्यिकारों ने अपनी शब्दावलियों में बाँधा, उसी प्रकार कुशल शिल्पियों ने अपनी छैनी से, कठोर प्रस्तर पर उकेरकर, उनकी सत्यता पर मुहर लगाई। भारतीय शिल्पकला में, इस शैली को श्रमणसंस्कृतिने ही सर्वाधिक प्रश्रय दिया।

प्राचीन मंदिर और तीर्थस्थानों में विशिष्ट भावसूचक शिल्प की अच्छी सामग्री सुरक्षित रह सकी है, यह समाज का सौभाग्य है। ये हमारी संस्कृति को तो आलोकित करते ही है, भारतीय जीवन के बहुमूल्य इतिहास पर भी प्रकाश डालते हैं। भारतीय समाज और लौकिक रीति-रिवाजों का निदर्शन इन्हीं के द्वारा संभव है। साध्य के प्रति साधकों को स्वाभाविक भक्ति का सक्रिय रूप ही आचार-विषयक परंपरा को अधिक कालतक जीवित रख सकता है।

जैनाश्रित-कला के परम पुनीत क्षेत्र मथुरा में ऐसी कृतियाँ मिली हैं। उनसे भगवान् महावीर के जीवन पटपर प्रकाश डालनेवाले साहित्यिक उल्लेखों की सत्यता सिद्ध होती है^१। जैन-गुफाओं में भी अनेक कथा-प्रसंग दृष्टिगोचर होते हैं।

मध्यकालीन भारतीय शिल्प-स्थापत्य कला का प्रधान क्षेत्र पश्चिम भारत रहा है। वहाँ के राजवंश और उनके अधिकारी तथा श्रीमानों ने स्वस्थ सौन्दर्य की उपासना में सहायक, ऐसे अनेक स्थानों का निर्माण करवाया। आबू का स्थान इन सब में प्रथम आता है। जैनाश्रित शिल्पकला की अनुपम सामग्री एक ही साथ अन्यत्र दुर्लभ है। **विमलवसहि** में ऐसे दृश्यों का प्राचुर्य है।

कहीं साधक वीतराग परमात्मा की श्रद्धापूर्वक आराधना कर रहा है, कहीं त्यागियों की वाणी श्रवण कर रहा है और आशीर्वाद प्राप्त कर, अपने को धन्य मानता है। कहीं पूजन विधान का दृश्य है, तो कहीं गंभीरतम भावों का सफल अंकन है। तात्पर्य कि जैनों कि प्राथमिक क्रियाओं को भी कलाकार ने अपनी उच्चतम कल्पना द्वारा व्यक्त कर सामान्य पत्थरों को भी कलापूर्ण बना दिया है।

पौराणिक-कथा-प्रसंगों में **भरत-बाहुबलि-युद्ध, बहन ब्राह्मी और सुंदरी द्वारा प्रतिबोध, आर्द्रकुमार** के जीवन की विशिष्ट घटना-हस्ति-तापसबोध, श्रीकृष्ण का कालिय-अहिदमन, अश्वामेधबोधतीर्थ-शमलिका विहार की घटना के अतिरिक्त पंचकल्याणक, पार्श्वनाथजी की कमठवाली घटना-शान्तिनाथजी का प्रसंग, नेमिकुमार का सम्पूर्ण चरित्र और श्रेयांसकुमार का दान आदि कई प्रसंग अवश्य ही खुदे हुए मिलेंगे।

विन्ध्यप्रान्त में मूर्तियाँ जसो में मैने देखी है। तोरण-द्वार में भी भावसूचक शिल्प का अच्छा आभास मिलता है। अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण बहुसंख्यक लोग इन्हें समझ नहीं पाते, बल्कि कहीं-कहीं तो ये टूटे-फूटे अवशेष निकाल बाहर किये जाते हैं। प्राचीन मंदिरों के जीर्णोद्धार करनेवालों को बहुत सावधानी से काम लेना चाहिए।

यहाँ पर मैं भावशिल्प की एक और दिशा की ओर संकेत कर दूँ कि रेखाओं के अतिरिक्त कुछ लेखनकला की सामग्री भी शिल्प में आ जाती है। जैसे कि मंदिरों में शतदल या सहस्रदलकमल की पंखुडियों में भगवान की स्तुतियाँ मिलती हैं। वे भी जैनाश्रित कला की गोरव-गरिमा में अभिवृद्धि करती हैं। स्तम्भों पर ऐसी आकृतियाँ अक्सर खुदी रहती हैं।

राणकपुर और कुम्भारियाजी के जिनमंदिरों में भी कई भावशिल्प के उत्कृष्ट प्रतीक गये हैं। इस प्रकार की साधन-सामग्री बहुत से खंडहरों में भी अनायास उपलब्ध हो जाती है। मंदिर या धर्म-स्थान से संबद्ध अवशेषों के

भाव तो प्रसंग को लेकर समझ में आ जाता है, पर एकाकी कोई टुकड़ा मिल जाय तो उसे समझना कठिन हो जाता है। शास्त्रीय एवं अन्यावशेषों के ज्ञान बिना ऐसी समस्या नहीं सुलझती। मैं अपना ही अनुभव दे रहा हूँ।

एक दिन मैं **रॉयल एसियाटिक सोसायटी** कलकत्ता के रीडिंगरूम में अपने टेबिल पर बैठा था, इतने में मित्रवर्य **अर्द्धेन्दुकुमार गांगुली**ने-जो भारतीय कला के महान समीक्षक है और '**रूपम्**' के भूतपूर्व सम्पादक है-मुझे एक नवीन शिल्पाकृति का फोटो दिया, उनके पास **बडौदा** पुरातत्व विभाग की ओर से आया था कि वे इस पर कुछ प्रकाश डालें, मैंने उसे बड़े ध्यान से देखा, बात समझ में आई कि यह नेमिनाथजी की वरयात्रा है। पर वह तो तीन-चार भागों में विभक्त थी, प्रथम एक तृतीयांश में नेमिनाथजी विवाह के लिए रथ पर आरुढ़ होकर जा रहे हैं, पथ पर मानव समूह उमड़ा हुआ है, विशेषता तो यह थी की सभी के मुख पर हर्षोल्लास के भाव झलक रहे थे, रथ के पास पशु-दल रुद्ध था, आश्चर्यान्वित भावों का व्यतिकरण पशुमुखों पर बहुत अच्छे ढंग से व्यक्त किया गया था, ऊपर के भाग में रथ पर्वत की ओर प्रस्थित बताया है।

इस प्रकार के भावों की स्थिति अन्यत्र भी मैंने देखी है, पर इसमें तो और भी विशिष्ट भाव थे, जो अन्यत्र शायद उपलब्ध नहीं हुए। यही इनकी विशेषता है। ऊपर के भाग में भगवान् का लोच बताया है, देशना भी है और निर्वाण महोत्सव भी, दक्षिण कोने पर राजिमती की दीक्षा-गुफा में कपड़े सुखाने का दृश्य सुंदर है, इतने भावों का व्यतिकरण जैनकला की दृष्टि से बहुत महत्व रखता है। इसका उदाहरण देने का एक ही प्रयोजन है कि ऐसे साधन जहाँ कहीं प्राप्त हों, तुरंत फोटो तो उतरवा ही लेना चाहिए।

राजगृह-निवासी श्रीयुत बाबू **कनैयालालजी श्रीमाल** के संग्रह में एक प्रस्तर पट्टिका सुरक्षित है। इसके निम्नभाग में भगवान महावीर की प्रतिमा है। ऊपर के भाग में एक भावशिल्प है। इसमें एक महिला चारपाई पर लेटी है। परिचारिकाएँ सेवामें उपस्थित हैं। महिला का उदर कुछ उठा हुआ-सा है और उपर भाग में चौदह स्वपन है। इसका संबंध भगवान महावीर के चरित्र से जान पड़ता है। महिला उनकी माता **त्रिशला** है, गर्भावस्था का यह दृश्य है। **डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल** और **स्व. बाबू पूर्णचन्द नाहर** ने इसका समय १० शती स्थिर किया है। **ओरियण्टल कांफरेन्स पटना** अधिवेशन से लौटते समय उन्होंने इसे देखा था।

मुगलकालीन जैनमंदिरों में जालियों का खुदाव बहुत सूक्ष्म पाया जाता है, और मंदिर के अग्रभाग में मीनार भी है। मीनार का कारण बताया जाता है कि मुगलों के आक्रमण से वह बच जाता था। मस्जिद समझकर भंजक आगे बढ़ जाते हैं। जालियों का खुदाव काल विशेष की देन है। मैंने बनारस में २-३ जालियाँ देखी हैं जो भेलूपुर की दादावाडी में लगी हुई हैं।

कला की दृष्टि से ये जालियाँ उत्कृष्ट हैं। इसका भास्कर्य इतना सूक्ष्म है कि वेल और पुष्पों की नसें तथा मध्यभाग में पड़नेवाली प्रतिच्छाया तक के भाव सफलतापूर्वक उकेरे गये हैं। सभी जालियों का खुदाव बोर्डर्स पृथक्-पृथक् है। इनकी सुकुमार रेखाओं पर कोई भी मुग्ध हो सकता है। इसका रचना-काल औरंगजेब के बाद का नहीं हो सकता। इन जालियों को प्राप्त करने के लिए वहाँ के एक कलाप्रेमी सज्जनने चेष्टा की, पर जैन समाज ने अपने अधिकार में रखना ही उचित समझा, जब हमारे गुरुमंदिर में वह चीज लगी है, तो व्यर्थ ही क्यों निकाली जाय।

जैनाश्रित भावशिल्प की अखंड परंपरा का इतिहास यद्यपि आज हमारे सामने नहीं है, पर एतद्विषयक सामग्री प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। मानव समाज को स्थायी शान्ति की ओर आकृष्ट करना ही इसका विशिष्ट उद्देश्य है। भाव-शिल्प का विषय भले ही जैन हो, पर वह साम्प्रदायिकता से ऊपर उठी हुई वस्तु है। नैतिकता और परंपरा के ये प्रतीक रस और सौन्दर्य की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इनमें से प्राप्त होनेवाला, आनंद क्षणिक नहीं है। वह आत्मिक भावनाओं को जागृत करता है, स्वकर्तव्य की ओर उत्प्रेरित करता है। इसलिए कि वह गुणप्रधान है।

भावशिल्प में भोगासनों का समावेश अनुचित न होगा। कुछ लोगों ने यह समझ रखा है कि इस प्रकार की आकृतियाँ, तान्त्रिक परंपरा की देन हैं। पर वास्तविक बात कुछ और ही है। एक समय था, प्रत्येक धर्म-मंदिर और तीर्थों में इस प्रकार की आकृतियाँ बनाई जाती थीं। विचारने की बात है कि जिस विकारात्मक दृष्टिकोण से आज की जनता उसे देखती है, क्या, वही दृष्टिकोण उन दिनों भी था ? मुझे तो शंका ही है।

कलाकार अपनी कृतियों के निर्माण-समय कृति के गुण-दोष पर ध्यान नहीं देता पर अपने भावों को आकृति का बाह्य स्वस्थ-सौन्दर्य को, विविध कल्पनाओं द्वारा किसी भी प्रकार के माध्यम से व्यक्त करने में अर्थात्-आनंद

जैनमंदिरों में उपर्युक्त कोटि की आकृतियाँ पाई जाती हैं, वे केवल सामयिक शिल्पकला की प्रतिच्छाया नहीं है। शत्रुंजय, आबू, तारंगा, राणकपुर में खुले या छिपे तौरपर भोगासन पाये जाते हैं। आरंग (जिला : रायपुर, मध्यप्रदेश) के जैन मंदिर का पूरा शिखर ऐसे आसनों से भरा पड़ा है, संभव है इसीलिए इसे 'भाण्डदेघ' का मंदिर कहते रहे होंगे। ऐसी स्थिति में कैसे कहा जा सकता है कि भोगासन प्रतिमाएं शिल्पियों ने आँख बचाकर बना दी होंगी।

वज्रापातादिभीत्यादिवारणार्थं यथोदितम् ।
शिल्पशास्त्रेऽपि मण्यादिविन्यासं पौरुषाकृतिम् ॥

अधःशाखाचतुर्थांशे प्रतीहारौ निवेशयेत् ।
मिथुनै रथवल्लीभिः शाखाशेषं विभूषयेत् ॥

मिथुनैः पत्रपल्लीभिः प्रमथैश्चोपशोभयेत्^१ ।

१. कल्याण-हिन्दू-संस्कृति अंक, पृष्ठ ६६७ ।

भरत “नाट्यशास्त्र” ‘राजधर्मकौस्तुभ’ आदि ग्रन्थों से भी ऐसी आकृतियों का समर्थन होता है।

जैन लेख



आज के युग में यह बताना नहीं पड़ेगा कि प्राचीन लेखों का क्या महत्व है। इतिहास और पुरातत्त्व का विद्वान शिलोत्कीर्ण लेखों की उपेक्षा नहीं कर सकता, कारण कि तात्कालिक घटनावलियों को जानने का सर्वाधिक विश्वस्त साधन लेख ही है।

साहित्यादि में अतिशयोक्ति को स्थान मिल सकता है, पर लेखों में यह बात सम्भव ही नहीं। वहाँ तो सीमित स्थान में ही सूत्ररूप से मौलिकवस्तु उपस्थित करनी पड़ती थी। जैन-संस्कृति का सार्वभौमिक महत्व इन्हीं लेखों के गंभीर अनुशीलन पर निर्भर है। स्थूल रूप से उपलब्ध लेखों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. शिलोत्कीर्ण लेख

२. प्रतिमा पर खुदे लेख

सापेक्षतः प्रथम भाग के प्राचीन लेख कम मिलते हैं। पुरातन शिला-लिपि में सर्वप्रथम जिक्र उस लेख का आता है जो **वीर नि. सं. ८४** में लिखा गया था^१। **महामेघवाहन खारवेल** का लेख भी जैन इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। **उदयगिरि-खंडगिरि** में और भी प्राकृत लेख उपलब्ध हुए हैं, जिनका सामूहिक प्रकाशन पुरातत्त्वाचार्य **मुनि जिनविजयजी** ने किया है। मथुरा के जैनलेख तो हमारी अमूल्य संपत्ति है। **डॉ. जाकोबी** ने इन्हीं के आधार पर जैनागमों की प्राचीनता स्वीकार की है।

भाषाविज्ञान, इतिहास और समाजविज्ञान की दृष्टि से भी इनका विशेष महत्व है। पर अद्यावधि इन पर जितना भी कार्य हुआ है, वह आंग्लभाषा में

१. स्व. काशीप्रसाद जायसवाल ने उसे यों पढ़ा है -

विराय भगवत... ८४ चतुरासितिवसे...

जाये सालिम्मलिनिये रं निविथ माझिसि के ॥

भारत का सर्वप्राचीन संवत्-सूचक लेख है। इस लेख से स्पष्ट है कि उन दिनों राजस्थान में भगवान के भक्त विद्यमान थे।



गुप्तकाल भारत में स्वर्णयुग माना जाता है। जैनसंस्कृति और इतिहास पर प्रकाश डालनेवाले इस युग के लेख नहीं के समान मिलते हैं, उदयगिरि (भेलसा) का लेख अवश्य महत्वपूर्ण है, जो ऊपर आ चुका है। कुछेक मूर्तियों पर भी लेख मिले हैं।

गुप्तोत्तरकालीन लेख-सामग्री प्रचुर है। दक्षिण और उत्तर-पश्चिम में जैनों का प्राबल्य था। श्रवणबेल्लोला की ओर पाये जानेवाले लेखों की लिपि कर्णाटकी-कनाडी है। दक्षिण भारत के कुछ महत्वपूर्ण लेखों का प्रकाशन विस्तृत भूमिका सहित **डॉ. हीरालालजी जैन** के सम्पादकत्व में हो चुका है। यद्यपि इसमें केवल श्रवणबेल्लोला एवं तत्सन्निकटवर्ती स्थानों का ही समावेश है, फिर भी उस ओर के इतिहास पर, इनसे अच्छा प्रकाश पड़ता है।

कर्णाटक में जैन लेखों की अधिकता है, क्योंकि जैन इतिहास की कुछ घटनाएँ इस भूभाग पर भी घटी हैं। मेरा तो विश्वास है कि यदि जैन लेखों को कर्णाटकीय ऐतिहासिक साधनों से पृथक् कर दिया जाय, तो वहाँ का इतिहास ही अपूर्ण रहेगा। इसका कारण यह है कि जैनाचार्यों ने वहाँ पर इतना प्रभाव जमा रखा था, कि जनता उनको अपना ही व्यक्ति मानती थी। मथुरा के लेखों पर डॉ. फुहरर व डॉ. बूलरने अच्छा प्रकाश डाला है। जैन लेखों का वर्गीकरण डॉ. गिरनार ने १९०८ में किया था।

पश्चिम भारत की ओर पाये जानेवाले लेख देवनागरी में है। इनकी संख्या इतनी विस्तृत है कि कई भागों में प्रकाशित किये जा सकते हैं। मध्यकाल में चापोत्कट, चौलुक्य और वाघेला के राज्य में जैनों का स्थान बहुत ऊँचा था। राजा भी जैनधर्म को आदर की दृष्टि से देखते थे। जैसलमेर^१, राजगृह^२, शत्रुंजय^३, राणकपुर^४, गिरनार^५, हथूंडी^६, आबू^७, देवगढ़^८ आदि स्थानों पर मूल्यवान शिलालिपियाँ मिलती हैं। इनमें से बहुतों का प्रकाशन एपिग्राफिया इंडिका तथा 'इंडियन एण्टीक्वेरी' तथा पुरातत्त्व विभाग की वार्षिक कार्यवाही एवं "प्राचीन लेखमाला" हिस्टोरीकल इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ गुजरात भा. १, २, ३ में छुपे हैं। इनके अतिरिक्त बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर^९, राजस्थान पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर, मुनि जिन-विजयजी^{१०}, विजयधर्मसूरि^{११}, नन्दलालजी लोढा^{१२}, डॉ. भोगीलाल सांडेसरा^{१३}, मुनि श्रीपुण्यविजयजी^{१४}, श्रीयुत अगरचन्द्रजी व भँवरलाल

१. जैन लेख संग्रह जैसलमेर भा. ३।

२. "महत्तियाण वंश प्रशस्ति"।

३. ई. स. १८८८-८९ में पुरातत्त्व विभाग ने यहाँ के लेख लिये थे, उन में से कुछेक का प्रकाशन एपिग्राफिया इंडिका भाग २ में हुआ है।

४. आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया १८७८।

५. रिवाइज्ड लिस्ट्स ऑफ एन्टीक्वेरीयन रीमेन्स इन दि बोम्बे प्रैसीडेंसी, वा. ८ और आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया वा. २।

६. एपिग्राफिया इंडिका वा. १।

७. एपिग्राफिया इंडिका वा. ८ और "कलेक्शन ऑफ प्राकृत एंड संस्कृत इन्स्क्रिप्शन्स" तथा "एशियाटिक रिसर्चोर्ज" वा. १६ "अर्बूदाचल जैन लेख संग्रह"।

८. देवगढ़ में जैन पुरातन अवशेषों की प्रचुरता है। यहाँ के २०० से ऊपर लेख भारतीय पुरातत्त्व विभाग ने लिये हैं।

९. जैन लेख संग्रह भा. १-२-३।

१०. प्राचीन जैन लेख संग्रह भा. १-२।

११. धातुप्रतिमा लेख संग्रह भा. १।

१२. श्री जैनसत्यप्रकाश की फाईलों में आपने मालवा के लेख प्रकट करवाये हैं।

१३. फार्ब्स सभा के त्रैमासिक में धातु मूर्तियों के लेख छपे हैं।

१४. वैयक्तिक संग्रह में हैं।



प्राप्त लेखों के आधार पर धातुप्रतिमाओं का इतिहास मैंने गुप्तकाल के लगभग से माना है। उस युग की मूर्तियाँ लेखवाली है। गुप्तोत्तरकालीन प्रतिमाएँ दोनों प्रकार की मिलती है। ८वीं शती के बाद तो इन पर लेख का रहना आवश्यक हो गया था। तदनन्तर धातुमूर्तियों का निर्माण काफी हुआ।

धातुप्रतिमाओं पर जो लेख मिल रहे हैं, उनकी लिपि बहुत ही सुंदर और ग्रन्थलेख की स्मृति दिलाती है। भारतीय लिपियों के क्रमिक विकास के अध्ययन में इनकी उपयोगिता कम नहीं है। कारण कि जैनों को छोड़कर भिन्न-भिन्न शताब्दियों के लेख व्यवस्थित रूप से अन्यत्र मिलेंगे कहाँ ? इन लेखों की विशेष उपयोगिता जैन-इतिहास के लिए ही है, तथापि कुछ लेख ऐसे मिले हैं, जो महत्वपूर्ण तथ्य को लिये हुए हैं।

प्रसंगवश एक बात का उल्लेख अवश्य करूँगा कि श्वेताम्बर समाज ने अपनी मूर्तियों के लेख लेकर कई संग्रहों में प्रकट किये, परंतु दिगम्बर समाज अभी तक सुसुप्तावस्था में ही है। आज के युग में जैन इतिहास के इस महत्वपूर्ण साधन की ओर उपेक्षा भाव रखना उचित नहीं।

चरणपादुका और यंत्रों के लेख सामान्य ही होते हैं। जैनलेखों से अपरिचित विद्वान् अक्सर यह शंका उठाते हैं कि, उनकी उपयोगिता जैन समाज तक ही सीमित है, परंतु मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ। मैंने पश्चिम भारत के कुछ लेखों का विशेष दृष्टिकोण से अध्ययन किया है। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उनमें राजनैतिक और सामाजिक लोकजीवन की बहुमूल्य सामग्री है। राजा महाराजाओं के नामों से ही तो उनकी सीमा का समुचित ज्ञान होता है। किसका अस्तित्व कब तक था, कहाँ तक शासनप्रदेश था, कौन मंत्री था, वह किस धर्म का था, उसने कौन कौन से सुकृत किये, आदि अनेक महत्वपूर्ण बातों का पता जैनलेखों से ही चलता है। लोकजीवन की चीजें भी वर्णित हैं, जैसे कि पायली-प्रादेशिक नाप, प्रचलित सिक्के आदि अनेक व्यवहारिक उल्लेख भी हैं। **कामरां का बीकानेर** पर आक्रमण किसी भी इतिहास से सिद्ध नहीं है, पर जैनप्रतिमा लेख में यह घटना खुदी है^१।

जैन चित्रकला



संसार की ललित-कलाओं में चित्रकला एक ऐसी कला है, जिसमें महान् तत्त्वों का समीकरण हुआ है। न जाने कितने अतीत काल के मानवीय भावों के आकर्षक और विचारोत्तेजक तत्त्वों का समुचित अंकन सहज स्वभाव से इसमें स्फुरित हुआ है। इस कला द्वारा गंभीर और व्यापक मनोभावों को बड़ी आसानी से जनता के सम्मुख रखा जा सकता है।

पूर्वकालीन जानतिरक उन्नति के अस्तित्व के रहस्य और स्वर्णिम स्मृतियों को चिरस्थायी बनाने और उनका प्रतिनिधित्व करने की अपूर्व क्षमता तत्कालीन चित्रकला में है। विभिन्न भाषा-भाषी मनुष्यों की उच्चतिउच्च नैतिक विचारधारा, उनके रहन-सहन एवं तदंगीभूत जीवनगत घटनाओं की वास्तविकता बहुत-कुछ अंशों में उस समय की चित्रकला में अन्तर्निहित है।

कभी-कभी हृदयगत मूल्यवान् भावों के प्रवाह का यथावत् व्यक्तिकरण शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। पर रंग और रेखाओं के माध्यम से विशिष्ट कोटि के अकथनीय विचारों का उद्घाटन बड़ी सहूलियत से हो सकता है। रेखाएँ सुस्पष्ट होकर विशेष अर्थ और गंभीरता का वास्तविक रहस्य उपस्थितकर मानव-हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। वास्तविक चित्र एक उत्तम खंडकाव्य से कम महत्वपूर्ण नहीं। चित्रकर्ता को भी एक आदर्श कवि से कम प्रयत्न नहीं करना पडता। सफल चित्रकार की कल्पनाशक्ति, विचार-स्वच्छता एवं वास्तविकता का यथावत् अंकन करने की शक्ति कवि की मानसिक पृष्ठभूमि से भी बढकर होती है।

मुझे स्पष्ट शब्दों में कहना चाहिए कि सच्चे अर्थ में वही कलाकार है, जो मुक्त भाषा में, अपने मस्तिष्क एवं हृदय के गूढतम भावों के प्रवाह की धाराएँ अस्खलित रूप से, साधारण उपकरणों द्वारा प्रवाहित करने की अपूर्व क्षमता रखता है। अतः यदि व्यापक रूप में उसे उच्च कोटि का दार्शनिक कहें, तो क्या अनुचित है। वह विश्वभाषा-तेजोमयी पर शब्दशून्य वाणी-में केवल रेखाओं के अतुलित बल पर अपना परिष्कृत हृदय बहा देता है। कलाकार की चिन्तनसीमा विस्तृत एवं उसकी विचारधारा भी अन्तर्मुखी होती



व्यापकता

प्राचीन कला-कृतियाँ भी उसमें वर्तमान हैं। यदि विशिष्ट दृष्टिकोण से देखें, तो चित्रकला में चित्रित भाव-भंगिमा, शारीरिक गठन एवं सर्वांगपूर्णता का अच्छा आभास मिले बिना न रहेगा। चित्रकला के छोटे से छोटे सिद्धांत का भी जो विशद विश्लेषण हमारे पूर्वजों ने किया था, वैसा विचार अन्य राष्ट्रों में सम्भवतः न मिले। कालचक्र का प्रभाव अबाध गति से चलता ही रहता है। चित्रकला भी कला की गति और बल को देखकर अवश्य ही प्रभावित हुई है, जैसा कि विभिन्न कालीन साहित्यिक संकेतों से स्पष्ट है।

प्रसंगवशात् यह लिखना भी आवश्यक है कि जिन प्राचीन चित्रों की रेखाओं और रंगों में सजीवता थी, वह भित्ति-चित्र-कला के बाद विलुप्त-सी हो गई। अजन्ता का कलाकार अपनी सामान्य रेखाओं के बल पर एक संपूर्ण विषय को आसानी से अपने में मिला लेता है। परंतु एलोरा में यह बात नहीं पाई जाती। अर्थात् शैली की विभिन्नता स्पष्ट है। नहीं कहा जा सकता कि भित्ति-चित्रों के निर्माणकर्ताओं ने किस आनंद में विभोर होकर हृदय और मस्तिष्क के चंचल भावों का परित्यागकर तूलिकाओं के जरिये उपर्युक्त चित्र विश्व को इसीलिये भेंट किए कि वे भी अपनी मस्ती के भावों से आविर्भूत कलात्मक कृतियों से लाभ उठा सकें। उन कलाकारों का परम आदर्श स्वान्तः

सुखाय था। वे लक्ष्मी के दास नहीं कलादेवी के परम साधक-उपासक थे।

जैन चित्रों की प्राचीनता

ईस्वी पूर्व छठवीं सदी में चित्रकला का इतना विकास हो चुका था कि बुद्धदेव को उसमें भाग न लेने के लिए श्रमणों को आदेश देना पड़ा। तात्कालिक मगध के इतिहास व वैशाली की खुदाई में प्राप्त भाजनों पर की गई चित्रकारी से स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों यह कला वर्ग विशेष की रुचिपोषक न होकर जनता में भी व्याप्त थी।

मगध श्रमणसंस्कृति का ईस्वी पूर्व छठवीं शती में प्रमुख केन्द्र था। यद्यपि उस समय की चित्रकला पर प्रकाश डाल सके, वैसी कृतियाँ, भाजन चित्रकारी को छोड़कर, उपलब्ध नहीं हैं, पर तत्कालीन टेराकोटा-मूर्तियाँ व अन्य चूना पलस्तरवाली कुछ-एक कलात्मक प्रतीकों से उस समय की रेखाओं का परिचय पाया जा सकता है। मूर्ति और चित्र में रूपगत भेद भले ही हो, पर धर्मागत एकता रहती है। जैनों के ग्यारह अंगों का चतुर्थीय समवायांग सूत्र है। इसमें ७२ कलाओं का निर्देश करते हुए **रूपनिर्माण** कला का उल्लेख किया है जो चित्रकला का परिचायक है; क्योंकि रूपनिर्माण में भाव व्यक्त्यर्थ आधार अपेक्षित है, चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल। आधार जितना सूक्ष्म होगा उतनी ही कला श्रेष्ठ समझी जायगी। तात्पर्य मूर्ति की अपेक्षा, कला विवेचकों ने चित्रकला को, इसलिए अधिक महत्व दिया है कि इसमें कलाकार को अत्यन्त सीमित स्थान में आत्मस्थ सौन्दर्य व लोक रुचि की वृद्धि करनेवाले सूक्ष्मतम अंगों को व्यक्त करना पड़ता है, जो गंभीर चिन्तन, दिर्घकालीन साधना और मर्मभेदी निरीक्षण पर ही अवलम्बित है।

प्रसंगत एक बात का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है, वह यह कि ईस्वी पूर्व **रूपनिर्माण** शब्द व्यापक अर्थ का द्योतक रहा जान पड़ता है, कारण कि महामेघवाहन **श्री खारवेल** के शिलोत्कीर्ण लेख में भी **रूप** शब्द आया है जो इस प्रकार है—“ततो लेखरूप अणनाववहारविधिविसारदेन—अर्थात् बाद में लेख, रूपगणना, व्यवहारविधि में उत्तम योग्यता प्राप्त करके।” इस **रूपशब्द** पर बहुत कम लोगों ने ध्यान दिया है। डॉ. भगवानलाल इन्द्रजी ने रूप का अर्थ चित्रविद्या किया है और **पभोसा** के लेख में जिसे इस पंक्ति का लेखक स्वयं देख चुका है—“**श्री कृष्णागोपीरूपकर्ता**” में डॉ. बूलर ने रूप का अर्थ प्रतिमा किया है। **निसगिगय पाचितिय** नामक बौद्ध-ग्रन्थ की टीका



सामन्त पासादिका में रूप छिन्दित्वाकतो मासको, रूपं सामुत्यापेत्वा कतमासको में 'रूप' का अर्थ "सिक्के पर की मूर्ति" है^१ ।

प्राचीन जैन-साहित्य के तलस्पर्शी अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमें भारतीय चित्रकला पर प्रकाश डालने वाले, उनका महत्व बताने वाले, किस समय चित्रकला की व्यापकता, किन सामाजिक परिस्थितियों के कारण अधिक बढ़ चली थी आदि अनेक महत्वपूर्ण तथ्यात्मक ज्ञातव्यों का पता चलता है । ऐसे उल्लेखों की, भारतीय कला समीक्षकों ने आज तक उपेक्षा की है । जब बौद्ध संस्कृति व चित्रकला के विषयों को स्पष्ट करने के लिए उनके द्वारा निर्मित साहित्य की मदद ली जाती है, तो फिर जैनाश्रित चित्रकला व उसके गंभीर अध्ययन में जैन-साहित्य को उपेक्षित रखना, क्या उसके साथ अन्याय नहीं है ।

जैन-साहित्य में चित्रकला विषयक जो भी उल्लेख आये हैं वे केवल पौराणिक ही नहीं हैं, अपितु उनमें से कुछ-एक का ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्व है । तात्कालिक समसामयिक अन्य ऐतिहासिक साधनों द्वारा, तथाकथित तथ्यपूर्ण उल्लेखों का समर्थन भी होता है । बल्कि मैं तो कहूंगा कि भारतीय रूप निर्माण पद्धति की सभी धाराओं का अध्ययन तब तक अपूर्ण रहेगा, जब तक वर्णित उल्लेखों का उचित पर्वपेक्षण नहीं हो जाता ।

षष्ठान्ग नायाधम्मकथा-ज्ञाताधर्मकथा^२ में उक्खितणाय अध्ययन में महाराजा श्रेणिक का जो प्रसंग वर्णित है, वह भारतीय गृह-निर्माण-कला, तदंगीभूत उपकरण एवं चित्रकला पर प्रकाश डालता है । भवन का वर्णन करते हुए चित्रकला का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है-

अब्भितरओ पत्त सुविलिहियचित्तकम्मे-जिसके भीतरी भाग में उत्तम और पवित्र चित्रकर्म किया गया है ।

आठवें मल्लिक अध्ययन में भी भित्तिचित्रों का उल्लेख किया गया है^३ । यह प्रसंग एक चित्रकार से संबंध रखता है । मिथला के राजा कुम्भराज के पुत्र ने एक चित्रशाला बनवाई । उसकी दीवार पर एक शिल्पी ने केवल अंगूठा देखकर राजकुमारी मल्लिका का पूरा चित्र बना दिया । राजकुमार को यह

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग १, पृ. ५-६ ।

२. ज्ञाताधर्मकथा, पृष्ठ १२ ।

३. ज्ञाताधर्मकथा, पृष्ठ १४२-४३ ।

अप्पणो अदूरसामंते नाणाममणिरयणमंडियं
अहिअपिछणिज्जं महघवरपड्डणुगयं

सण्हपड्डभत्तिसयचित्तताणं इहामिय-उसभ-तुरग-नर-मगर-
विहग-वालग-किन्नर-रुरुसरभ-चमर-कुंजर-वणलय-पऊमलयभत्ति-
चित्तं अब्भि-तरिअं जवणियं अंछवेइ ।”

पादलिप्तसूरि द्वारा रचित तरंगलोला (रचना-काल विक्रम की तीसरी शती) पर से श्री नेमिचन्द्रसूरि द्वारा अवतारित ‘तरंगवती’ कथा में (रचनाकाल ग्यारहवीं शताब्दी) चित्र-पटों का विशद उल्लेख है। जब अजण्टा की कला विकसित हो रही होगी, उन दिनों वहाँ वाकाटकों का राज्य था। पादलिप्तसूरि के समय में वस्त्र-पटों का अंकन भी स्वतंत्रता पूर्वक किया जाता था। वर्णित चित्र न केवल धर्ममूलक ही थे, अपितु प्रकृति से भी सम्बद्ध जान पड़ते हैं। ‘वसुदेवहिन्दी में चित्रित यक्ष-प्रतिमा का उल्लेख हुआ है’। यह ग्रन्थ विक्रम की छठवीं शताब्दी में निर्मित हुआ। उस समय अजण्टा के महत्वपूर्ण भित्तिचित्रों का अंकन हो चुका था। वहाँ के चित्रों में समर्याद शृंगारसूचक यक्ष दम्पति का भव्य चित्र है। इस काल के ग्रन्थ साहित्यिक ग्रन्थों तथा चित्रों में यक्षों का व्यापक उल्लेख मिलता है। संभव है ईस्वीपूर्व सातवीं शती में प्रचलित जिस यक्षपूजा का वर्णन जैनागमों में आया है, संभव है गुप्तकाल में भी यक्ष मान्यता के अवशेष रहे होंगे। यक्ष-चित्र की सूचना अजण्टा के वर्णित चित्र की ओर तो इंगित नहीं करती?

अभी तक जिन उल्लेखों की चर्चा उपर्युक्त पंक्तियों में हुई, वह कला के अभ्यासियों के लिए अच्छा मार्गदर्शन कराती है, पर अब यहां मुझे एक ऐसा उल्लेख उद्धृत करना है जो न केवल चित्रकार की कुशलता पर ही प्रकाश डालता है, अपितु उसकी व्यवहारिक पद्धति की ओर भी संकेत करता है। यह उल्लेख प्रासंगिक होते हुए भी तात्कालिक कलात्मक वातावरण का संकेतात्मक परिचय देता है। उल्लेख इस प्रकार है-

चित्तकारो पच्छ अमवेतूणं पमणजूतं करेति तत्तियं वा वण्णयं
करेति जत्तिणं सम्पपति

-आवश्यकचूर्णिण, पृ. ५५७।

“चित्रकार, बिना नापे ही पीछे से प्रमाणयुक्त चित्र तैयार करता है? या

१. चित्तकम्म लिहिया विव जक्खपडिमा एक्कपडिमा अच्छई, पृ. ७२।

उतना ही रंग तैयार करता है, जितने से चित्र पूर्णतः अंकित हो जाय ।”

विक्रम संवत् ९२५ में श्रीशीलांकाचार्य रचित चउपणमहापुरुष चरियम् में उल्लेख आया है कि भगवान पार्श्वनाथ ने दीक्षा के पूर्व राजीमती व नेमिजिन के भित्तिचित्र, एक प्रासाद में देखे थे ।

महामुनि स्थूलभद्र की एक महत्वपूर्ण जीवन घटना से जैन-समाज का एक भी व्यक्ति शायद ही अपरिचित होगा, वह यह कि उन्होंने ने पाटलीपुत्र की शोभारूप गणिका कोसा की चित्रशाला में चातुर्मास यापन किया था । पूर्व परिचित गणिका का गृह, षट्स भोजन, शृंगारिक हावभाव युक्त कोसा की चेष्टा, वर्षाऋतु और वेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास ये सब घटनाएँ साधक के जीवन में बाधक हो सकती है, यह अनुभव का विषय है । पर अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति संपन्न व समभावी महामुनि स्थूलभद्र के ऊपर उपर्युक्त घटनाओं का लेशमात्र भी प्रभाव न पडा । तात्पर्य कि उस समय प्रत्येक श्रीमंत के घरों में, राजसभाओं में और राजभवनों में स्वतंत्र चित्रकलाएँ निर्माण कराने की प्रथा थी । वात्सायनसूत्र से व चित्रकला विषयक अन्य उल्लेखों से उपर्युक्त पंक्तियों का समर्थन होता है ।

उपर्युक्त सूचनात्मक संकेतों के अतिरिक्त अनुयोगद्वार सूत्र, पिरशिष्ट पर्व आदि अनेक जैनसाहित्यिक ग्रन्थों में सैंकड़ों, चित्रकला विषयक विस्तृत, विवेचनात्मक व व्यवहारिक उल्लेख संगृहित है । स्थानवृद्धि के कारण उन सभी का उल्लेख या संकेतमूलक परिचय नहीं दिया जा सका ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपर्युक्त उल्लेखों में ऐतिहासिक तत्त्व कितना है ? यद्यपि यह प्रश्न सरल नहीं कि शीघ्रता से हल कर लिया जाय । इस पर मैं अभी तो अधिक विवेचन में न जाकर इतना ही कहना उचित समझता हूँ कि इन उल्लेखों की सत्यता समझने के लिए हमारे पास एक दृष्टि चाहिए । बुद्धिजीवी इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि साहित्य तात्कालिक समाज का प्रतिबिम्ब ही नहीं है ।

कलाकार सामयिक तथ्यों को व्यक्त करते समय प्राचीन परंपरा का अनुसरण करता हुआ भी, तत्सम सामयिक कलात्मक व रुढिगत, सामाजिक तत्त्वों की उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता । जिस समय उपर्युक्त ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, उस समय की चित्र कलात्मक-पद्धति का अंकन इन ग्रन्थों में हुआ ऐसा समझना चाहिए । इन पंक्तियों के पीछे कोरी भावुकता नहीं, तथ्य

समस्त संसार में जितने भी प्राचीन कला के उदाहरण उपलब्ध हुए हैं, वे प्रायः भित्तिचित्र के हैं। पुरातन गुफा, धर्मस्थान, राजप्रासाद या श्रीमंतों के निवास स्थानों पर विविध प्रकार के चित्रांकनों का समर्थन कलात्मक ग्रन्थों से होता है। मैं यहाँ पर चौदहवीं शताब्दी के एक ग्रन्थ का उद्धरण देने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। 'ठक्कुर फेरु' ने स्वरचित 'वास्तुसार' के गृह प्रकरण में उल्लेख किया है कि गृह के मुख्य द्वार पर कलश आदि चित्रित हों तो बहुत शुभकारक समझना। गृह में किनके चित्र होने चाहिए और किनके नहीं ? इन पर भी ग्रन्थकार ने विचार किया है, जैसा कि योगिनियों के नाटक, महाभारत, रामायण और राजाओं के युद्ध, ऋषियों के व देवों के चरित्र आदि विषयक चित्रों का अंकन गृहस्थों के घरमें न होना

चित्तकलसाइसोहा सविसेसा मूलदारि सुहा ॥ १३६ ॥

चाहिए^१ ।

इस प्रकार के अंकन शुभ माने गये हैं-

“फलवाले वृक्ष, पुष्प लताएँ, सरस्वती नवनिधान युक्त लक्ष्मीदेवी, कलश, वर्धापनादि मांगलिक चिन्ह और सुंदर स्वप्नों की माला ऐसे चित्रों के अंकन गृह में शुभ माने गये हैं ।”^२

फेरु के उपर्युक्त विचार मनोवैज्ञानिक हैं, उस समय की परंपरा का भास होता है । अठ्ठारहवीं शती तक तो उपरिलिखत विचारों का पालन किया जाता था, जिसका पता १७ और १८ शती के नगर वर्णनात्मक साहित्य-गजलों से अवगत होता है, पर बाद में इस प्रथा का सार्वत्रिक परिपालन कम हुआ है । मैंने स्वयं (नासिक जिले के) चांदवडे में अहल्याबाई होलकर के निजी राजप्रसाद की भित्ति पर रामायण और महाभारत के चित्र देखे हैं । जो महाराष्ट्र-तूलिका के श्रेष्ठतम निदर्शन हैं ।

प्राचीन जैन-भित्तिचित्र

जिस प्रकार राजभवन और सार्वजनिक स्थानों पर लोक-रुचि के पोषक चित्र अंकित करवाये जाते थे, ठीक उसी प्रकार धार्मिक स्थान जैसे गुफा या देव मंदिरों की दीवारों पर भी अपने-अपने सम्प्रदायों के महापुरुषों की विशिष्टतम और उत्प्रेरक घटनाएँ व अन्य सांस्कृतिक चित्र अंकित करवाये जाते थे । यह प्रथा प्राचीन थी । मूर्ति-चित्र व्यक्तिगत वस्तु थी, जो हरेक व्यक्ति, इच्छा रहते हुए भी, नहीं बनवा सकता था, भित्तिचित्रों से सभी लाभान्वित हो सकते थे, अशिक्षित भी भावों से प्रेरणा पाकर धर्मगत रहस्य को आत्मसात् कर सकते थे ।

भित्तिचित्रों की आलेखन पद्धति पर मैं अन्यत्र विचार व्यक्त कर चुका हूँ । प्राचीन जैन-भित्तिचित्र मध्यप्रदेश की पहाडी में प्राप्त हुए हैं । इनका उल्लेख स्वतंत्र निबंध में किया जा चुका है ।

१. जोड़णिनद्धरंभं अरहरासयणं च नियोजुद्धं ।

रिसिचरिअ देवचरिअँ इअचित्तं गेहि नहु जुत्तं ॥

२. फलियतरु कुसुमवल्ली नवनिहाणजुअलच्छी किलसं वद्धावणयं सुमिणा-
वालयाइ सुहचित्तं ।

-वास्तुसार, गु. संस्करण, पृ. ६७-८ ।



यद्यपि जैनाश्रित भित्तिचित्रों की संख्या सापेक्षतः अल्प है, पर जो भी है, वे जैनत्व का सफल प्रतिनिधित्व करते हुए, तात्कालिक लोकरुचि का प्रदर्शन भली भाँति कर लेते हैं। मुझे लिखते प्रसन्नता हो रही है कि प्राचीन काल की इस प्रथा का विकास मध्यकालीन जैनों ने खुब किया और आज तक जैन-समाजने, आंशिक रूप से इस पद्धति को सुरक्षित रखा है।

पल्लव कला

पल्लव कला भी भारतीय चित्रकला में श्रेष्ठतम स्थान प्राप्त किये हुए है।

जोगीमारा के जैनाश्रित भित्तिचित्रों के बाद पल्लव भित्तिचित्रों का स्थान आता है। यह स्थान तंजोर के समीप पद्मकोटा राज्य स्थित पहाडियों में अवस्थित है। इसे **सिद्धगुणावास-सित्तन्नवासल** भी कहते हैं। यहाँ मुनियों की समाधियाँ काफी हैं। ये गुफाएँ किसी समय जैन-मुनियों का आश्रम स्थान के रूप से प्रसिद्ध रही होंगी। नाम से तो यही ध्वनित होता है कि वीतराग के प्रशस्त पथ का अनुशरण करनेवाले स्व-पर कल्याण रत, मोक्षकामी मुनियों ने अपने जीवन की बहुमूल्य अंतिम घडियाँ वहाँ व्यतीत की होंगी। जो कुछ भी हो, पर इतना सत्य है कि यह आत्मशोधन का पुनीत स्थान अवश्य रहा है, जहाँ आत्मलक्ष्मी संस्कृति के सावक विश्रान्ति लेते थे। प्रकृति अपना स्वाभाविक सौन्दर्य यहाँ फैलाये रहती थी। गुफाओं का निर्माण भी ऐसे दुर्गम स्थान पर हुआ है, जहाँ पर प्रमादपूर्वक गमन असंभव है। थोड़ी भी असावधानी जीवन को खतरे में डाल सकती है। गुफा के स्थान ई. स. पूर्व तृतीय शताब्दी का एक लेख पाया गया है, जो इस बात का द्योतक है कि उन दिनों भी यहाँ जैनविहार था, तब बाद में इसे बड़ाकर, अलंकरणों द्वारा सजाकर, पूर्व संबंध जागृत किया।

इन गुफाओं का आध्यात्मिक महत्व तो है ही, पर भारतीय चित्रकला की दृष्टि से भी अनुपेक्षणीय है। यहाँ पर जो मंडोदक चित्र पाये गये हैं उनका अपना सांस्कृतिक व कलात्मक महत्व है। सर्वोत्कृष्ट और बृहत्तर चित्र गुफा की छत पर है, अतिरिक्त स्तंभों पर भी चित्रित है। अद्यावधि सुरक्षित चित्रों में दालान की छत का भाग बहुत ही महत्वपूर्ण और वैविध्य का प्रतीक है। समस्त भाग कमलपुष्पों से छाया हुआ है। तालाब का दृश्य तो अत्यंत चित्ताकर्षक है।

कमल के मध्य में मत्स्य, हंस, महिषी, हाथी और हाथों में धारण किये


 जैन चित्रकला
 १२४


श्री गौरीशंकर चटर्जी ने स्वरचित “**हर्ष**” में (पृ. २६२) में सूचित किया है कि “हर्ष” के समकालीन महेन्द्रवर्मा के शासन काल में एक नवीन शैली का विकास हुआ, जिसका नाम **महेन्द्रशैली** पडा। महेन्द्रवर्मा ने ईंट तथा पत्थर के अनेक मंदिर बनवाये। जैसा कि **जुभो डुब्रेयिल** कहते हैं “वे (महेन्द्रवर्मा) तामिल सभ्यता के इतिहास में एक महान् व्यक्ति थे।” शिल्प तथा चित्रकला के विकास में उन्होंने ने जो कुछ योग दिया, उसी के आधार पर यह दावा आवृत है।

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि पल्लव वंशीय महेन्द्रवर्मन् ललित कलाओं के उपासक व उन्नायक थे। उनके समय में ही अर्थात् सातवीं शती ईस्वी में सित्तन्नवासल का निर्माण हुआ। इस गुफा में ५ जिनमूर्ति है। एक का चित्र अभी मेरे सम्मुख है। औरों को भी मैं देख चुका हूँ। अजन्ता की बौद्ध-मूर्तियों में और इनमें स्थापत्य व मूर्तिकला की दृष्टि से बहुत कम अंतर है। यहाँ की दीवारों के पलस्तर, अलंकरणशैली, डिजाइन भी अजन्ता का स्मरण दिलाती है। प्रो. डुवील ने, जो पल्लव कला के माने हुए विशेषज्ञ है, **पल्लवकला** पर स्वतंत्र निबंध लिखा है (इंडियन एन्टीक्वेरी मार्च १९२३) उनका तो मन्तव्य है कि पल्लव स्थापत्य व चित्रशैली स्वतंत्र है। पर अजन्ता के प्रभाव से प्रभावित है। मूर्तिकला और चित्रकला से पल्लव का दान स्मरणीय रहेगा।

महेन्द्रवर्मन् स्वयं विद्वान् भी था । इनके मतविलास प्रहसन से जैन-संस्कृति की-आर्हतों की-व्यापकता का अच्छा आभास मिलता है । उसमें एक कापालिक आर्हतों की आलोचना करता बताया गया है । यह महेन्द्रवर्मन् के

धर्म-परिवर्तन का प्रभाव विदित होता है ।

पल्लवों के बाद भी सामान्य भित्तिचित्र उपलब्ध तो होते हैं-जैसे उडीसा की भुवनेश्वर की जैन-गुफाएँ, पर वे शैली व उपयोगिता के ख्याल से विशेष महत्व नहीं रखते । वे तो केवल क्रमिक विकास की कड़ियाँ मात्र हैं ।

भारतीय चित्रकला की परंपरा अजण्टा, सित्तन्नवासल, वाघ, वादामा और एलोरा के बाद दूसरी दिशा में मुड़ गई है, अर्थात् उपकरण या माध्यम बदल गये । पूर्व भित्तिचित्रों का बाहुल्य था तो बाद ग्रन्थस्थ चित्रों का उत्तर व पश्चिमीय भारत में सहस्रावधिक ग्रन्थस्थ चित्रकला के प्रतीक उपलब्ध हुए हैं । दोनों की धाराएँ पृथक्-पृथक् हैं । उनके कलाकार किस विशिष्ट पद्धति से अनुप्राणित हैं, स्पष्टतः नहीं कह सकते; पर उपलब्ध चित्रों की शैली व भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के कतिपय उल्लेखों के प्रकाश में कहने का साहस किया जा सकता है, कि उत्तरभारतीय अधिकतर प्रतीक अजण्टा की कला से प्रभावित हैं । यह शैली तिब्बत व ब्रह्मदेश तक फैली हुई थी ।

यद्यपि वहाँ के कलाकारों ने लेखन पद्धति व अन्य उपकरणों में पर्याप्त स्वातंत्र्य का परिचय दिया है । तत्तत् प्रान्तीय प्रभाव से अभिषिक्त वे प्रतीक, रेखाओं की मौलिकताओं को सुरक्षित रखे हुए हैं । शिल्पस्थापत्य व तत्कालीन धातु-मूर्तियों से उपर्युक्त पंक्ति का समर्थन होता है । इतिहास से सिद्ध है कि बौद्धों का तिब्बत के साथ सांस्कृतिक संबंध था । बहुत से बौद्ध साधु भी कुशल कलाकार थे । इन्हीं के द्वारा अजण्टाशैली किंचित् परिवर्तन के साथ फैली ।

पश्चिमीय भारत में जो चित्रपद्धति दशम शती के बाद विकसित हुई, उसके बीज या कलाकारों का उत्प्रेरक, एलोर-शिल्प रहा है । चित्र व शिल्पकला के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि एलोरा की गुफाओं में उत्कीर्णित शिल्प रेखाएँ, जैनाश्रित चित्रकला की प्रेरणा शक्ति हैं । अजण्टा के बाद चित्रकला की समाप्ति पर जो आवरण पड़ता है, वह एलोरा के गुफाओं में जाकर उठता है, यहाँ की कला, अजण्टा के समान भौतिक नहीं है, अपितु विशुद्ध आध्यात्मिक है ।

दक्षिण भारत की चित्रकला के इतिहास में एलोरा का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है । पश्चिम भारतीय जैनाश्रित कलाकारों ने एलोरा के शिल्प से प्रेरणा ली; पर चित्रलेखन में प्रान्तीय उपकरण व शैली को उपेक्षित न रखा । एलोरा

और ग्रन्थस्थ चित्रकला के बीच के संबंध को जोड़नेवाले जैनाश्रित चित्रकला के प्रतीक उपलब्ध नहीं होते; पर हाँ, दक्षिण भारत में इतिहास की कड़ियों को जोड़नेवाली लडियां उपलब्ध होती हैं। जिसके परिचय के लिए स्टेलाशक्रामरि का “ए सर्वे ऑफ पेंटिंग इन द देकन” और एनुअल रिपोर्ट “आर्किलाजिकल रिपोर्ट निजाम स्टेट” देखना चाहिए।

परिवर्तन

बारहवीं शताब्दी से जैनकला पुनः अपना रूप बदलकर पुनरज्जीवित होने लगी, क्योंकि विजयी शासक अपनी मदनोन्मत्त मनोवृत्ति को वशीभूत होकर भारतीय संस्कृति और कला के गौरव को उच्चासन प्रदान करने वाली कलाकृतियों को नष्ट करने पर तुले हुए थे, जब जैन-राजकर्मचारी गण और श्रीमंत वर्ग भारतीय साहित्य और ललित-कलाओं के संरक्षण एवं सृजन में तल्लीन थे। राज्याश्रय भी प्रचुर परिमाण में मिलता था। गुजरात के सुविख्यात कलाकार श्रीयुत रविशंकर महाशंकर रावल निम्न शब्दों में सूचित करते हैं-

“भारतीय कला का अभ्यासी जैन-धर्म की उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता, क्योंकि उसका मन तो उस (जैन-धर्म) कला का महान आश्रयदायक और संरक्षक मालूम होता है। वैदिक काल से प्रारंभ कर मध्यकालीन देव-देवियों की कला-सृष्टि के शृंगार से हिन्दु धर्म लादा जा रहा था। समय-प्रवाह के साथ कला भी शनैः शनैः उपासना के परम पवित्र स्थान से पतित होकर इन्द्रिय विलास का साधन बन रही थी। कदाचित् प्रकृति को ही उस समय ये सब बातें अमान्य हों। तदनुसार मुसलमानों के भीषण आक्रमणों ने उसकी स्थिति छिन्न-भिन्न कर दी।

हिन्दू-धर्मने दरिद्रता और निर्बलता स्वीकार की और सोमनाथ-जैसा पावन तीर्थ खंडहर बन गया। उस समय काल श्री पूज्य और पवित्र भाव से प्रश्रय देनेवाले जैन राज्यकर्मचारीगण एवं धनवान वर्ग के नाम और कीर्ति अमर रखकर कला ने अपनी सार्थकता सिद्ध की। महमूद गजनवी की संहार-वृष्टि समाप्त होते ही गिरनार, शत्रुंजय और आबु के शिखरों पर कलाकारों के औजार गर्जित हो उठे और संपूर्ण जगत् आश्चर्य के सागर में डूब जाय ऐसे अमरावती-देवताओं की नगरी की भांति चमक उठे।... प्रत्येक धर्म-साधक उपर्युक्त कला-सृष्टि में महान् एकाग्रता पवित्रता और मन का



समाधान प्राप्त करता । जैन-धर्म ने कला को जो कीर्ति और यश उपार्जित कराई, उस पर सारा भारत गौरवान्वित है और समस्त भारत का यह अमर उत्तराधिकार है^१ ।

ग्रन्थस्थ जैन-चित्रकला

भारतीय राजपूत और मुगल चित्रकला के पूर्व अर्थात् १६ वीं शताब्दी के पूर्व मिलनेवाली चित्रकला को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है । प्रथम कोटि में वे चित्र आते हैं, जिनकी उपलब्धि नेपाल और उत्तरबंगाल में ११ वीं शताब्दी में होती है । द्वितीय श्रेणी में वे चित्र हैं, जो गुजरात, काठियावाड़ और राजपूताने तथा तन्निकटवर्ती स्थानों में ११ वीं शताब्दी के अन्त के मिलते हैं । दोनों में एक-दूसरे का अनुसरण या परस्पर संबंध रहा है, ऐसा ज्ञात नहीं होता । उभय कलाओं में पर्याप्त वैषम्य है, अर्थात् उभय शैली के चित्रों की कला प्राचीन भारतीयों ने अपने अपने ढंग की निर्मित की है । पूर्व की कला प्रधानतया बौद्ध-ग्रन्थों में एवं पश्चिम की कला जैनों के हस्तलिखित धर्मग्रन्थों व ताडपत्रीय प्रतियों में उपलब्ध है । यही जैनाश्रित ग्रन्थस्थ चित्रकला का प्रारंभ काल है ।

ताडपत्रों को विविध प्रकार से संस्कारित कर उन पर क्या प्रसंग व पूर्व आचार्यों के चित्र मिलते हैं, जिनको दो भागों में बांटा जा सकता है । प्रथम विभाग का आरंभ महाराज सिद्धराज जयसिंह चौलुक्य के राज्योदय से होता है । वि. सं. ११५७ (इ. ११००) की चित्रित निशीथचूर्णण उपलब्ध होती है, जो जैनाश्रित कला में सर्वप्राचीन है । इस बीच जैन पोथियां बहुत लिखी गईं । वि. सं. १३४५ (ई. १२८८) में यह काल पूर्ण होता है ।

उपर्युक्त कालीन युग के चित्रों की रेखाएँ तो उतनी सुंदर नहीं हैं, पर रंगों की विविधता का बाहुल्य है । द्वितीय श्रेणी के चित्र काष्ठफलकों, हस्तलिखित पुस्तकों की विशेष सुरक्षा के हेतु बनी काष्ठ की पेटियों तथा प्राचीन वस्त्रों पर चित्रित किये गए हैं । तृतीय विभाग में वे चित्र भी समाविष्ट किये जा सकते हैं, जो कश्मीरी कागज पर अंकित हैं । विक्रम की १५ वीं शती से इसकी शुरुआत होती है । यही कला १६ वीं सदी के अंतिम समय तक अपने स्वतंत्र प्रवाह में प्रवाहित होती रही; पर बाद में राजपूत और मुगल कलाओं के प्रभाव में आकर वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठी । तृतीय

श्रेणी के चित्रों में जैन-चित्रों के अतिरिक्त वे चित्र भी आ सकते हैं, जो वैष्णव सम्प्रदाय के बालगोपाल-स्तुति, गीतगोविंद, दुर्गासप्तशती आदि धर्मग्रन्थों में अंकित हैं।

नामकरण

१५वीं शताब्दी पूर्व जितनी भी कलात्मक चित्र कृतियाँ प्राप्त होती हैं, वे केवल जैनधर्ममान्य ग्रन्थों में ही प्राप्य हैं। प्राप्तिस्थान भी पश्चिमीय भारत है। अतः कला-समालोचकों ने **जैनकला** या **श्वेतांबर कला** के नाम से संबोधन किया। श्री नानालाल चमनलाल मेहता ने इस शैली को गुजराती कला नाम दिया, परंतु विचारणीय प्रश्न तो यह रह जाता है कि इस कला की सीमा केवल गुजरात तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसके उदाहरण पश्चिम भारत के प्रत्येक भूभाग में मिलते हैं। विक्रम संवत् १५२२ में युक्तप्रान्त के जीनपुर, मालव प्रान्तान्तर्गत मांडवगढ में क्रमशः **कल्पसूत्र** और **उत्तराध्ययन** (सं. १५२९) चित्रित किये गये हैं। इनके और गुजरात में पाये गये जैनाश्रित चित्रों में अंतर नहीं है। इस शैली की व्यापकता का मुख्य कारण श्रीयुत साराभाई नवाब यह मानते हैं कि गुजरात के स्वतंत्र हिन्दु राजाओं के आश्रय में मुगल शासन करते थे, अतः चित्रकारों का भी आदान-प्रदान हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं^१ और यह असंभव भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि उन दिनों इस प्रकार की प्रथा भारत में थी, जैसा कि तात्कालिक साहित्य से सिद्ध है। कुछेक चित्रित प्रतियों में चित्रकार के नाम भी मिलते हैं। चित्रकार “देईयाक” (संवत् १४७४) ने खंभात में कालकथा के चित्रांकित किये।

“मुगल सम्राट अकबर के दरबार में जितने भी प्रधान चित्रकार थे, उनमें से ‘माधव’ ‘केशव’ और ‘भीम’ तीनों गुजराती थे। उन्होंने अपनी कला-कृतियों में अपने आपको गुजराती शब्द से संबोधित किया है। इससे स्पष्ट है कि अकबर के दरबार में गुजरात के कलाकारों का समुचित आदर होता था। गुजराती कलाकारों की इस प्रतिष्ठा से सिद्ध होता है कि मुगल समय पूर्व गुर्जर चित्रकला का एक स्वतंत्र सम्प्रदाय था^२।”

सुप्रसिद्ध चित्रकला मर्मज्ञ श्री रायकृष्णादासजी ने ११वीं शती से १५

१. साराभाई नवाब, जैन चित्रकल्पद्रुम पृ. ३१।

२. साराभाई नवाब, ज्ञानोदय व. ३, अं. ४, पृ. २८४।

कविसभा में अपभ्रंश के कवियों और चित्रकारों को एक ही श्रेणी में स्थान देने की बात कही है।”

दक्षिण में “अपभ्रंश” शैली का जन्म हुआ, पर इसके क्रमिक इतिहास की सामग्री गुजरात में ही और वह भी जैन-भंडारों में ही मिलती है।

जैनाश्रित गुर्जरकला भारतीय चित्रकला के इतिहास में बहुत ही महत्व का स्थान रखती है। वह राजपूत और मुगल कलाओं को जन्म देने के सौभाग्य से मण्डित है। स्पष्ट शब्दों में मुझे कहना चाहिए कि इत-पूर्वकाल के चित्र जैनों ने ही निर्माण करवाये और सुरक्षित भी रखे। खुशी कि बात है कि चित्रकाल और किसी-किसी में चितारे का नाम तक उल्लिखित मिलता है। कुछ चित्र ऐसे भी देखने में आते हैं, जिनमें ईरानी कलम का स्पष्ट मिश्रण है। ईरानी प्रभाव कब आया, यह जरा विचारणीय है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो सूचित प्रभाव सर्वप्रथम, उस कल्पसूत्र की प्रति में दृष्टिगत होता है, जो १४७६ ईस्वी जैनपूर^३ में लिखी गई थी। इसमें आलेखित चौहत्तर हाशिये हैं। दयाविजय संग्रह की एक प्रति, जो पंद्रहवीं शती के अंत और सोलहवीं के आदिम भाग में चित्रित की गई थी, उससे जाना जाता है कि उस समय का गुजराती कलाकार न केवल ईरानी कला से परिचित ही था, अपितु उसमें व्यवहृत कलात्मक अलंकारों का उपयोग भी अन्य कृतियों में करता था। इसके मार्जिन में प्रदर्शित आवेद विषयों में ईरानी योद्धाओं की वेशभूषा १५वीं शती के अंतिम चरण की है। इस प्रकार अनेक कृतियाँ पश्चिमीय भारत में निर्मित हुई हैं।

यदि अभिलषित विषय का समीचीन विभागीकरण करें, तो चार भाग

१. डॉ. मोतीचन्द “दक्खिनीकलम” शीर्षक निबंध, कला-निधि व. १, सं. १, पं. २७।

२. मुनि श्रीजयविजयने ‘तीर्थमाला’ में यवनपुर-जौनपुर का उल्लेख इस प्रकार किया है-

अनुक्रमे जउणपुरि आविया जिनपूजी भावन भावीयई

दोइ देहरइ प्रतिमा विख्यात पूजी भावई एकसो सात, ८०

-प्राचीन जैनतीर्थमाला, पृ. ३१।

इस उल्लेख से सिद्ध है कि १८ वीं शताब्दी तक तो वहाँ जैनों का वास था। जौनपुर में लिखे कुछ ग्रन्थ भी मिलते हैं। मुगल इतिहास में जौनपुर का स्थान महत्वपूर्ण था। उन दिनों पटना और दिल्ली के बीच यही बड़ा नगर था।

आसानी से किये जा सकते हैं—(१) ताडपत्रों पर चित्रित और बोर्डर्स वगैरह । (२) ताडपत्रीय ग्रन्थों को भली प्रकार बांधकर मजबूत रखने के लिए काष्ठफलक स्वतंत्र बनते थे । उनके आभ्यन्तरिक भाग विशेष रूप से साफ किये जाते थे और उनके ऊपर किसी जैनाचार्य, तीर्थंकर या किन्हीं ऐतिहासिक घटनाओं के चित्र अंकित रहा करते थे । (३) वस्त्रोंपर चित्रित चित्र । (४) कश्मीरी कागज की पोथियों पर खींचे गये चित्र । प्राचीन काल में व्यापारियों के वही-खातों के बेकार कागजों का कुटा तैयार करवाकर उन पर एक साफ कागज लगवाकर चित्र अंकित करवाये जाते थे । प्रतिमा-चित्रों की अधिकता इसी कोटि की है । इनमें ताडपत्रीय कला को प्राचीन कहना संगत जान पड़ता है ।

चित्रांकन का ढंग

यहाँ पर विचार इस बात का करना है कि जैन-पोथियों और विभिन्न उपकरणों पर चित्रांकन किस ढंग पर होता था । यह विषय जितना कठिन है, उतना ही रुचिकर भी है । प्राचीन सचित्र और अर्द्धचित्रित प्रतियाँ मैंने बहुत-सी देखी हैं—कुछ मेरे संग्रह में भी हैं । अतः यह बात मैं अधिकार पूर्वक कह सकता हूँ कि प्रधानतः ग्रन्थ-लेखक और चित्रकार भिन्न-भिन्न होते थे, तथापि निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि लेखक और चित्रकार एक नहीं होते थे । आज भी कुछ ऐसे साधु हैं, जिनका चित्रात्मक प्रतिकृतियों में सिद्धान्तः विश्वास नहीं है; पर वे चित्र सुंदर बना लेते हैं, इसलिए कि विचारविहीन मानव उन्हें देखकर फंस जाय । इसे तेरापन्थी श्वेताम्बर सम्प्रदाय कहते हैं ।

कभी-कभी ऐसा देखा गया है, लिखनेवाला चित्र के प्रधान स्थान को छोड़ देता था । प्रति का लेखन कार्य धारावाहिक रूप से चलता था । चितारे की स्मृति के लिए कहीं-कहीं पर प्रसंगसूचक शब्द भी लिख देते थे । चितारे सर्वप्रथम मोटे और भद्दे रूप में सफेद, नीला और यदि स्वर्ण की स्याही का काम बताना हो तो पीला आदि रंगों से चित्र की विशेष प्रकार की पृष्ठभूमि तैयार कर लेते थे, जिसमें रक्त वर्ण की प्रधानता रहती थी । बाद में उस पर सुंदर सूक्ष्म तूलिकाओं से (जहाँ तक मेरा ध्यान है, प्राचीनकाल में चूहे के या गिलहरी की पूंछों के चूलों की

१. प्राचीन परंपरा के लेखक और चित्रकार गिलहरी को विशेष ढंग से पकड़ते थे । एक विशाल वस्त्र बिछाकर उस पर विभिन्न प्रकार के अन्नकण या परिपक्व खाद्य बिखेर दिये जाते थे, एवं एक बड़ी चलनी में लकड़ी फंसा कर उसे

बारीक से बारीक तूलिकाएँ बनती थीं) बारीक रेखाएँ खींचकर उनमें यथोचित रंग भर देते थे। उनमें स्त्रियों और पुरुषों की मुखाकृतियों पर विशेष ध्यान दिया जाता था। वस्त्रों एवं आभूषणों पर भी कम ध्यान नहीं दिया जाता था। नासिका पर अधिकतर लाल रंग का उपयोग होता था। जैन साधुओं के वस्त्र मोतीवत् श्वेत दिखाए जाते थे।

प्राचीन चित्रों के अवलोकन के बाद मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि इन चित्रों में पाँच प्रकार के रंगों का प्रयोग होता था। शरीर की भव्यता, शृंगारिक आभूषणों की विलक्षणता, विशिष्ट शैली की भाव-भंगिमा, शारीरिक गठन और अंग-प्रत्यंग का समीचीन उठाव, नीले रंग के विभिन्न शैली के हाशिये पर चित्रित जंगली जानवरों के भव्य चित्र-जैनाश्रित चित्रकला की ये कुछ विशेषताएँ हैं।

कागज की पोथियाँ इस प्रकार भी चित्रित की जाती थीं। सर्वप्रथम कश्मीर के कागज को सुंदर ढंग से कतर कर उसे नमक के पानी में डुबोकर निकाल लिया जाता था, जिससे उसकी उम्र बढे और घुटाई में चमक भी आये। बाद में उस पर इच्छित रंग का लेप कर स्निग्ध पाषाण से खूब घुटाई होती थी, ताकि सलवटें निकल जायें और रंगों की चमक भी निखर उठे। चारों ओर बोर्डर अलग से खींचा जाता था। लाल और बदली रंग विशेषरूप से व्यवहृत होते थे। उस पर स्वर्ण या रजत की स्याही से लिखी हुई लिपि चमक उठती थी।

अध्यात्मतत्त्व वेदी **श्रीमद्देवचन्द्रजी की अध्यात्मगीता** की दो प्रतियाँ मुझे प्राप्त हुई हैं, जिनकी लेखन एवं चित्रकला उपर्युक्त ढंग की हैं। उनके हाशियों पर प्रकृति का तादृश चित्र मनोहर और भव्य हैं। चित्रकला ही आध्यात्मिक भावों की धारा बहाने लगती है और ग्रन्थ का विषय तो वही है। उभय सामंजस्य आकर्षक है। यद्यपि यह कृति १९ वीं शती की चित्रित है, पर

पतली रस्सी से बांधकर एक आदमी दूर रस्सी पकड़े बैठ जाता था। ज्योंही गिलहरी खाद्य के लोभ से चलनी के नीचे आती, त्योंही रस्सी खींच लेते थे, जिससे वह चलनी में गिरफ्तार हो जाती थी। बाद में आदमी उसकी पूँछ के बाल काटकर पाँच मिनट के भीतर ही उसे छोड़े देता था। बालों को एकत्रकर मयूर-पंख के अग्रिम भाग में रस्सी से बांध दिया जाता था। यही सूक्ष्म तूलिका-निर्माण-विधान है। आजतक कहीं-कहीं इसी प्रयोग से काम चलता है। यह तो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तूलिका की बात है। बड़ी तूलिका बनाने के लिए अश्व-पूँछ के बाल काम में लाये जाते थे।



ताडपत्रीय चित्र (प्रथम भाग, वि. सं. ११५७-१३५६)

भारतीय चित्रकला का विकास ताडपत्रों पर भी खूब हुआ। स्पष्ट कहा जाय तो ताडपत्रों पर जो चित्रकला अवतरित हुई और विकसित होते-होते आज तक यत्किंचित् अंश में सुरक्षित रह सकी है, उसका संपूर्ण श्रेय जैनों को ही मिलना चाहिए; क्योंकि उन्होंने अपने द्रव्य को बहाकर कलाकारों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्तिकर उच्चश्रेणी की कलाकृतियाँ सर्जित करवाईं। मैं गर्व के साथ कह सकता हूँ कि भारतीय मध्यकालीन चित्रकला के नमूने इनको छोड़कर अन्यत्र नहीं के बराबर मिलते हैं। इनके अध्ययन के बिना भारतीय चित्रकला का अध्ययन अपूर्ण रहेगा।

जैन-धर्म के इतिहास-पट पर दृष्टि केन्द्रित करने से विदित होता है कि

परमार्हत **श्रीकुमारपाल राजाने** जो कार्य कला के उन्नयन में किया है, वह अद्वितीय है। इतः पूर्व गुजरात में ज्ञानभंडार थे या नहीं, यह एक प्रश्न है; परंतु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि कुमारपाल ने सर्वप्रथम अपनी राजधानी में ज्ञानागार खुलवाया और ताडपत्र मंगा सैकड़ों ग्रन्थ लिखाकर विद्वानों की सुविधा के लिए वितरण कराये।

“पुरातन इतिहास के उपादान की दृष्टि से इन ताडपत्रीय पुस्तकों का क्या महत्व है, यह तो संक्षेप में हमने ऊपर बताया ही है। इसके सिवा एक और सांस्कृतिक उपादान की दृष्टि से कुछ ताडपत्रीय पुस्तकों का अधिक आकर्षण है। वह है चित्रकला की दृष्टि से। ताडपत्रीय पुस्तकों में से किसी-किसी में कुछ चित्र भी अंकित किये हुए उपलब्ध होते हैं। यद्यपि इन चित्रों में विशेषकर जैन-उपास्य देव तीर्थंकरों के प्रतिबिम्ब होते हैं, पर साथ में कुछ और-और दृश्यों के चित्र कहीं-कहीं मिल जाते हैं। ऐसे दृश्यों में प्रधानतया जैनाचार्यों की धर्मोपदेश के

स्वरूप की अवस्था का आलेखन किया हुआ मिलता है। इस आलेखन में आचार्य सभापीठ पर बैठे हुए धर्मोपदेश करते बतलाये जाते हैं और उनके सम्मुख श्रावक और श्राविकागण भावभक्तिपूर्ण उपदेश श्रवण करते दिखाये जाते हैं। कहीं कुछ ऐसे ही और भी अन्यान्य प्रसंगोचित दृश्य अंकित किये हुए दृष्टिगोचर होते हैं। गुफाओं के भित्ति-चित्रों के अतिरिक्त ऐसे छोटे परंतु विविध रंगों से सज्जित, इतने पुराने चित्र हमारे देश में और कोई नहीं मिलते। इसलिए चित्रकला के इतिहास और अध्ययन की दृष्टि से ताडपत्र की ये सचित्र पुस्तकें बड़ी मूल्यवान और आकर्षणीय वस्तु हैं।”

पश्चिम-भारत की भांति दक्षिण-भारत के जैन-भंडारों का परिशीलन अद्यावधि समुचित रूपेण नहीं हुआ। अतः कुछ लोगोंने मान लिया कि दिगम्बर जैन चित्रकला के नमूने नहीं मिलते। सच बात तो यह है कि दिगम्बर जैन विद्वानों ने अभी तक अपने पूर्वजों द्वारा संरक्षित विपुलतम ज्ञानराशि का समीचीन पर्यवेक्षण ही नहीं किया। देशी और विदेशी विद्वानों ने इन चित्रों पर जो कुछ कार्य किया है, उससे हमें विश्वास हो जाता है कि दक्षिण-भारत के जैनों ने ताडपत्रीय ग्रन्थों को तो सचित्र बनाया ही है, पर साथ-ही-साथ अन्य चित्रों की भी कलात्मक सृष्टि करने में वे पश्चात्पाद नहीं रहे।

मद्रास गवर्नमेन्ट म्यूजियम से ‘Tirupatti Kunram’ नामक अत्यन्त मूल्यवान ग्रन्थ मि. टी. एन. रामचन्द्रम् द्वारा लिखित प्रकाशित हुआ है। इसमें प्रकाशित चित्रों से दक्षिण-भारत की जैन-चित्रकला-पद्धति का सामान्य आभास मिलता है। इनमें से अधिकांश चित्र भगवान् ऋषभदेव और महावीर की जीवन-घटनाओं पर प्रकाश डालते हैं; परंतु फिर भी उस समय के पहनाव, नृत्यकला (प्लेट ५३-५४-५५-५६-५७-५८-६०-६१) के तत्त्वों का परिज्ञान हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें से सभी को उत्कृष्ट कला-श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, तथापि इनका अपना वैशिष्ट्य है।

श्रीघवला का स्थान दि. साहित्य में महत्व का है। मूडविद्री में इसकी एक प्रति लिखी हुई मिली है, जो सचित्र है। षट्खंडागम भाग ३ में कुछ चित्रों का प्रकाशन हुए है। इनमें से ऊपर उभय चित्र बड़े भावपूर्ण है।

तीर्थकरों की पद्मासनावस्था, वीतरागमुद्रा और यक्ष-यक्षिणी के मुख-सौरभ विस्मयकारक भव्यता को लिये हुए है। द्वितीय चित्र दिगम्बराचार्यों के प्रतीत होते हैं। एक चित्र-जो दाहिनी ओर है-**आचार्य हेमचन्द्रसूरिजी** के प्रमुख ताडपत्रीय चित्र का स्मरण करा देता है। उभय-साम्य स्पष्ट है। शेष पत्रों में बाहुबली स्वामी और अन्य तीर्थकर परमात्मा के भावों के अंकन के बाद अंतिम पत्र में जैनो के भौगोलिक इतिहास से संबंधित चित्र है। इन चित्रों के मध्य-भाग में कमलाकार चक्र सुंदर रूप से चित्रित है। खेद इस बात का है कि जहाँ पर चित्र प्रकट किये गये हैं, वहाँ उनकी कला एवं समयसूचक विवरण नहीं है। अतः मूल चित्र के अभाव में निश्चित निर्माण-समय कैसे किया जा सकता है।

जैसलमेर की चित्र समृद्धि

भारतीय चित्रकला के संरक्षण में **खरतरगच्छीय आचार्य श्रीजिनभद्र सूरिजी** का स्थान सब से आगे है। आपने जैसलमेर में जैनज्ञानभंडार की स्थापना कर भारतीय संस्कृति के मूल्यवान् साधनों की रक्षा की। यदि आप उन दिनों इस महत्वपूर्ण संरक्षण पर ध्यान न देते तो आज हमें चित्रकला की महत्वपूर्ण सामग्री से वंचित रह जाना पड़ता। अभी तक जैसलमेर की ख्याति तालपत्रीय प्रतों के कारण थी, पर **मुनि पुण्यविजयजी** की गवेषणाने प्रमाणित कर दिया कि मध्यकालीन भारतीय कला के इतिहास पर प्रकाश डालनेवाली मौलिक सामग्री का भी वह अनुपम संग्रह है। आपने चौदह काष्ठफलक और ताडपत्र के चित्र खोज निकाले। इनमें से कुछ एक का प्रकाशन उपर्युक्त शीर्षक सूचित ग्रन्थ में हुआ है। शेष भविष्य में प्रकट होंगे। ऐसी आशा है।

काष्ठ पर चित्र

रूपनिर्माण में जैनाश्रित कलाकारों ने अद्वितीय नैपुण्य का जो सुपरिचय दिया है, वह स्पर्द्धा की वस्तु है। कलाकारों ने रूपाधार के लिए कोई निश्चित निर्णय नहीं किया है, वे किसी भी प्रकार के आधार से अन्तःसौंदर्य को 'रूपदान' देने को सक्षम थे। कवि **कीट्स** ने मृण्पात्र में शिल्पनैपुण्य का प्रतीक देखकर उस अमर रचना की प्रेरणा पाई, जो सौंदर्य विवेचकों के लिए मंत्ररूप है-**"ब्युटी इज टूथ, टूथ इज ब्युटी"**। कला का विचार आधार से नहीं, पर पात्रगत आधेय से होता है। उपादान से कला धन्य होती है, कलाकारों के नैपुण्य, उसकी अन्तर्मुखी दृष्टि-वृत्ति एवं प्रतिभा से। **प्रसिद्ध चित्रकार**



माइकेल एंजेलों ठीक ही तो कहा करता था कि-“पत्थर के हर टुकड़े में मूर्ति है, भास्कर उसके अनावश्यक अंशों को तराशकर मूर्ति को प्रकाश में ला देता है, जो लोकचक्षु के अन्तराल में है।” श्री रवीन्द्रनाथ का मतव्य है कि उच्च कोटि की कला के उपादान सर्वत्र भरे पड़े हैं। पर हैं कितने व्यक्ति ऐसे जो बिखरे हुए अमूर्त तथ्यों को एकत्र कर सत्य की ओर जनता को उत्प्रेरित कर सके और कला की अन्तःवाणी के उन्नत आदर्श को समझ सके। जिस प्रकार रसज्ञता दैवी वरदान है, उसी प्रकार रूपदान भी। रूपशिल्प या चित्र में महानता का अभाव नहीं, अभाव होता है कुशल कलाकार का।

उपर्युक्त शीर्षक से बहुतों को आश्चर्य होगा कि लकड़ी पर भी चित्र हो सकते हैं ? पर इसमें विस्मय की कोई बात नहीं है। सामान्य आधार के सहारे सुंदर रससृष्टि करना ही तो कलाकार की कुशलता है। इस विषय पर मैं अन्यत्र स्वतंत्र रूप से विचार कर चुका हूँ। अतः यहाँ तो प्रासंगिक रूप से इतना ही कहूँगा कि जैनाश्रित कला में २५०० वर्ष पूर्व से काष्ठ का व्यवहार, कलाकारों ने सफलतापूर्वक किया है। जैनागम एवं तदुत्तरवर्ती साहित्यिक ग्रन्थों से भी इसका समर्थन होता है। यहाँ मैं केवल चित्रकला विषयक काष्ठों की ही चर्चा करना उचित समझता हूँ।

भोजपत्र पर लिखे ग्रन्थों की सुरक्षा का नैपाल व कश्मीरियों ने, क्या और कैसा प्रबन्ध किया था, यह तो नहीं बता सकता, पर जैनों ने ताडपत्रों पर लिखित ग्रन्थ-रक्षा की जो व्यवस्था की थी, वह हमारे सम्मुख है। कलात्मक कृतियों की रक्षा के उपादान भी तो कलापूर्ण होने चाहिए न ? लेखनकार्य में उपयोगी ताडपत्र स्वभावतः ढाई-तीन फूट से कम लम्बे नहीं होते। अतः उनको सुरक्षित रखने के लिए भव्य-भाग में तीन या आवश्यकतानुसार अधिक, छिद्र बनाकर मजबूत रस्सी में पिरोकर काष्ठफलकों में कसकर बांधे जाते थे, जैसे कोई शत्रु को बांधता हो। ऐसे फलकों के भीतरी भाग को खूब स्वच्छ-स्निग्ध कर, पृष्ठभूमि निमित्त कोई रंग से पॉलीस कर, तदुपरि कथाप्रसंगों को स्पष्ट करनेवाले, तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं पर वेधक प्रकाश डालनेवाले, तीर्थंकरों के या महान् शासन प्रभावक आचार्य के सांस्कृतिक कार्यों से संबद्ध, या प्रकृति के सौंदर्य का प्रतिनिधित्व करनेवाले आकर्षक चित्र अंकित किये जाते थे। इस प्रथा का पालन ब्रह्मदेश, तिब्बत तथा चीन में भी किया जाता था।

१. भारतीय शिल्प एवं चित्रकला में काष्ठ का उपयोग। पृष्ठ ११९।

उपर्युक्त पंक्ति-वर्णित काष्ठफलकों का पता सर्वप्रथम जैसलमेर में तब लगा, जब स्वर्गीय आचार्य श्रीजिनकृपाचन्द्रसूरिजी अपने उपाध्याय मुनि सुखसागरजी आदि सुयोग्य शिष्यों सहित वहाँ के जिनभद्रसूरि स्थापित ज्ञानभंडार का अन्वेषण कर रहे थे। यही प्रथम जैनाचार्य थे, जिनने श्री संघ का विश्वास प्राप्तकर, प्राचीन साहित्य का जीर्णोद्धार किया। आपके साथ १८ तो मात्र लिपिक ही थे। यह घटना वि. सं. १९८२ की है। आपको यहाँ पर जैनसाहित्यान्वेषण करते समय दो काष्ठफलक सचित्र दृष्टिगोचर हुए। इनको आपने, वहाँ के पुरातन विचार के लोगों को समझा-बुझाकर उन्हें बड़ौदा स्टेट फोटो के लिए भेजा, जो बाद में “गायकवाड ऑरियण्टल सीरिज” के अपभ्रंश काव्यत्रयी में प्रकाशित हुए।

इन फलकों पर तात्कालिक प्राकृत भाषा के उद्भट कवि व उत्कृष्ट क्रिया पात्र श्रीजिनवल्लभसूरि और अपभ्रंश भाषा के लोक कवि श्री जिनदत्तसूरिजी के ऐतिहासिक चित्र अंकित है। ये चित्र जब प्रकाशित हुए, तब इन पर कलालोचकों का ध्यान नहीं गया, बल्कि साम्प्रदायिक समझकर उपेक्षित कर दिये।

१९४२ के भीषण राष्ट्रीय आन्दोलन के समय, भारत का एक प्रतिभा सम्पन्न और गवेषणा के कार्य में लोकसेवा में संपूर्ण जीवन देनेवाले महान् संशोधक, सदलबल जैसलमेर पहुंचा और पांच माह तक अविरत भाव से

१. विश्वास शब्द का प्रयोग मैं सकारण ही कर रहा हूँ। इतः पूर्व वहाँ पर जैन-मुनि पहुंचे थे, वे वहाँ के लोगों की धार्मिक भावना का अनुचित लाभ उठाकर, भंडार से बहुमूल्य पुस्तकें चुरा लाये थे, जो आज गुजरात के प्रसिद्ध ज्ञानभंडार की शोभा है। विद्वानों में न जाने यह दोष क्यों आ गया है। स्व. बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर भी बताते थे, उन्होंने एक अति प्रसिद्ध विद्वान् को रागमाला के चित्रों का एलबम अवलोकनार्थ दिया, उन्होंने वर्षों तक रखा, बहुत तकाजे के बाद जब एलबम वापिस मिला तो वे चित्र ही नदारत थे। नाहरजी जहर का घूंट पीकर रह गये। इन पंक्तियों के लेखक का भी ऐसा ही अनुभव है। जब वह कलकत्ता में था, तब एक विद्वान को, कवि जामी के हज के वर्णन का एक हस्तलिखित ग्रन्थ, केवल एक सप्ताह के लिए दिया, इसमें विशुद्ध ईरानी कलम के पाँच चित्र थे। स्वर्ण की भूमि पर काली रेखाओं में चित्र थे। कला और सौंदर्य की दृष्टि से तो अमूल्य थे ही, पर साथ ही इस पर जहाँगीर के कुतुबखाने की मुहर भी लगी थी। मैंने बहुत प्रयास किया, पर प्राप्त करने में अभी तक असफल रहा। अभी भी हमारा राष्ट्रीय चरित्र कितने निम्न स्तर पर है ?



इन फलक-चित्रों का धार्मिक महत्व तो निर्विवाद है ही, पर इससे अधिक मूल्य है चित्रकला की दृष्टि से। परिचय देते हुए मुनिश्री ने लिखा है-

इस विषय पर सुप्रसिद्ध कलाविद् श्रीनानालाल चमनलाल म्हेता विस्तार से लिख रहे हैं। मैं केवल इतना ही कहूंगा कि ये चित्र उस समय की सामाजिक व संगीत तथा नाट्यपद्धति पर भी अच्छा प्रकाश डालते हैं। इनके निरीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि ये एलोरा की कला से खूब प्रभावित हैं। उस समय का कलाकार स्थिर भावों का अंकन तो करता ही था, पर गतिमय भावों को भी सफलता के साथ तूलिका में लपेट लेने में भी सक्षम था। डॉ. मोतीचन्द इन फलकों पर लिखते हैं-

मुनि श्रीजिनविजयजी के बाद मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी जैसलमेर पहुंचे और अपने १४ सचित्र काष्ठफलक ढूंढ निकाले । इनसे पश्चिम भारतीय

२. जैसलमेर नी चित्र समृद्धि, प्राक्कथन ।

प्राचीन शिल्प के प्रकाश में इनको देखें तो पता चलेगा कि कलाकारने उससे जो प्रेरणा ली है वह वैयक्तिक है या पारंपरिक । मुझे पारंपरिक ही जान पडती है । कमलवेल तो अमरावती, साँची और मथुराशैली का अनुकरण स्वरूप जान पडती है ।

१५वीं शती तक तो तालपत्रों का रिवाज था पर बाद में इनका स्थान कागज ने लिया और काष्ठफलकों का स्थान पेटियों ने या पुट्टों ने लिया । पर हाँ काष्ठ-चित्र परंपरा का प्रवाह प्रकारान्तर से चलता रहा । अब हस्तलिखित ग्रन्थों के लिए तदाकार बक्स बनने लगे थे । इन पर भी सुंदर चित्रकारी मिलती है । ऐसे नमूने मेरे संग्रह में हैं । एक पर सरस्वती का चित्र है, एक पर गणेश का ।

२. इसका चित्र “भारतीय विद्याभवन” परिचयपत्र में प्रदर्शित हैं।

१६वीं शताब्दी के बाद काष्ठचित्र परंपरा का अच्छा विस्तार हुआ जान पड़ता है। जो प्रसंग काष्ठफलकों पर चित्रित किये जाते थे, अब उनसे बृहत्तर रूप धारण किया। जैनमंदिरों की काष्ठछतों व दीवारों पर जैन संस्कृति से संबद्ध अनेक भावों का अंकन पश्चिम भारत में हुआ, इस परिवर्तन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनकी लोकरुचि कला की ओर झुकी हुई थी।

जैनाश्रित काष्ठचित्रकला का विकसित भाग अभी तक विद्वज्जगत् को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सका है। मैंने ऐसे कुछ चित्र सूरत व अहमदाबाद के जैनमंदिरों में देखे हैं। मुगलकाल के पूर्व इतिहास पर ये चित्र अच्छा प्रकाश डाल सकते हैं, कारण एक प्रकार से मैं इन्हें वयःसन्धि कालीन चित्र मानता हूँ। राजपूत और मुगल चित्र की बीचकी कड़ियाँ इन्हीं में बिखरी हैं। भारतीय चित्रकला मर्मज्ञों का मैं साग्रह इस ओर ध्यान आकृष्ट करता हूँ। **अहमदाबाद, सूरत, राधनपुर, पाटन और खंभात** के मंदिरों में इनका अच्छा संग्रह है। मुझे सखेद लिखना पड़ता है कि हमारे मंदिरों के कलाशून्य हृदयवाले व्यवस्थापकों द्वारा ऐसी मूल्यवान् सामग्री का बहुत बड़ा भाग तो नष्ट हो चुका। अवशिष्ट भाग की सुरक्षा का वैज्ञानिक प्रबंध अपेक्षित है।

ताडपत्रीय चित्रकला

अब दूसरा विभाग **अल्लाउद्दीन खिल्जी** के आक्रमण के बाद आरंभ होता है। प्रथम विभाग की अपेक्षा इस श्रेणी के ताडपत्रीय चित्र (वि. सं. १३५७-१५००) अत्यन्त सुंदर उपलब्ध हुए हैं। रंगों और रेखाओं का विकास उन दिनों उन्नत पथ पर था, जैसा कि तात्कालिक चित्रों की सजीवता से जान पड़ता है। **सिद्धहैमव्याकरण** (वि. सं. १४२७) के कल्पसूत्र और कालक कथा की अनेक प्रतियाँ भी प्राप्त हैं। उपर्युक्त विभागों की चित्रित प्रतियों का यहाँ केवल उल्लेख ही करना उचित है। इनमें से कुछ चित्रों का प्रकाशन **श्रीजैन-चित्र-कल्पद्रुम** में हुआ है।

वस्त्रों पर चित्र

भारतवर्ष के विभिन्न भागों में और तिब्बत में कपड़ों पर भी अपने अपने मनोभावों के अनुकूल चित्र और लेखन-कार्य होते थे। वस्त्रों के उभय भागों के छिद्रों को बन्द करने के लिए गेहूँ या चावल का विशेष रूप से माँड तैयार करके लेप कर दिया जाता था। सूखने के अनंतर मोहरे से वस्त्रों की



खुब घुटाई होती थी। प्राचीन जैन-ज्ञान-भंडारों में वस्त्रों पर चित्रित और लिखित बहुत-सी सामग्री प्राप्त हो चुकी है; परंतु उन पर कलात्मक अध्ययन उचित रीति से अद्यावधि नहीं हो पाया है। विक्रम संवत् १४०८ की एक प्राचीन वस्त्र-चित्रकृति मिली है, जिस पर माता सरस्वती का भव्य चित्र अंकित है। एक पंचतीर्थी पट भी मिला है, जो इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मि. एन. सी. मेहता ने इसका परिचय **इंडियन आर्ट एण्ड लेटर्स** (१९३२) में दिया है; पर वह अनेक ऐतिहासिक भूलों से भरा पड़ा है। उदाहरण के लिए वनराज के परिपालन में पूर्णरूप से सहायक श्री शीलगुणसूरि को उनका गृहमंत्री बताया गया है।

वि.सं. १९३९ में बम्बई में आचार्य **श्रीपूज्यजी श्रीजिनचन्द्रसूरिजी** ने एक विज्ञप्तिपत्र मुझे दिखाया था, जो २२ हाथ लम्बा और १॥ हाथ चौड़ा रहा होगा। उस पर चित्र तो नहीं है; पर दोनों तरफ के बोर्डर बहुत अच्छे रंगों से सुसज्जित है। उसका लेखनकाल वि.सं. १४३१ है। वह पट सिन्धी-सिरीज में छप भी चुका है। इस प्रकार के विज्ञप्तिपत्र-विषयक पट प्रायः वस्त्रों पर ही पाये जाते हैं, जिनका भौगोलिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है। ऐसे पटों का एक संग्रह भी **एणश्येण्ट विज्ञप्तिपत्राज** (डॉ. हीरानंद शास्त्री के सम्पादकत्व

१. विज्ञप्तिपत्रों की जैनाश्रित चित्रकला भारतीय कला में अपना स्वतंत्र और गौरवपूर्ण स्थान रखती है। कहना न होगा कि यह जैनों की बहुत बड़ी मौलिकता है। वे भारतीय इतिहास, रेवेन्यु विभाग एवं म्युनिसिपैलिटी के स्थान निर्णय में विशेष सहायक प्रमाणित हुए हैं। जैन-धर्मगुरुओं के प्रत्येक गांवों का समूह अपने यहाँ पधारने के लिए विशिष्ट शैली में उनके गुणों की वर्णना करते हुए विज्ञप्तिपत्र भेजा करता था। उस पत्र में गांव के प्रधान चौराहे, बाजार, राजा-महाराजाओं के प्रासाद एवं धनी गृहस्थों के विशाल महल, धर्मस्थानों के चित्र (जिनमें मस्जिद भी सम्मिलित हो जाती थीं), प्रसिद्ध वापिकाएँ एवं वहाँ की स्त्री, पुरुष तथा रीति-रिवाज आदि का सुंदर सजीव चित्रण किया जाता था। बीकानेर और उदयपुर के विज्ञप्तिपत्र उपलब्ध विज्ञप्तिपत्रों में सब से बड़े क्रमशः १०८ और ७२ फुट लम्बे हैं। इन पटों में प्रमुख दुकानों के नाम, मकानों के नाम एवं राज्य के विभिन्न महक में बहुत सुंदर रूप से वर्णित है। उस समय के राजस्थान की सामाजिक एवं ऐतिहासिक विशाल सामग्री इन पटों में है। सैकड़ों विज्ञप्तिपत्र ऐसे भी मिले हैं, जो शिष्यों द्वारा अपने गुरुओं को प्रेषित किये गये हैं। उनसे भारत का भौगोलिक वर्णन एवं चित्र काव्यादि का वैशिष्ट्य प्रस्फुटित होता है। भारतीय चित्र एवं वर्णन की दृष्टि से इन पटों का स्थान महत्वपूर्ण है। मैं आशा करता हूँ कि कला-प्रेमी अपनी उपेक्षित मनोवृत्ति का परित्याग कर इस महान् सामग्री की ओर भी ध्यान देगा।



इनके अतिरिक्त जैनतान्त्रिक साहित्य वस्त्र पर अधिकतर मिलता है । सूरिमन्त्र, वर्धमान विद्या, चौसठ योगिनी, द्वींकार, ऋषिमंडल, नवपदमंडल, हनुमानपताका, पंचांगुली एवं ज्वालामालिनी देवियों की वस्त्रोपरि चित्रित पट प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं । तान्त्रिक पटों की परंपरा का विकास न केवल भारत में हुआ, बल्कि तन्त्रिकटवर्ती तिब्बत और नेपाल में भी हो रहा था । हाल ही में तिब्बतीय चित्रकला का एक उत्कृष्टतम उदाहरण-स्पष्ट कहा जाय तो सत्रहवीं शती की कला का प्रतिनिधित्व करनेवाला एक वस्त्रपट-मेरे देखने में आया है, जो धारिणी और बोधिसत्व की विभिन्न मुद्राओं से संबंधित है । यों तो पट में लाल, भूरा, बैंगनी, हरा, श्याम, गेरुआ आदि कई रंगों का व्यवहार कलाकार ने उत्तम ढंग से किया है, फिर भी नीले रंग की पट-पृष्ठभूमि में जो तादृश्य लक्षण भासित होते हैं, संभवतः वे अन्यत्र न मिलेंगे । चारों ओर उठे हुए बादल, सरोवर में खिले कमल, पट का प्राकृतिक सौन्दर्य और भी बढ़ा देते हैं ।

सोलहवीं शती के प्रथम चरण में जैन साहित्य के महान् संरक्षक श्री **जिनभद्रसूरिजी** के समय का एक विशाल चित्रपट-जैन तन्त्रशास्त्रों पर प्रकाश डालनेवाला-**पालनपुर-निवासी श्रीयुत नाथालालभाई छगनलाल** के पास था, जिस पर अतीव सुंदर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंकन किया गया था। वह पट मुगल राजपूत पूर्व कलाकृतियों में सर्वश्रेष्ठ था, परंतु वर्तमान में इस पट द्वारा ब्रिटिश

म्युजियम सुशोभित हो रहा है। इसी आचार्य के समय का एक और पंचतीर्थी वस्त्रपट बीकानेर के आचार्य गच्छीय ज्ञानभंडार की पेटियों में बन्द पड़ा है, जिसे क्षणिक मुक्ति का सौभाग्य शायद ही प्राप्त होता हो। सौभाग्य की बात है कि उपर्युक्त पट ऐतिहासिक प्रशस्ति से अलंकृत है। इससे ८० वर्ष पूर्व का एक पट बीकानेर के नाहटा-कला-भवन में है, जिस पर हिन्दी-गद्य-साहित्य के आदि ग्रन्थनिर्माता **श्री तरुणप्रभसूरि** का ऐतिहासिक चित्र अंकित है।

सतरहवीं शती के अंतिम चरण के कुछ ऐसे वस्त्र मैंने देखे हैं, जिन पर जैन धर्म के मुख्य सिद्धांत एवं प्रधान मन्त्र-जैसे **अहिंसा परमो धर्म, णमो अरिहंताणं**-विशेष रंग के सूत्र से इस ढंग से बनाये गये हैं, मानों वस्त्र बुनते समय ही विशेष रूप से सूत्र तंतुओं से बन गये हों। मध्यप्रान्त में काष्ठ के पुराने ठप्पे मिले हैं, जिन पर वस्त्रों पर छपनेवाली लताएँ और चित्र अंकित हैं। आजकल भी इसी प्रकार के ठप्पे बनते हैं। यह कला उन दिनों भारत में चतुर्दिक् व्याप्त थी, जिसका स्थान वर्तमान में मीलों ने ग्रहण कर लिया है। इस यन्त्रवाद के युग में भारत की न-जाने कितनी ही मौलिक कलाएँ विलुप्त हो गईं और होती जा रही हैं !

अठारहवीं शताब्दी के शत्रुंजय, गिरनार आदि जैन-तीर्थों के विशाल पट वस्त्रों पर चित्रित उपलब्ध हुए हैं, एवं पुराने वन्दरेरवाल, चंदरवों और पूठियों में तो इतना सुंदर काम मिलता है, जो भारतीय वस्त्रकला का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

कागज पर जैनाश्रित चित्रकला (वि.सं. १४६८-१९५०)

भारत के छोटे-मोटे प्रान्तों में मुसलमानों के आक्रमणों के कारण जानतिक वातारण अशान्त पथ की ओर अग्रसर हो रहा था। १४-१५ वीं शताब्दी में प्रजा में जाग्रति का सूत्रपात हुआ, जिसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक अंग पर पड़ा। इस सामाजिक उत्थान और जाग्रति का यह भी एक कारण हो सकता है कि वह समय अपने उत्तरदायित्व और बाहुबल पर ही जीवित रहने का था। यदि कोई राज्याश्रय से आत्म-रक्षा की आशा करता, तो संभवतः परिस्थिति कुछ और ही होती। अल्लाउद्दीन खल्जी के सरदारों ने हिन्दु-संस्कृति और कला-संबंधीत अनेक साधनों को जानबूझकर नष्ट कर दिया। सचमुच में आर्य-सभ्यता उस काल में बड़े संकट का सामना कर रही थीं। ब्रह्मणवर्ग ने सरस्वती से नाता छोड़ दिया था; पर जैन मुनियों ने शारदामाता



को कभी अपूज्य नहीं रहने दिया, बल्कि वे द्विगुणित उत्साह से उपासना करने में व्यस्त रहने लगे, जैसा कि तत्कालीन जैन-साहित्य और कलात्मक सर्जन से स्पष्ट जाना जाता है। इन दिनों तालपत्रों का स्थान कश्मीरी कागजों ने ले रखा था।

लेखक कागज को तालपत्रीय साइज में काटकर उस पर चित्र वगैरह बनाते थे। प्रारंभिक कला में रंग और रेखाएँ तो एक-सी मिलती हैं; पर समय की गति के साथ उनमें भी क्रमशः परिवर्तन हो गया। पूर्वकालीन चित्र केवल तीर्थंकर भगवान के भवों और उनके पंचकल्याणक या कोई गणधर आदि के मिलते थे; पर अभिलषित काल में कुछ परिवर्तन हुआ। इस युग की कलाकृतियों में कल्पसूत्र और कालक कथा सर्वप्रथम आते हैं। इनका पारायण प्रत्येक जैनी के लिए वर्ष में एकबार अनिवार्य था और अब भी है। यही कारण है कि बड़े-बड़े मुनि भी अपने हाथों से स्वर्ण और रजतमय स्याही से कलापूर्ण ढंग से ग्रन्थ लिखते और कोई-कोई चित्रित भी करते थे। **खरतरगच्छीय उत्कृष्ट विद्वान् कमलसंयमोपाध्याय** ने अपने हाथ से पचासों कलाकृतियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनका महत्व अनेक दृष्टियों से है। उन्हें कला से विशेष अभिरुचि थी।

कल्पसूत्र की एक प्रति, जो अहमदाबाद में सुरक्षित है, इतने महत्व की प्रमाणित हो चुकी है कि उसका मूल्य सवा लक्ष रुपये तक आंका जा चुका है। भारतीय नाट्य, संगीत और चित्रकला, तीनों दृष्टियों से इनका स्थान अपूर्व है। इन चित्रों में राग, रागिनी, मूर्छना, तान आदि संगीतशास्त्र के अनुसार हैं, और आकाशचारी, पादचारी, भीमचारी वगैरह भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्य के विभिन्न रूप बड़े ही भावपूर्ण हैं। प्रत्येक की मुखमुद्रा उनके हृदयगत भावों का स्पष्टीकरण करते हुए विविध रूप उत्पन्नकर साधारण मानव को भी अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। यही उक्त प्रति की कुछ विशेषताएँ हैं।

श्रीयुत साराभाई नवाब की धारणा है—मुगल कालपूर्व जैनाश्रित चित्रकारों द्वारा चित्रित नाट्य और संगीत शास्त्रों के इतने रूप भारत या विदेश के किसी भी संग्रहालय में प्राप्त नहीं।

मालूम होता है, चित्रकारों ने ऐसा नियम बना लिया था कि कोई स्थान रिक्त न छोड़ा जाय। यदि लिखने के बाद कहीं स्थान छूट जाते थे, तो उन स्थानों पर विशेष प्रकार के व्यूह या आकृतियाँ गेरुआ रंग से बना डालते थे।



बाल-गोपाल-स्तुति, रति-रहस्य तथा वात्स्यायन-कामसूत्रों से संपर्क रखनेवाले चित्र भी इसी काल में निर्मित हुए हैं तथा 'मार्कण्डेय पुराण', 'दुर्गासप्तशती' आदि अनेक वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थ सचित्र उपलब्ध हो चुके हैं। जिनका प्राप्तिस्थान पश्चिम-भारत ही है। उनकी कलात्मक सूक्ष्मता का अध्ययन करने से विदित होता है कि उन चित्रों की पृष्ठभूमि, मुख, चक्षु, शरीर-संबंधी अन्य गठन तथा विन्यास, विकास-क्रम आदि जैन-कथा-प्रसंगों से समानता रखते हैं। इसीसे बिना किसी अतिशयोक्ति के कहा जा सकता है कि मुगल-काल से पूर्व इस शैली की सीमा सारे पश्चिम-भारत में फैल चुकी थी और असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति से पारस्परिक भावनाओं को अपनाने की दृढ़ता बढ़ रही थी। इन चित्रों में उस समय की लोक-संस्कृति का अच्छा आभास मिलता है।

कलाकारों के लिए यह अनुभव का विषय है कि जब किसी भी कला के प्रधान उपकरणों में परिवर्तन होते हैं, तब उसकी कला-निर्माण-शैली में भी असाधारणता उपस्थित हो जाती है। ताडपत्र का युग समाप्त हो गया और उसका स्थान जब कागज ने लिया, तब चित्रों पर भी बहुत-कुछ प्रभाव पड़ा। कारण, कला के उपासक को अपनी सूक्ष्मतम कल्पना को मूर्त स्वरूप देने में ताडपत्र की अपेक्षा कागज पर स्थान अधिक चौड़ा मिल जाता है। प्रतीत होता है कि तालपत्रीय युग के कलाकार अपनी प्रतिभा से सीमित स्थान और रेखाओं में वास्तविक मनोवृत्ति का दिग्दर्शन करा देते थे। बाद के कलाकारों को स्थान तो बहुत मिल गया; पर उनमें उस प्रतिभा, भावना और सरस हृदय का अभाव था।

यद्यपि कला के लिए सुविधाएँ अधिक सुलभ हो गई; किन्तु वह उत्थान की ओर न बढ़ सकी। इस काल में चित्रों की संख्या अवश्य ही बढ़ी और चित्रशास्त्र के प्रत्येक अंग-उपांग पर विचार भी होने लगा। यही इस काल की सबसे बड़ी विशेषता थी। जो वहीखाते रद्दी कागज हो जाते थे, उनको कुटकर गता बनाने के बाद उस पर कुछ सुंदर कागज चिपकाकर प्रतिमा-चित्रांकन प्रणालीका भी उन दिनों चलन था, जिसका वास्तविक विकास राजपूतकाल में हुआ।

यद्यपि जैनों द्वारा चित्रित प्रतिमा-चित्र कम ही मिले हैं; परंतु वे हैं बड़े महत्व के। कारण, जैनों ने कला में कभी अपनी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति नहीं आने दी। अतः ऐतिहासिक, रागिनी और प्राकृतिक चित्रों की सृष्टि भी हुई है,

जिनको विद्वानों ने अजैनों की वस्तु समझा है। जैन-प्रतिमा-चित्रवाला अध्याय सर्वथा उपेक्षित रहा है। इस पर लिखने की पर्याप्त सामग्री है।

चित्रकला के विकसित सौंदर्य में आकर्षण उत्पन्न करने में रंग का भी प्रमुख हाथ है। बिना समुचित रंगों के चित्र अपना वास्तविक आवरण नहीं पा सकता। रंग-निर्माण-कला में भारतीयों ने अपने मौलिक आविष्कार किये हैं। यहाँ के कलाकारों ने भिन्न-भिन्न समय में विविध अंगों पर प्रयोजनीय रंगों और पृष्ठभूमि में सामयिक परिवर्तन किये हैं।

ताडपत्रीय चित्रों पर पीत रंग का उपयोग अधिक होता था। आगे चलकर वह स्वर्ण के रूप में परिणत हो गया। पृष्ठभूमि पीत और लाल रंगों की बनाई जाती थी और कथा-प्रसंग में आनेवाले जैन-मुनियों के वस्त्रों में पार्थक्य प्रदर्शनार्थ छोटे-छोटे धब्बे दिये जाते थे। बादली रंग का प्रयोग तो उनमें स्वाभाविक सा हो गया था; पर अब तो इस रंग का चलना इतना बढ़ गया कि पृष्ठभूमि में वही आने लगा। गुलाबी और हरे रंग भी प्रयुक्त हुए। जैन साहित्यलेखन विषयक कुछ उल्लेख **कुमारपालप्रबन्ध उपदेश-तरंगिणी और श्राद्ध-विधि** में मिलते हैं। ग्रन्थ-लेखन-पुस्तिकाओं से भी इस पर प्रकाश पड़ता है।

अब प्रश्न रह जाता है केवल रेखाओं का, क्योंकि चित्र की वास्तविक आत्मा रेखाएँ ही हैं। रेखा-नैपुण्य चित्रकार का बहुत बड़ा साधन है। मूक रेखाएँ भाषा से अधिक भावों का व्यक्तिकरण करती हैं। कौन व्यक्ति किस समय किस विचारधारा में बह रहा है और उसके हृदय में कौन-कौन भाव छिपे पड़े हैं, उन पर शब्द नहीं, रेखाएँ ही प्रकाश डाल सकती हैं।

इस काल की रेखाओं का जहाँ तक अध्ययन किया गया है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनका वास्तविक विकास सभी चित्रों में नहीं हो पाया है। उनका प्रदेश सीमित है। अकबर के काल में महाभारत के फारसी-अनुवाद **रज्जनामा** के अतीव सुंदर चित्र दो-तीन चित्रकारों के हाथों से बने हुए हैं। एक ने रेखा खींची है।

१५वीं शताब्दी जैन-साहित्य के इतिहास में बहुत महत्व रखती है। जैन धर्मानुयायी गृहस्थों ने लाखों रुपयों का सदव्यय कर कला की उपासना खुले हृदय से की। मुनियों ने अपने हाथों से हजारों ग्रन्थों की प्रतिलिपि करके विशाल ज्ञान-भंडारों की संस्थापना की, जिसमें खरतरगच्छाचार्य श्री



जिनभद्रसूरि प्रमुख है। वि.सं. १४५१ में संग्राम सोनी ने स्वर्ण और रजत स्याही से सैकड़ों प्रतियाँ लिखवाकर विद्वान् जैन-मुनियों को भेंट कीं। इस युग में कागज की जो प्रतियाँ लिखी जाती थीं, उनके चारों ओर स्थान छोड़ दिये जाते थे। रिक्त स्थानों पर कहीं तो प्राकृतिक दृश्य और कहीं जंगल के जानवर इधर-उधर फिरते दिखलाये जाते थे। कहीं-कहीं सुंदर बेलबूटों की पंक्तियाँ भी बनी हुई हैं।

भारतीय चित्रकला की दृष्टि से बेलबूटों की बाहुल्यता जैनों द्वारा चित्रित साधनों को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलती। इनपर अभी तक कलाविदों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ, आश्चर्य है ! इस मार्जिन आर्ट को समुचित सर्वप्रथम भारत के सम्मुख उपस्थित करने का यश जैन-चित्रों के विशेषज्ञ श्रीयुत नवाब को मिलना चाहिए। इतः पूर्व एतद्विषय की कोई कल्पना भी नहीं कर सका था। कलाकार-कल्पना अजंटा के बेलबूटों में पाई जाती है। उनका पूर्ण रूप से अनुकरण जैनों ने अपनी चित्रकला में किया। बाद में उनमें आवश्यक परिवर्तन भी हुए।

सोलहवीं शताब्दी में राजपूत और मुगल कलाओं का सहारा पाकर इस ढंग में काफी उन्नति हुई। स्पष्ट रूप से यों कहना चाहिए कि मुगल-कला में जहाँ बेलबूटों का उच्चतम विकास हुआ है, उसके बीज जैन चित्रकला के उपकरणों में विद्यमान है। यद्यपि ईरानी कला में भी पाये जाते हैं; पर उनकी संख्या अत्यल्प है।

मुसलमान लेखकों के अच्छे से अच्छे दो दर्जन ग्रन्थ मैंने देखे हैं। उनसे मेरी निश्चित धारणा हो गई है कि वे लोग भी लेखन-कला में जैनों से आगे रहे थे। मानव-चित्र उनकी दृष्टि में अपराध था, अतः प्राकृतिक चित्रों को सजीवता प्रदान करने में मुसलमानों ने कमाल किया है। प्रत्येक ग्रन्थ के आदि और अन्त भागों के पत्रों पर सुंदर विस्तृत चित्र शोभा के लिए बनवाने की प्रथा थी।

जैन-मुनिगण भी इस कला-कुशलता से पुस्तक लिखते थे कि लेखन-कार्य समाप्त होने के बाद बिना किसी रंग-रेखा के चित्र स्वयं दिखने लगते थे। कहने का तात्पर्य यह कि वे बीच-बीच में इस ढंग से स्थान छोड़ देते थे कि छत्र, कमल, स्वस्तिक, नन्दावर्त आदि अपने आप बन जाते थे।

चित्र की सारी शोभा उसके चक्षुओं पर निर्भर करती है। जैनाश्रित

चित्रकला में चक्षु प्रायः उठे हुए होते हैं। प्राचीन ताडपत्रीय चेहरों को एक ओर दो तृतीयांश अधिक चित्रित किया गया है। कागज के चित्र में चक्षु संपूर्ण हैं। इसके बारे में श्रीअजितघोष का कहना है कि इस प्रकार की चक्षु-निर्माण-शैली कलाकारों की रुचि पर अवलम्बित थी। परंतु बात ऐसी नहीं है। जैन-प्रतिमाओं में चक्षु खचित रहते थे और बाद में उनमें स्फटिक रत्न के तीक्ष्ण चक्षु लगाने की प्रथा चली थी। अतः चित्रों में उठे हुए चक्षु कलाकार की रुचि का विषय न होकर जैन-शिल्प-स्थापत्य का अनुकरण है, स्मरण रखना चाहिए कि इस युग के सभी चित्रों में चाक्षुसादृश्य प्रतीत होता है। यदि चित्रों में तिलक न हों, तो पता तक न चले कि किस संप्रदाय से कौन सा ग्रन्थ संबंधित है।

राजपूत-मुगल-पूर्वकालीन चित्रकला का जहां नाम आता है, वहाँ हमारे यहाँ के चित्र-विशेषज्ञ मौन धारण कर लेते हैं। उनका मन्तव्य रहा है कि इतः पूर्वकालीन चित्रकला के उदाहरण मिलते ही नहीं। पर यह उनका भारी अज्ञान है। ऊपर जिन ताडपत्रीय और कागज के ग्रन्थगत चित्रों की विवेचना की गई है, वे सभी मुगल और राजपूत कला की सीमा के पूर्व के हैं। सैकड़ों चित्र स्वतंत्र भी मिलते हैं।

मुझे बिना किसी संकोच के साथ कहना चाहिए कि इतःपूर्व संवत् आदि से कालसूचक चित्र-सामग्री जैनों को छोड़कर आज तक कहीं पर नहीं मिली। जैन-ज्ञान-भंडारों में रखी साधन-सामग्री का अभी तक पता भी नहीं लगा है और जिनका पता लगा भी है, उनका समुचित अध्ययन ही नहीं हो पाया है।

मुगलकला

१५वीं शताब्दी का भारतीय वातावरण अत्यंत विक्षुब्ध था। राजनीतिक परिस्थिति महान् परिवर्तनों की ओर अग्रसर हो रही थी। बड़े बड़े शासक अपने आपको संभालने में अशक्त थे। मुगलों का बोलबाला था। पुनर्जाग्रति के लक्षण स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। मानव जीवन में स्फूर्ति और नूतन रक्त का संचार हो रहा था। कहना होगा कि मुगल ललितकला और साहित्य से विशेष रुचि रखते थे। ऐसी स्थिति में मुगल-कला का उदय हुआ और जैनाश्रित चित्रकला अपना विशिष्ट स्थान गंवा बैठी। यद्यपि इस युग के कुछ नमूने मिलते अवश्य हैं; पर वे कम हैं। मुगल-चित्र कला में ईरानी संस्कारों का



प्रभाव स्पष्ट है, जो स्वाभाविक था ।

मानव की प्रतिकृति निर्माण करना इस्लाम के विरुद्ध था, तथापि कला की जड़ इतनी गहरी थी कि रात विरोधी प्रयत्नों के बावजूद भी वह ऊपर चढ़ गई, क्योंकि वह जनता की रुचि से संबद्ध थी । कलाकारों ने उसे विभिन्न दिशा में बहाया और मनुष्यों, पशु-पक्षियों आदि के सुंदर चित्र बनाये । अकबर ने इस कला के परिपोषणार्थ अटूट द्रव्य व्यय किया । उसका हृदय कला-तत्त्वों का अमृत-पान कर उनकी वास्तविकता को हृदयंगम कर चुका था । कलाकार का मूल्यांकन साधारण प्रतिमा का काम नहीं है । वह उच्च कला-कोविदों को आर्थिक सहायता द्वारा सम्मानित करता था ।

मैंने मुगल-कला के मूल और छपे हुए अनेक चित्र-एल्बम देखे हैं । उनके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि इस कला को विकसित रूप देने में जहाँगीर का प्रमुख था । उच्चकोटि के कलाकारों के लिए उसके हृदय में ऊँचा स्थान था । अकबर तो चित्रकला को ईश्वर-सान्निध्य-प्राप्ति में प्रधान साधन मानता था । यह युग भोग-विलास का था ।

उच्चकोटि के चित्रों के नमूने यदि जहाँगीर को मिलते, तो उनका अधिक से अधिक मूल्य देकर वह उन्हें अपने संग्रह में रख लेता । मेरे संग्रह में ईरानी चित्रोंवाली एक फारसी प्रति है, जिस पर जहाँगीर की विशाल राजमुद्रा अंकित है । यह पुस्तक जहाँगीर के कुतुबखाने की है, ऐसा उल्लेख है । इसमें महाकवि जामी का चित्र भव्य और भावपूर्ण है । इनकी रेखाओं पर मैं स्वयं मुग्ध हूँ ।

जहाँगीर के दरबारी चित्रकारों में सालिवाहन भी एक थे, जो जैनधर्म के प्रसंगों पर प्रकाश डालनेवाली दो सुंदरतम कृतियाँ निर्मितकर अमर हो गये हैं । उनकी अन्य कृतियाँ अद्यावधि प्राप्त नहीं हैं । आगरे का विज्ञप्तिपत्र (सं. १६६७ कार्तिक सु. २) उनकी अच्छी कृति है, जिससे तत्कालीन लोक-संस्कृति पर समुचित प्रकाश पड़ता है । मुख्य चित्रों पर स्याही से विषय-सूचन किया गया है । सौभाग्य की बात है कि उसमें यह उल्लेख मिला है-उस्ताद सालिवाहन बादशाही चित्रकार ने जैसे भाव अपनी आँखों से देखे, वैसे ही उन सूक्ष्म ऊर्मियों को अपनी मस्तिष्क हृदययुक्त कल्पना के सहारे तूलिका से चित्रित किये ।

उपर्युक्त कलाकार की एक और कृति “धन्नाशालिभद्र चौपाई” है,

मैंने उनके विषय में कुछ नोट्स लिए थे, जिन्हें एक प्रतिष्ठित विद्वान् ने गायब कर दिया, अतः मैं उन पर अधिक क्या लिख सकता हूं। जैनाश्रित कलाओं के कई ऐसे नमूने भी मिलते हैं, जो हैं तो सचित्र; पर लेखन-काल-सूचक संवत्तादि न होने से कला द्वारा ही उनका समय निश्चित किया जा सकता है। मुगल-कला पर डॉ. आनंदकुमारस्वामी, मि. मेहता, ओ. सी. गांगुली जैसे कलाकार विद्वान् पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं, अतः उस पर अधिक लिखना पिष्टपेषण करना है।

चित्रकारने जो चित्र अंकित किये हैं-उनमें से कुछेक का विषय यह है-रक्तमुख और चुची आंखवाले, मस्तक पर बड़ी बड़ी पगडीवाले तीरंदाज मुगल, काबुली कृष्णवर्ण हब्सी, पांडुवर्ण पठान, कुरान पढते हुए वयोवृद्ध मुल्ले-काजी के अतिरिक्त बड़े बड़े टोप मस्तक पर और पैरों में बोरों के समान सूथ ने (पटलून) पहननेवाले, छेड़ते ही कुपित हो जानेवाले (अंग्रेज) फिरंगीगण तक्की कविने छोड़ा नहीं है। यद्यपि अंग्रेज-पोर्टुगिजों का आगमन

कला ऐसी वस्तु नहीं, जो एक ही वर्ग-विशेष की मानसिक रुचि को परितृप्त करे। यह तो वह सरोवर है, जहाँ किसी भी श्रेणी का मानव रुच्यनुकूल तृषा शान्तकर आनंद-विभोर हो सकता है। एक वस्तु में दृष्टिभेद से अनेक तत्त्वों के दर्शन हो सकते हैं। विभिन्न दृष्टिबिन्दुओं को उपस्थित करने में कला ही सबसे अधिक सफल साधन है। मुगलों की कला में उनका वैभव भरा पड़ा है। फिर भी जैनों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि उनकी कला का वास्तविक उद्देश्य आत्म-तत्त्व की पहचान में सहायक होना था।

इस काल के कुछ ऐसे भी चित्र मिलते हैं, जिनका महत्व वाहनों की दृष्टि से विशेष है—जैसे श्रीपालरास के चित्र । यद्यपि ये चित्र लिखे तो गये थे केवल कथा प्रसंगों को लेकर ही; पर विशिष्ट दृष्टिकोण से इस ओर दृष्टिपात करें, तो विदित होगा कि उन दिनों सामुद्रिक यात्रा-विषयक साधन जहाज कैसे थे, उनका ढाँचा कैसा था, रस्सी वगैरह किस प्रकार बांधी जाती थी और उन दिनों विभिन्न उपकरणों को किन-किन नामों से पुकारते थे—आदि अनेक आवश्यक विषयों का परिज्ञान सूचित चित्रों से होता है । ये चित्र भी जहाज के ही हैं ।

वैज्ञानिक और कलाकार यदि इन विषयों पर अन्वेषण करें, तो संभवतः कुछ नई जानकारी प्राप्त हो सकती है। जैन साहित्य में ऐसे पद्यात्मक गीत भी जैन-मुनियों द्वारा रचे गए हैं जिनमें उन दिनों समुद्र की यात्रा करनेवाले सभी प्रकार के जहाज और तदंगीभूत समग्र उपांगों का सविस्तृत वर्णन है। मुगल-कला के बाद जैनाश्रित कला के कुछ उदाहरण मिले हैं, पर वे उतने महत्व के नहीं हैं।

१८ वीं शताब्दी में जो जगत्सेठ की स्वाध्यायपुस्तिका मिली है, वह चित्रविधान की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। मुगल कलम से खूब प्रभावित है। मुझे इसके बेल-बूटे और रंगवैविध्य ने बहुत प्रभावित किया। प्रथम पृष्ठ खोलते ही तबियत फडक उठती है। गंगा का प्रवाह मंदगति से बह रहा है और लक्ष्मी उसमें से निकल रही है। निम्न भाग में लघुलक्ष्मीस्तोत्र लिखा है,

जिसका जगत्सेठ प्रतिदिन पाठ किया करते थे। इसमें समवसरण का सुंदर चित्र है। इसकी लिपि जैनमोड की है पर चित्रकार मुगल जान पड़ता है। 'कुरान' और 'हदीस' में जैसे बेलों में कुछ पंक्तियाँ लिखी रहती है ठीक वही स्थिति यहाँ है।

श्रीमद्देवचन्द्रजी कृत 'स्नात्रपूजा' की सचित्र प्रति की एक प्रति मेरे अवलोकन में आई थीं। जो है तो १९ वीं शती की पर सौंदर्य में कम नहीं। इसी आकार के कई चित्र बनारस, कलकत्ता^१ और जैन उपाश्रयों में पाये जाते हैं। इन पर हमारा ध्यान बहुत कम गया है।

प्रतिमा चित्र

अपभ्रंशशैली में ग्रन्थस्थ चित्रकला विकसित हुई और राजपूत व मुगल कलम में ग्रन्थस्थ चित्रों के साथ प्रतिमा चित्र भी खूब बने। जैनों का योग सापेक्षतः अधिक रहा है। इस प्रकार को, अध्ययन की सुविधाओं के खयाल से तीन भागों में विभक्त करना समुचित प्रतीत होता है। प्रथम भाग में वे चित्र आते हैं, जिनका संबंध तीर्थंकरों के जीवन की विशिष्ट घटनाओं से है। ऐसे चित्र जैनमंदिरों में श्रीमंत गृहस्थों के घरों में अंकित रहते हैं। प्रतिदिन दर्शनार्थ चतुर्विंशतियाँ भी पर्याप्त मिलती हैं। इनकी संख्या हजारों पर^२ जाती है। एक दर्जन से अधिक तो लेखक के ही संग्रह में हैं।

दूसरे भाग में आचार्य व मुनिगण के चित्र आते हैं। इनमें कभी उनके कार्यों पर प्रकाश डालनेवाला ऐतिहासिक प्रसंग मिल जाता है। वैसे आचार्यों के स्वतंत्र चित्र, व्याख्यान सभा आदि प्रसंगों को लिये रहते हैं। ऐसे चित्रों में श्रीजिनदत्तसूरिजी के चित्र अधिक मिलते हैं। तीसरी कोटि है, ऋतु-चित्रों की। नेमि और राजुल, स्थूलभद्र और कोशा के प्रसंगों को लेकर जैन-कवियों

१. मुनि कान्तिसागर-श्रीमद् देवचन्द्र और उनकी स्नात्रपूजा।

-श्री जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ७, अं. १०, पृ. ४९३-९७।

२. मुनि कान्तिसागर-"कलकत्ता जैनमंदिरों में चित्रकला की सामग्री।"

३. जैनसमाज में भक्तामर और कल्याणमंदिर स्तोत्रों का व्यापक प्रचार है। इनके प्रत्येक श्लोक के गंभीर भावों को स्पष्ट करनेवाले प्रतिमा चित्रों के एल्बम प्राप्त हैं। बाबू पूर्णचन्द्र नाहर व "रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल" के हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रहों में ऐसे सुंदर २ एल्बम इन पंक्तियों के लेखक ने देखे हैं। आध्यात्मिक शान्ति इस प्रकार के चित्रों की विशेषता है।



ने “बारहमासा” साहित्य की सुंदर सृष्टि की है। इसमें बारहों मासों का मार्मिक वर्णन के बाद अन्त में शान्तरस का परिपाक होता है।

लौकिकस्थिति के वास्तविक और हृदयस्पर्शी वर्णन के बाद कवि अलौकिक जगत् की ओर बढ़ जाता है। यह साहित्य यों तो अधिकतर प्रान्तीय भाषाओं में पाया जाता है, पर कुछे तो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में भी मिले हैं। रागमालाओं पर भी जैन-कवि की सफल लेखिनी चल पड़ी। अतः रागमाला व ऋतुचित्रों का सृजन भी खूब हुआ। ऐसी कृतियों पर अद्यावधि समुचित प्रकाश नहीं पड़ सका है।

भौगोलिक व संयोजना चित्र

जैनों का भौगोलिक साहित्य भी विशाल है। प्रत्यक्ष जगत में विश्वास करनेवालों के लिए जैनभूगोल एक समस्या है। इस अतिगंभीर व क्लिष्ट विषय पर जैनाचार्यों ने अपने विचार तो व्यक्त किये ही हैं, साथ ही इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए चित्र-सृष्टि भी की है। **त्रैलोक्यदीपिका बृहत्संग्रहणी** के कई चित्र उपलब्ध हुए हैं। इनमें से जो मुगल कालीन हैं, वे तो बहुत ही सुंदर व मूल्यवान हैं। इनमें से कतिपय चित्र “श्री जैनचित्र कल्पद्रुम” में प्रकट हुए हैं।

संयोजना चित्रों का प्रचार राजस्थानी शैली के पूर्व हो चुका था। इनमें कहीं तो कई पशुओं की आकृतियों से एक पशु बनाया जाता था। कहीं-कहीं एक जात के प्राणी के शरीर पृथक् रहते थे पर मस्तक एक ही रहता है। इस प्रकार की शैली का आभास कामशास्त्रादि पुरातन ग्रन्थों से मिलता है, पर मुगल काल में तो यह प्रचार सार्वत्रिक था। तात्कालिक साहित्यिकों ने भी रचना के प्रकारों का निर्देश किया है। संयोजन दोनों प्रकार के होते थे, सजातीय और विजातीय। प्राचीन शिल्प पद्धति में भी विजातीय संयोजनों जनित कुंजर का पता चलता है। **स्व. राखालदास बेनरजी** ने अपने **ओरिसा के इतिहास**^१ में ऐसे शिल्प का उल्लेख किया है, जो रांची जिले के “वोरिया”

1. “On the wooden door of the temple at Borea, the district of Ranchi, is carved the figure of a mythical animal which is called nabagurjara in Orissa. Its body is composed of the limbs of nine animals : viz. the elephant, bull, snake, peacock etc. In the Oriya Mahabharat of Saral Das (16th century) it is said that Krishna once appeared to Arjuna in that

के मंदिर के द्वार पर उत्कीर्णित है। इन पंक्तियों का लेखक इस कृति को देख चुका है।

उपर्युक्त पंक्तियों में जैनाश्रित चित्रकला और उसके प्रकारों का सामान्य परिचय मिल जाता है। मैंने जानबुझ कर मुगलकाल के बाद के उन भित्तिचित्रों का उल्लेख नहीं किया, जो जैन श्रीमंतों के भवनों व उपाश्रयों में अंकित है। उनका काल की दृष्टि से कुछ महत्व तो है ही, पर एतदर्थ स्वतंत्र निबंध अपेक्षित है। एक उदाहरण दूंगा। जैसलमेर के पटवों के पाँचो महलों में, जो चित्र अंकित किये गये हैं, उनका महत्व है। मानव-जीवन से लगाकर मृत्यु तक की सभी अवस्थाएँ बताई गई हैं। कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ भी हैं। दीवारों व छतों पर ये चित्र चित्रित हैं।

श्रमण भगवान महावीर-एल्बम

प्राचीन चित्रों में अधिकतर 'कल्पसूत्र' और 'कालकथा' संबंध है। यहाँ पर मैं एक ऐसे एल्बम का उल्लेख करने जा रहा हूँ, जिसके चित्र हैं तो नवीन, पर भारतीय चित्रकला की दृष्टि से उनका अपना विशेष महत्व है। नवीन होकर भी प्राचीन सांस्कृतिक व उत्प्रेरक भावना के सम्मिश्रण से युक्त है। इनके निर्माण में कलाकार ने जो श्रम किया है, जैसा गंभीर अध्ययन किया है, इसे शब्दों में व्यक्त करना मुश्किल है।

बम्बई के कलाकार श्रीगोकुलदास कापडिया ने भगवान महावीर के जीवन में से जन्म से दीक्षा तक के १५ प्रसंगों का सफल चित्रण किया है। मुख्य आधार 'कल्पसूत्र' का लिया है। ये चित्र केवल धार्मिक होने से ही समाहत नहीं हुए, जैसा कि अक्सर होता है, पर इसमें अजंता से लगाकर आज तक की शैलियों का सामंजस्य है। कलाकार ने भगवान महावीर के जन्म और विहार स्थानों में स्वयं जाकर वहाँ के तात्कालिक उपलब्ध शिल्पात्मक प्रतीकों

form. The figure of the nabagurjara is not to be found anywhere outside Orissa. It is of such a complex nature that we cannot think of its having been inverted independently by the artist of Borea. It is therefore probable that some artist familiar with recent mythological figures of Orissa must have carved it upon the wooden door of the Borea temple."

—"History of Orissa," Vol.II, (1934) by R.D.Banerji;

Preface XVII.



शरीररचना, वेशभूषा, गृह-स्थापत्य और मुकुट पुरातन परंपरा के द्योतक है। मुखाकृतियाँ अजंता का सुस्मरण करती हैं। इन सब बातों के बाद एक बात का स्मरण दिला दूँ कि चित्रकार स्वयं जन्म से अजैन हैं। पर वीर प्रभु के देश में जब (रामगढ़ कांग्रेस में) गये, वहाँ का सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा, तब भगवान महावीर की ओर आकृष्ट हुए और बिना किसी स्वार्थ के स्वाभाविक प्रेरणा से-स्वान्तः सुखाय-इसका निर्माण किया।

पिछली शताब्दी में भारत के सभी प्रान्तों में ऐसी संकीर्णता छाई हुई थी कि एक सम्प्रदाय का व्यक्ति दूसरे सम्प्रदाय के अनुयायि को अपने ग्रन्थ-भंडार नहीं बताते थे । इससे अभारतीय विद्वानों को भारतीय विद्या के अन्वेषण में बड़ी बाधाएँ आती थीं । विलियम जॉन्स को संस्कृत पढ़ने में कितनी कठिनाई उठानी पड़ी । डॉ. वूलर और डॉ. जेकोबी जैसों को भी प्रारंभ काल में बड़े बड़े कष्टों का सामना करना पड़ा था । ऐसी स्थिति में पुरातन चित्रों का दर्शन तो और भी दुर्लभ था ।

अन्वेषकों को उचित सामग्री न मिलने के कारण ही बहुत-सी भ्रान्तियाँ फैल गई थीं, जिनको दुरुस्त करने में बहुत समय लगा। स्वर्गीय विद्वान् डॉ. काशीप्रसादजी जायसवाल ने लिखा है कि “लम्बी नाक और विकट कटाव गढनेवाले रूपदर्शी चित्र कुछ जैनग्रन्थों में मिले हैं, पर वे कबीर साहब के युग के पहले के नहीं।”

धीरे-धीरे सकीर्णता दूर होती गई और लोगों ने इन धार्मिक चित्रों का महत्व समझा। इसीके फलस्वरूप सं. १९८७ में, “देशविरति आराधक समाज” के कार्यकर्ताओं ने अहमदाबाद में जैनलिखित कलाओं की एक विशाल प्रदर्शनी का आयोजन किया था। उसमें जैनग्रन्थ-चित्र, वस्त्र-चित्र के

क्या ही अच्छा हो, यदि प्रतिवर्ष ऐसे जंगम तीर्थों की रचना हुआ करे, जहां तद्विषयक यात्री अपना मानसिक बोझ हल्का कर, नूतन भावनाओं से अनुप्राणित होकर नवसर्जन करने को सक्षम हो। इस प्रदर्शनी पर मुग्ध होकर सुप्रसिद्ध कलासमीक्षक श्रीरसिकलाल भाई परीख ने अपने भाव इस प्रकार व्यक्त किये हैं—“सचमुच यह दर्शन बड़ा मोहक था। सर्वोत्कृष्ट आकर्षण तो यह था कि अक्षर-अक्षर पर कलादेवी का वास था। दूसरे अर्थ में मानों कला अक्षर मालूम पड़ती थी। लिपि इतनी ताजी थी मानों कल ही हो किसीने लिखी हो।”

मेरा निजी विश्वास है कि इस प्रदर्शन ने जैनाश्रित कलाकृतियों कि गवेषणा का क्रान्तिकारी श्रीगणेश किया, और व्यवस्थापकों को अनुभव कराया कि, हमारे पूर्वजों द्वारा प्रदत्त कलात्मक सम्पत्ति को छीपाने की अपेक्षा, प्रकाशित करने में अधिक लाभ व जैन संस्कृति की सच्ची सेवा है। इसी प्रदर्शनी का सुफल है कि **श्रीसाराभाई मणिलाल नवाब** जैसा रूपचित्र और शिल्प का विद्वान तैयार हुआ।

मुझे लिखते प्रसन्नता हो रही है कि आज जैनाश्रित चित्र व शिल्पकला के जितने भी अत्युच्च प्रतीक प्रकाश में आये हैं, उनका पूरा-पूरा यश **श्रीनवाब** को है। इन्होंने अपने तन तोड़ श्रम से न केवल कोने-कोने की खाक छानकर कलाकृतियों की गवेषणा ही की, अपितु उनके, उसी रूप में ब्लाक बनाकर, उन पर स्वयं व एतद्विषयक विद्वद्गर्ग के पास समीक्षात्मक विवरण लिख-लिखवाकर, प्रकाशन भी किया, बल्कि नवीन परंपरा का सूत्रपात किया। इनका प्रारंभिक प्रकाशन **श्रीजैनचित्रकल्पद्रुम** ने विद्वान् मंडली में तहलका मचा दिया, उनको उससे ज्ञात हुआ कि जैनों ने कला की उपासना भी दिल खोलकर की थी। उसके बाद नवाब ने अनेक मौलिक प्रकाशन कर शताब्दियों से बन्द सामग्री से परिचित कराया और भारतीय

૧. મોહનલાલ દેસાઈ-“જૈનસાહિત્યનો સંક્ષિપ્ત ઇતિહાસ ।”

चित्रकला के अत्यन्त महत्वपूर्ण अध्याय का सुनहरा पृष्ठ सदा के लिए खोल दिया ।

‘जैनाश्रित कला’ के कतिपय मौलिक प्रकाशन इस प्रकार है -

सं.	ग्रन्थनाम	प्रकाशक
१	जैनचित्रकल्पद्रुम	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
२	सचित्रकल्पसूत्र,	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
३	जैनचित्रकल्पलता	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
४	महाप्रभाविक नवस्मरण,	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
५	पवित्रकल्पसूत्र (कई भागों में)	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
६	पेंटिंग वर्क ऑफ जैनकल्पसूत्र	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
७	स्टोरी ऑफ कालक	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
८	मि. पें. आ. उत्तराध्ययनसूत्र	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
९	मि. पें. आ. महापाल कथा	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
१०	श्री कल्पसूत्र बारसा	आगमोदय समिति, सूरत
११	जैसलमेर नी चित्रसमृद्धि	साराभाई मणिलाल नवाब, स. मुनि पुण्यविजयजी
१२	दि आर्ट ऑफ जैसलमेर	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
१३	जैन मिनिएचर पेंटिंग्स फ्रॉम वेस्टर्न इंडिया	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
१४	सूरिमंत्रकल्पसंग्रह	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
१५	कालककथाओ	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
१६	एन्श्यन्टविज्ञप्तिपत्राज	गायकवाड ओरियंटल सिरीज बडौदा

- सं. विलियम नॉर्मन ब्राउन, पेन्सिल्वेनिया, अमेरिका

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त “इंडियन आर्ट एंड इंडस्ट्री”, “इस्टर्न आर्ट” “जर्नल ऑफ इंडियन आर्ट”, “रूपम्”, “इंडियन आर्ट एण्ड लेटर्स”, “सोसायटी ऑफ दि ओरियण्टल आर्ट” के जर्नल्स तथा श्रीकुमारस्वामी रचित बोस्टन म्युजियम (अमेरिका) के सूचीपत्रों में प्रकाशित अभिनंदन ग्रन्थ व जैनमासिकपत्रों में, ओरियंटल कॉन्फरेंस एवं प्रान्तीय साहित्य परिषदों के प्रकाशनों में जैनचित्रकला का समीक्षात्मक अध्ययन व प्रतीक उपलब्ध होते हैं ।



जैनाश्रित चित्रकला की जितनी सामग्री प्रकाश में आई उससे अधिक तो अभी पश्चिम भारत के ज्ञान मंदिरों में है। कुछ भाग तो भांग और गांजे के उपासक यतियों ने पानी के मोल बेचकर नष्ट कर दी। जो अवशिष्ट है, वह भी यदि हम संभाल सकें तो काफी है^१। विदेशों में भी जैनकलाकृतियों आदि विद्वानों ने किया। यहाँ पर हम बौद्धों द्वारा निर्मापित कला के प्रतीकों को ही बौद्धकला के नाम से पुकारेंगे। यह मानी हुई बात है कि एक राष्ट्र के सम्मुख यदि कोई दूसरा राष्ट्र समादृत होता है, तो वह केवल कला के द्वारा ही। इसलिए कला और कलाकारों का क्षेत्र अत्यंत व्यापक होता है, वे अपने को एक देश की परिधि में सीमित नहीं रख सकते। कला के द्वारा प्रसारित सिद्धांत, न केवल जीवन के सौंदर्य को ही व्यक्त करते हैं, अपितु वे क्रमशः स्थायित्व की कोटि में आकर युगों तक मानव जाति को अपनी ओर खींचे रहते हैं। भौतिक दृष्टि से तो यह स्वीकार करना ही होगा कि कला के द्वारा ही मानव-संस्कृति सुदीर्घ काल से जीवित है।

साहित्य के क्षेत्र में कला को लेकर कम विवाद नहीं है। कला किसके लिए होनी चाहिए? क्यों होनी चाहिए? आदि ऐसे ही कुछ और भी प्रश्न हैं। परंतु जहां तक हम समझते हैं, इन प्रश्नों की विवेचना एवं मीमांसा उन्हीं लोगों के लिए विशेषकर लाभदायक सिद्ध हो सकती है, जो केवल काल्पनिक संसार में विचरण करते हों, या कोरे बुद्धिजीवी हों। परंतु बुद्धकालीन भारत में जटिल प्रश्न था उस जनता का जो पीडित, शोषित एवं सामन्त वर्ग की दृष्टि से पतित समझी जाती थी। कला के माध्यम द्वारा उनको अपनी स्थिति का वास्तविक दर्शन कराना था।

व्यापकता

बुद्धदेव के पश्चानुवर्ती अनुयायियों ने जावा, सुमात्रा, बर्मा, कम्बोडिया

१. इस निबंध के लेखन में “जैनचित्रकल्पद्रुम” से बहुत सहायता ली गई है, तदर्थ श्रीयुत साराभाई का मैं आभार मानता हूं।

जैन आर्ट इन दि नार्थ, पृ. २४७

स्टडीज इन इंडिया दि नार्थ, पृ. २४७

स्टडीज इन इंडिया पेंटींग, पृ. १-२

इंडियन पेंटिंग्स, पृ. ३८

हिस्ट्री ऑफ इंडियन आर्किटेक्चर, आदि ग्रन्थ इस विषय में द्रष्टव्य हैं।

कलाकार

मानव-ज्ञाति में जब-जब हृदय और मानस परिपूर्ण विकास की चोटी पर पहुँचे तब-तब कला में अमर कृतियाँ सृजित हुई, मानव-जीवन का या इतिहास का कोई भी प्रसंग तब ही मूल्यवान हो सकता है, जब कला के द्वारा उसका अवतार हो, उपर्युक्त पंक्तियों का बौद्ध-संस्कृति में हम साकार रूप पाते हैं। इन्हीं के बल पर बौद्धों ने मानव-जीवन में भारी उत्क्रांति की, परिवर्तन किये और आध्यात्मिक भावों के सर्जन के साथ भौतिक या समाज से संबंधित तत्त्वों की रक्षा की। हम प्रस्तुत निबंध में बौद्ध-धर्म से संबंधित चित्रों की परंपरा पर अपने विचार व्यक्त करेंगे। हम यहाँ कह दें कि एतद्विषयक

हमारा ज्ञान सीमित है ।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बौद्ध चित्रकला का इतिहास किस काल से प्रारंभ किया जाय । प्रश्न कुछ कठिन अवश्य है, पर रोचक भी कम नहीं । इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व हम एक बात पर अपने विचार स्पष्ट कर दें कि कला का जहाँ तक प्रश्न है, चाहे वह चित्र हो या शिल्प उसका निर्माण कलाकार करता है । जिस प्रकार एक काव्य की रचना के लिए हमें विश्व-तत्त्व का सर्वांगीण ज्ञान होना आवश्यक है, बल्कि सारे विषय को आत्मसात् करना पड़ता है । उसी प्रकार कलाकार को जिन भावों का अंकन करना हो, उन्हें वह काफी सोचने के बाद हृदयंगम कर लेना पड़ता है । हाँ, अभिव्यक्ति के उपकरण भिन्न हो सकते हैं, पर भाव-भिन्नता नहीं ।

कोई कलाकार अपनी भावधारा का माध्यम प्रस्तर को ही मानकर छैनी से काम लेता है तो कोई काष्ठ, कागज, तालपत्र या चर्म आदि पर तूलिका से रेखाओं के द्वारा अपनी मानसिक चिंताओं को अभिव्यक्त कर आनंदित हो उठता है । क्योंकि कलाकार की भाषा और लिपि एक प्रान्त या देश से संबंधित न होकर, विश्व से जुड़ी हुई होती है । वह विश्व-लिपि में ही लिखना पसंद करता है ।

बौद्ध-चित्रों के सर्वांगपूर्ण कलात्मक प्रतीक ही भारतीय चित्रकला के श्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं । परंतु उनकी कला एवं सार्वभौमिक उपयोगिता पर प्रकाश डालनेवाले आलोचनात्मक ग्रन्थ अधिकतर विदेशी भाषाओं में ही उपलब्ध हैं । भारतीय भाषाओं में एतद्विषयक साहित्य का एक प्रकार से अभाव-सा है ।

यद्यपि अजन्ता, बाघ आदि कुछ गुफाओं के भित्तिचित्रों पर प्रकाश डालनेवाले लघुतम ग्रन्थ गुजराती व मराठी भाषाओं में हैं, एवं कभी-कभी सामयिक पत्रों में भी निबंध निकला करते हैं । परंतु कला की गंभीर क्षुधा सीमित साधनों से पूर्ण नहीं की जा सकती । साथ ही साथ उनमें किसी प्रधान विषय का विशेष विश्लेषण भी नहीं रहता । अब स्वतंत्र भारत में इतनी विशाल सांस्कृतिक सम्पत्ति का समुचित उपयोग एवं मूल्यांकन होना चाहिए । उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति को प्रकाश में लाकर जनसाधारण समझ सके, ऐसी बोधगम्य भाषा में कृतियों का प्रकाशन अत्यंत वांछनीय है । आज भी विदेशी दृष्टिकोण से लिखित साहित्य को ही हम अपना पथ-प्रदर्शक मानते रहेंगे तो, संभव है अवशिष्ट सामग्री से भी हम लाभान्वित न हो सकेंगे ।



भित्तिचित्र-परंपरा

बौद्ध-धर्ममूलक चित्रकला का विकास पाषाणों पर ही हुआ है। पुरातन कालीन जो भी चित्रकला के प्रतीक उपलब्ध हुए हैं, वे भी इसी कोटि में आ जाते हैं। आदिमानवों ने अपने जीवन के विशिष्ट प्रसंग या प्रिय अथवा खाद्य पशुओं का चित्रण, तथा कहीं कहीं प्रकृतिगत सौंदर्य को भद्दी रेखाओं में लपेटने के प्रयास किये थे। भले ही उन चित्रों में वर्तमान कला-समीक्षकों की दृष्टि से कला के मौलिक तत्त्व दृष्टिगोचर न होते हों, परंतु नृतत्वशास्त्र के तत्त्वों को ध्यान में रखकर यदि गंभीरता से विचार किया जाय तो प्रतीत हुए बिना न रहेगा कि अरण्यवासी मानव ने बाह्य सौंदर्य या अलंकरण रहित चित्रों में अपने हृदय के भाव रख दिये हैं।

मध्यप्रान्त में उपर्युक्त कोटि के बहुसंख्यक चित्र चट्टानों पर प्राप्त हुए हैं। जो गिरि-कन्दराओं में अरक्षित दशा में पड़े हैं। कलाकारों का उस पर ध्यान न जाने का यही कारण मालूम होता है कि वे चट्टान में आवागमन के मार्ग से पर्याप्त दूर हैं, विक्रमखोल, सिंहनपुर^१, नावागढ^२, चक्रधरपुर^३, लिखुनिया^४, भलदरिया^५, विजयगढ^६ और महादेव^७ पर्वत (पंचमढी)

१. रायगढ के निकट नहरपाली (B.N.R) स्टेशन से उत्तर ५ मील पर सिंहनपुर ग्राम अवस्थित है। यहाँ पर्वतों की चट्टानों पर चित्रकारी हैं। इस पर्वतश्रेणी का नाम “चंवरढाल” है। यहाँ पुरातन गुफा-गृह भी हैं। यहाँ के चित्रों से जानपदीय तो पूर्णतः परिचित थे, पर उन्हें क्या पता कि हमारे प्राचीन इतिहास और संस्कृति की दृष्टि से इनका महत्व सर्वोपरि है। ये चित्र आदिम मानव कालीन सभ्यता पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। बड़ी मुसीबत की बात तो यह है कि यहाँ मधुमक्षिकाओं का इतना बाहुल्य है कि देखते समय थोड़ी भी असावधानी रही तो फिर प्राण बचना ही असंभव हैं। इंग्लैंड के एक पोप ऐसे ही जान दे चुके हैं। आदिमवासियों की आखेटचर्या का आभास इन चित्रों से मिलता है। शूकर, घोड़े, कंगारू, छिपकली ये भी अंकित हैं। चित्रित भाव परंपरा से यह ज्ञात होता है कि इनका काल ५०००० वर्ष पूर्व है।

२. रायगढ के नवाबगढ नामक स्थान में गेरू से रंगा मानवपंजा हैं। निकट ही गोलवृत है।

३. चक्रधरपुर में यद्यपि पुरातन चट्टान चित्रकारी के प्रतीक उपलब्ध नहीं हुए पर इसमें सन्देह नहीं कि वह स्थान बहुत प्राचीन है। पूर्व प्रस्तर युग के पाषाण के विभिन्न प्रकार के औजार चक्रधरपुर के निकटवर्ती स्थानों में मिला करते हैं।

४. यहाँ की चट्टान पर तीन चित्र हैं। ऊपर भाग में हाथी और घुडसवारों के

आदि स्थानों में आदिमानव सभ्यता युगीन बहुसंख्यक चित्र मिलते हैं। उनमें से कुछ तो इतने प्राचीन हैं कि जिनकी तुलना हम स्पेन के फोगुल से कर

चित्र हैं। संभवतः यह “हाथीखेदा” या किसी जंगली हाथी का पालतू हाथी और घुडसवारों की सहायता से पकड़ने का दृश्य हैं।

इसके नीचे पक्षियों को जाल द्वारा पकड़ने का दृश्य दिखाया गया है। बाईं ओर एक गजरोही व्यक्ति अंकुश से प्रहार करता हुआ हाथी को बड़ा रहा है। पीछे की ओर एक अश्व अंकित है।

लखुनिया के निकट “कोहवर” नामक स्थान में भी ये आकृतियां अंकित हैं-

(१) दो चित्रित जंतु-कदाचित् दो भल्लूक किसी मृग पर आक्रमण कर रहे हैं।

(२) दो मृगों की आकृतियां।

(३) ढाल सहित एक योद्धा जो नृत्यशील है।

(४) एक मृग (जालबद्ध)।

(५) कतिपय अज्ञात चिन्ह।

(६) एक मनुष्य जो ढाल या धनुष पकड़े हुए है। वह या तो युद्ध कर रहा है, या नृत्य कर रहा है।

५. भलदरिया नदी के ऊपर देश में एक कुंड है। इस कुंड के निकट ही एक चट्टान है, जिस पर कई चित्र हैं। ९वीं शती की लिपि में एक लेख भी उत्कीर्णित है।

इस नदी को पार करने पर पहाड़ी का चढ़ाव पड़ता है। इस पहाड़ी में छातू के डाक बंगले से ३ मील पर चीत्रयुक्त चट्टान है। विवरण इस प्रकार हैं-

(१) एक जगह चार जलपक्षी जल के भीतर खड़े हुए हैं, आगे एक वृक्ष है। नीचे दो वानरों की आकृतियां हैं।

(२) शिकार-दृश्य-एक लघुतम सींगवाला मृग है। इसे काकवर्त-सा मानते हैं, एक मनुष्य बरछी से हरिण मार रहा है। एक छोटा-सा मृग ऊपर की ओर हैं। और भी शिकारियों के कई चित्र हैं। एक बड़े जन्तु का पीछा कई कुत्ते कर रहे हैं।

(३) एक बृहदाकार वाराह-यह घायल होकर पीड़ा के मारे मुख खोले हुए है। इसके चारों पैर चित्र में दिखाये गये हैं। जब कि चट्टान चित्रों में अक्सर दो ही चरण बताये जाते हैं। पीछे की ओर किसी प्राचीनलिपि के पाँच अक्षर हैं।

(४) बारहसिंघा मृग का शिरोभाग-टेढे-मेढे सींग।

भलदरिया नामक स्थान के चित्रों में एक घुडसवार का चित्र है। एक हाथ में एक शस्त्र है। अन्य में घोड़े की बाग, घोड़ा सरपट भाग रहा है। पास ही एक



सकते हैं। इन चित्रों में गेरु, सफेद छुही और पीले रंग का व्यवहार ही अधिक हुआ है। आश्चर्य इस बात का है कि कुछ गुफाओं में कलाकारों ने इतने सुंदर

ऊँट के तुल्य जन्तु का चित्र है। उसकी पीठ पर एक मनुष्य बैठा है।

६. विजयगढ़ की पहाड़ी में जो चट्टानचित्र है, उनमें से एक-दो लम्बी गरदनवाले हरिण या बारहसिंघा-जैसे चतुष्पद हैं। दो नराकृतियाँ हैं, एक को वानर माना जा सकता है। इसके हाथ में वृक्ष की एक डाली है।

७. महादेव पर्वत (पंचमढी)

विदित हो कि नागपुर मारिस कालेज के प्रोफेसर डॉक्टर हंटर सा. (G.R. Hunter M.A.) एवं उनकी पत्नीने भी सुयोग्य 'च. चि.' पर एक लेखमाला अंग्रेजी भाषा में लिखी है। आपका निबंध लंदन के Inter Congress of Pre-historians & Proto-historians के अधिवेशन में सन् १९३२ के अगस्त महीने में पढ़ा गया था। उस लेख का सारांश R. Anthropolical Institute के मुखपत्र Man में छपा था। १९३३ के प्रारंभ में डॉ. सा. ने. नागपुर, वि. वि. में A. M. in the M. Hills पर एक भाषण दिया था। महादेव पर्वत (होशंगाबाद जिले में) ही पंचमढी में है। पंचमढी तथा उसके आसपास में ये 'चट्टान-चित्र' है। उन चित्रों का सादृश्य "सिंह" के चित्रों से है। इन चित्रों में से एक हाथ ऊपर को उठाये हुए घुडसवारों के चित्रों पर से डॉक्टर सा. अनुमान करते हैं कि ये उस जाति के लोगों की कला है जिस जाति से वर्तमान गोडों (Gonds) की उत्पत्ति हुई है। पंचमढी तथा नागपुर में भी ऐसे पत्थर मिले हैं जिन पर हाथ उठाये घुडसवारों के चित्र हैं और जिन्हें गोंड लोग पवित्र मानकर पूजते हैं। डाक्टर हंटर के ही शब्दों में-

It would seem to indicate some continuity of traditions...XXX

..... Satpura Plateaux to-day.

आगे चलकर डॉ. साहब लिखते हैं

In other words I conclude.... Modern Dravidians अर्थात् चट्टान-चित्रों के चित्रकार जाति गोंडों के आदि पुरुष रहे होंगे और उन्हीं को वेदों में 'दरवर' व्याख्या दी गई है। आगे चलकर आप गेरु रंग से रंगे धनुषयुक्त नराकृति (bow man) चित्रों को जो मध्यप्रदेश की चट्टानों पर अंकित हैं; दक्षिण आफ्रिका के Bushman Artist की कृतियों से मिलते-जुलते बतलाते हैं। आपके मत से दक्षिण आफ्रिका और भारत के चट्टान-चित्रकारी की कला एक ही जाति One race of Inhabitants के लोगों की है। इस चित्रकला के लिए औजार भी प्रायः एक से रहे होंगे। हंटर सा. की पंचमढी के जम्बूद्वीप नामक घाटी के निकट एक नर-अस्थि-कंकाल (Skeleton) तथा पत्थर के औजार मिले हैं। वहीं चट्टानों पर चित्र भी चित्रित हैं।



प्रागैतिहासिक कालीन शिला चित्रों का प्रासंगिक वर्णन संस्कृत के विशाल साहित्य में भी कहीं कहीं मिल जाता है। यहाँ **कालिदास के मेघदूत** की एक पंक्ति याद आ जाती है-

प्रागैतिहास कालीन चट्टानों पर बिखरी हुई चित्रकला की श्रृंखला की कड़ियों को जब तक एक नहीं कर पाते तब तक मध्यकालीन भारतीय चित्रकला की परंपरा एक प्रकार से अपूर्ण ही रहेगी। सच पूछा जाय तो सच्ची भारतीय मानव-विकास की परंपरा के क्रमिक इतिहास के बीज उन्हीं चित्रों में है जिन्हें हमने आजतक उपेक्षित रखा।

भित्तिचित्रों को भारतीय परंपरा बहुत प्राचीन है। इतिहास काल की कुछ प्रणय विषयक घटनाएँ भी तात्कालिक चित्रकला की व्यापकता की ओर संकेत करती हैं। जैन-साहित्य में ऐसे उल्लेख पर्याप्त परिमाण में आये हैं। परवर्ती

इनकी परीक्षा एवं तुलनात्मक अध्ययन से डॉ. हंटर इस सिद्धांत पर पहुंचते हैं। युरोप, आफ्रिका और भारतवर्ष में एक समय एक ही जाति के मानव निवास करते थे जिनके आचार-विचार संस्कृति और सभ्यता में घनिष्ठ एकता थी।

The Pre-Dravidian Indian, the African Bushman, the pre-historic, lardenosian, and the Eskimo. Inspite of the separating distance intine, latitude of longitude all belong to the same culture and possibly to the same race.

होशंगाबाद जिले की पहाडियों में गेरु के चट्टान चित्र पाये गये हैं। इनमें आकृतियों में मुख्यतः हाथी, आदि अपरिचित जन्तु हैं। ये चित्र क्रमशः ४ ई. स. १० वीं शती तक के हैं।

उपर्युक्त चट्टानचित्रों के नोट्स मुझे मध्यप्रदेश के वयोवृद्ध गवेषक श्रीलोचनप्रसादजी पांडेय द्वारा प्राप्त हुए हैं, एतदर्थ मैं उनका आभारी हूं।

साहित्यिकारों ने भी इसका समादर किया है। वात्स्यायन सूत्रकार ने अपने 'कामसूत्र' में, नागरिकों के लिए चित्रकला को आवश्यक मानते हुए, निम्नलिखित पङ्गों का वर्णन किया है-

रूपभेदा प्रमाणानि, भावलावण्योजनम् ।

सादृश्यं वर्णिकभंगं इति चित्र षडङ्गकम् ॥

कालिदास का साहित्य हमें भारतीय चित्रकला विषयक सिद्धांतों का सम्यक् परिज्ञान कराता है। उसकी सामाजिक स्थिति का पता "मालवि वगग्निमित्र" से चलता है। उसके पारिभाषिक शब्द भी प्रचुर उपलब्ध होते हैं।

श्रीयुत अमरनाथ दत्त, परसी ब्राउन, मनोरंजन घोष और आनंद कुमार स्वामी-जैसे पुरातत्त्वविद् और कला-समीक्षकों ने यदि चट्टानवाले चित्रों का उद्धार न किया होता, और उन पर विशेष विवरण लिखने का प्रयत्न न किया होता, तो इन चित्रों की जानकारी से हम, इस प्रगतिशील युग में भी वंचित रहते।

अजंता

भारतवर्ष में जितने बौद्ध-तीर्थ मिलते हैं, उनमें बहुत कम ऐसे हैं, जहाँ पर शिल्पकला के साथ चित्रकला का भी समुचित विकास न हुआ हो। अजंता में कला की दोनों शाखाओं का अच्छा विकास हुआ। वहाँ शिल्प और चित्रकला में अपूर्व सामंजस्य है। वहाँ पर कलाकार ने अपनी कला के सात्विक सौन्दर्यानुभूति के तत्त्व प्रसारित कर मानव-संस्कृति के आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्वों का सुंदर समन्वय बताया है। अजंता स्थान भी इतना सुंदर और प्राकृतिक दृष्टि से अनुपम है कि वहाँ जाने के साथ ही मानव अपने आपको थोड़ी देर के लिए भुला देता है। हमें इस स्थान में रहकर कुछ दिनों तक शिल्प और चित्रकला का अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन क्षणों की स्मृति आज भी हृदय को आनंदविभोर कर देती है। पहाड़ों की गुफाएं हमने जीवन में कई देखीं, पर वे अजन्ता की समानता नहीं कर सकतीं, मानव-कृत कला और प्राकृतिक सौंदर्य दोनों का समन्वय अजंता को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ-सा है।

अजंता की स्थिति हैदराबाद प्रदेश में है। रेल्वे से यात्रा करनेवालों के लिए जी.आई.पी. के जलगाँव स्टेशन पर उतरकर, ३७ मील मार्ग मोटर से तय



गुफाओं का निर्माण ऐसा हुआ है, जब कि पर्याप्त समीप न पहुँचे तब तक उनके अस्तित्व का पता तक नहीं चलता । अजंता का किताबी ज्ञान प्राप्त करके हम जैसे जो यात्री जाते हैं, उनको तो भारी आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता । पहाड़ की गोद में हम लोग पहुँचे, तीन सौ फुट की ऊँचाई पर गये—जहाँ आधुनिक ढंग की पायरियाँ (सीढ़ियाँ) बनी हुई हैं, तब कहीं गुफाओं के दर्शन किये । हमारे खयाल से यह मार्ग पूर्वकाल में प्रवेश का न रहा होगा । पहले तो १७वीं गुफा से लोग प्रवेश करते होंगे । कारण कि तन्निम्न भाग में घिसा हुआ मार्ग आज भी दृष्टिगोचर होता है । चढ़ने का मार्ग कुछ कठिन है और हम जैसे स्थूलकायवाले का चढ़ते-चढ़ते दम फूलने लगता है । परंतु कलात्मक सौंदर्य-दर्शन से थकावट लुप्त हो जाती है ।

अजंटा का पहाड वर्तमान वरार की सीमा से ७ मील पर है। अजंता में छोटी-बडी ३० गुफाएँ हैं। इनमें कुछ चैत्य व कुछ विहार हैं। ये सब गुफाएँ पूर्व से पश्चिम की ओर ६०० गज की परिधि में अर्द्ध वृत्ताकार हैं। इसकी

अर्द्ध गुलाई बड़ी ही चित्ताकर्षक है। पहाड़ी सामने से यदि इनका निरीक्षण किया जाय तो सौंदर्य द्विगुणित हो जाता है। इन कलापूर्ण गुफाओं का निर्माण ई. स. २०० से ७०० तक चलता रहा। अब तो इन पर नंबर दे दिये गये हैं। डॉ. कुमारस्वामी का मत है कि यद्यपि अधिक भाग वाकाटकों के समय में चित्रित हुआ, परंतु गुफा सं. १७ तथा १९ को तो गुप्तकालीन मानने में तनिक भी संदेह नहीं है।

गुफाओं में चित्रों के साथ शिल्प-सामग्री भी प्रचुर है। गुफाएँ भिन्न काल की इस प्रकार हैं-८-१२-२३ सबसे पुरानी है। ६-७ पाँचवीं शती की है। १-५-१४-२९ इनका काल सन् ५००-६५० ई. तक का है। सं. १ सबसे बाद की है। १९ में वाकाटकों की प्रशस्ति है। इसमें निकटवर्ती विजित राजाओं के नाम हैं। १-२-४-६-७-९-१०-११-१५-१७-१९-२०-२१-२२ और २९ गुफाएँ सचित्र हैं। १९३९ में जब हम अजंता गये थे तब पहाड़ी की खोह में एक और गुफा निकली थी।

कुछ प्रमुख चित्र

प्राथमिक परिचय के बाद हम लोग प्रथम गुफा में प्रविष्ट हुए, इतने में ही दालन के मारविजय वाले चित्र पर हमारी दृष्टि स्तंभित हो गई। मारविजय का प्रसंग ग्रन्थों में पढा तो था, पर उसने आज जो हमारे मन पर प्रभाव डाला, उसे जीवनपर्यन्त विस्मरण करना कठिन है। यह चित्र लगभग ८ फिट चौड़ा १२ फिट ऊँचा है। असंख्य प्रकार के भौतिक प्रलोभनों द्वारा बुद्धदेव को तप से च्युत करने का प्रयास किया जा रहा है। परम सुन्दरियों का दल खड़ा है। हर भाव बड़े ही सुंदर, मनमोहक और हृदय को पिघला देनेवाले है। कहीं बुद्ध मुद्राएँ भी हैं, हाथों में शस्त्रास्त्र धारण किये हैं। पर भगवान् के मुख पर अपूर्व शान्ति एवं सात्विक भावों का तेज चमक रहा है। मानों अहिंसा की सारी दार्शनिक पृष्ठभूमि मुख-मुद्रा पर सजीव हो उठी हो। वे अपने ध्यान में इतने तल्लीन हैं कि उन पर इन शैतानों का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता।

अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति का अनुपम सौंदर्य यहाँ पर पूर्ण रूप से निखर उठा है। मुखमुद्रा के भाव शत्रु को भी मित्र रूप में परिणित कर देते हैं। उसकी रेखाओं में एक-एक आकृति, विविध भाव और अलंकारों का वैविध्य प्रकट होता है। टकटकी लगाये हम लोग घंटेभर तक इस चित्र की छाया में बैठे, शान्त रस का पान करते रहे। और कलाकारों की सराहना, विशेषतया इसलिए

करते रहे कि यहाँ सायंकाल को जब सूर्यदेव अपनी किरणों फैलाते हैं तो चित्रांकन न जाने कैसे हुआ होगा। अन्तिम किरणों के अभिषेक से सारे चित्र थोड़ी देर के लिए चमक उठते हैं। इस गुफा के दालान में एक और चित्र अंकित है, जिसका ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है।

पुलकेशी द्वितीय की राजसभा में **ईरान के राजा खुसरु परवेज** के राजदूत भेंट रख रहे हैं। पुलकेशी गद्दी बिछे हुए सिंहासन पर लम्बी गोलाकार तकिये के सहारे बैठा है। पीछे स्त्रियाँ पंखा और चँवर लेकर खड़ी हैं। अन्य परिचारक स्त्री और पुरुष कुछ बैठे हैं, कुछ खड़े हैं। राजा के सम्मुख बाईं ओर एक बालक (राजकुमार) और तीन मुसाहिब बैठे हैं। राजा हाथ उठाकर मानों ईरानी दूत से कुछ कह रहा हो। राजा के मस्तक पर मुकुट, गले में बड़े बड़े मोतियों की माला (साथ में माणिक भी लगे हैं) उसके नीचे जडाऊ कंठा, हाथों में भुजदंड व कड़े हैं।

यज्ञोपवीत के साथ पचलडी मोतियों की माला, प्रववग्रन्थियों के स्थान पर ६ बड़े मोती, कमर में रत्नजडित करवनी है। घुटने तक काछनी पहने हैं। सम्पूर्ण शरीर खुला हुआ है, और दुपट्टा सिमटकर तकिये के सहारे है। शरीर प्रचंड, गौर व पुष्ट है।

जो पुरुष वहाँ पर हैं, सभी केवल धोती ही पहने हैं। दाढ़ी और मूँछें नहीं हैं। स्त्रियों के शरीर पर साड़ी व स्तनों पर पट्टियाँ बंधी हैं। राजा के सम्मुख ईरानी दूत मोतियों की माला लेकर भेंट कर रहा है। उसके पीछे दूसरा ईरानी हाथ में बोटल-जैसी वस्तु लिए खड़ा है। तीसरा थाल लिए खड़ा है। चौथा बाहर से कुछ वस्तुएँ लिये द्वार में प्रवेश कर रहा है। उसके पास जो खड़ा है, उसके कटि प्रदेश में तलवार है। द्वार के बाहर कुछ ईरानियों के साथ अन्य दर्शक भी खड़े हैं, निकट ही कुछ घोड़े भी हैं। ईरानियों के संपूर्ण शरीर पर वस्त्र, मस्तक पर ईरानी टोपी, कमर तक अंगरखा, चुश्त पैजामा, पैरों में

१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. १८६।

स्त्रियों के स्तनों पर पट्टियाँ बांधने की प्रथा पुरानी है। श्रीमद्भागवत में इस प्रकार उल्लेख है—

तदंगसंगप्रमुदाकुलेन्द्रियाः केशान्दुकुलं कुचपट्टिकां वा नांजः प्रतिव्यो दूमलं
व्रजस्त्रियो वित्रस्तमालाभरणाः कुरुद्वहः

—दशमस्कंध ३३, १८।



दरबार में सुंदर बिछायत है और फर्श पर मन-मोहक पुष्प बिखरे हैं । सिंहासन के आगे पीकदानी, और उसके पास ही, एक चौकी पर पानदान व अन्य पात्र रखे हैं । दीवालें सुंदर बनी हैं^१ ।

यह चित्र ईरान-भारत स्नेह संबंध का सूचक है। संभवतः चित्रवर्णित घटना का समय इ. स. ६३६-९ तक का है। यह चित्र अजंता चित्र-काल के काल-निर्णय में सहायता करता है।

यों तो समस्त विश्व की कला को व्यक्त करने का साधन रेखाएँ होती हैं। परंतु अजन्ता की रेखाओंने तो अनेक कलात्मक रूप व्यक्त किये हैं, जो अन्यत्र दुष्प्राप्य हैं। जो-जो रेखाएँ फूटी हैं वे भावों के अनुसार स्वयं मुड़ जाती हैं। मानव के विभिन्न देह, अभिनय और भावों का अंकन हो उठा है, वह कितना सजीव है, देखते ही बनता है। चित्रांतर्गत एक भी रेखा ऐसी नहीं जो अपना भावसूचक मौलिक अस्तित्व न रखती हो।

विश्व विख्यात नागराज और काशीराज के चम्पेय (चम्पेय जातकानुसार) का चित्र इसी गुफा में चित्रित है। यों तो यह चित्र और चित्रों की अपेक्षा काफी प्रसिद्धि पा चुका है। परंतु प्रत्यक्ष दर्शन से भावों का जैसा उत्कर्ष प्रतीत है वह अनिर्वचनीय है। इस चित्र को हमने इतना देखा कि तीन दिन में हम लोग एक ही गुफा का अवलोकन कर सके। चित्र संविधान एक-एक रेखा पर चमक रहा है। भावों का प्रदर्शन हृदयग्राही एवं वास्तविकता सूचक है। उभय नरेश, प्रणय भाववाली युवतियाँ, महल की परिचारिकाएँ, एक राजपुरोहित और सेनापति सभी की मुखमुद्रा को तुलिका ने रेखाओं में लपेट लिया है कि मानों अभी बात करेंगे। सुंदरी के नयनों में मादक रसवृत्ति पाई जाती है पर वह है मर्यादित। कहीं पर भी कामुकता की गुंजायश नहीं रहती। रंग-रेखाओं के द्वारा कलाकार ने सारे प्रसंग में जान डाल दी है। इस चित्र से उन दिनों की भारतीय संस्कृति और सभ्यता का सूक्ष्माभास मिलता है। जहाँ तक रस निष्पत्ति का प्रश्न है, हम बिना किसी संकोच के कहेंगे कि सामाजिक दृष्टि से भी चित्र उपेक्षणीया नहीं। गर्भमंदिर के पास दक्षिण ओर मंडप की दीवार पर पद्मपाणि बोधिसत्व का विशाल चित्ताकर्षक आलेखन है। कुमार सिद्धार्थ बृद्धपद के लिए गृहत्याग करते हैं। उस समय का वह रूपक

दिवाल पर खंडित, परंतु भावों को स्पष्ट करनेवाली कला को लिये हुए है। युवतियों से परिपूर्ण मंडप के राज सिंहासन पर कोई एक राजपुरुष अधिष्ठित है। हाथ में नग्न खड्ग है जो चरण में नमस्कार करती हुई एक कम्पितवदना युवती पर तुला हुआ है। वह दया की याचना कर रही है। सभा के लोग कम्पायमान हो रहे हैं। पश्चात् कालीन चित्र अजन्ता की अवन्ति के सूचक है जो **खोतान, तुर्किस्तानी** कला से प्रभावित है।

सोलहवीं गुफा का चित्र बुद्धदेव के गृहत्याग का है। गहरी निद्रा में यशोधरा और राहुल सोये हुए हैं। परिचारिकाएँ भी अपने आपको निद्रा देवी की गोद में समर्पित कर चुकी हैं। एक दृष्टि डाल बुद्धदेव निकल पड़ते हैं अंतिम दृष्टि में ममता मोह नहीं है, परंतु त्याग की उदात्त भावना दृष्टिगोचर होती है। इसीमें कलाकार की कुशलता है। इसी में सारा कृतित्व समाया हुआ है। सोलहवीं गुफा तीनों ओर से चित्रों से सुसज्जित है। अतिविख्यात “प्रणयोत्सव” का चित्र यहीं पर है। अंदर की सभा में बुद्धदेव के जीवन से संबंध रखनेवाली घटनाएँ तथा जन्मांतर के महत्वपूर्ण प्रसंगों से भरपूर है, जो हजारों वर्ष पूर्वोक्त जीवन के आनंद, दुख, करुणा और मानव हृदय को स्पर्श करते हैं। ज्यों-ज्यों दृष्टि फिराते जायेंगे, त्यों-त्यों अपने आपको खोना पड़ेगा। नूतन-नूतन जगत में विचरण करना पड़ेगा।

उपर्युक्त गुफा में मृत्युशरण कुमारीका के चित्र पर जो ग्रीफ़िट्स के निम्न वाक्य मनीय है।—

For method and sentiment and unmistakable way of telling its story, this picture, I consider cannot be surpassed in the history of art. The Florentines could have put better drawing and the venetians better colour, but neither could have thrown greater expression into it.

- The Cave Temple of India, P. 307

ज्यों ही हम लोगों ने सत्रहवीं गुफा में प्रवेश किया तो अनुभव होने लगा कि कहीं हम **अमेरिका की आर्टगैलेरी** में तो नहीं खड़े हैं। एक एक से बढ़कर भावमूलक चित्रों की लता, अपना सुरक्षित सौंदर्य फैलाकर प्रेक्षक पर छा जाती है। मानों कलाकारों ने पारस्परिक होड लगाकर उनका सुरुचिपूर्ण निर्माण किया हो। बौद्धजातक यहाँ सजीव हो उठा है। जिस प्रकार २६ वीं गुफा शिल्प-कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार यह चित्रकला



इस चित्र को देखकर मानव-मन में संस्मरण-धारा का प्रवाह वेग से बहने लगता है। कला का साकार रूप दृष्टिगोचर होता है। आत्मसमर्पण का चरम विकास इस चित्र में सिन्नहित है। **महाहंस जातक, सिवि जातक, पडदन्त जातक एवं वेस्संतर जातकों** के चित्र भी बड़े ही अच्छे ढंग से अंकित हैं। वेसंतर् जातक का तो मर्मभेदी प्रभाव स्पष्ट है। करुणा यहाँ मानों शरीर धारण किये हुए है। ब्राह्मण के मुख के भाव अनिर्वचनीय हैं। युद्ध प्रसंग पर प्रकाश डालनेवाला भी एक चित्र हमने देखा, जो अपने ढंग का अनोखा है। आश्चर्य तो इस बात का है कि लगभग तीन सौ चेहरे सरलता से गिने जा सकते हैं। सभी के मुख पर युद्ध के विविध भाव, प्रत्येक को आकृष्ट कर लेते हैं। एक स्थान पर आकाश में विचरण करनेवाले गायकों का समुदाय ही चित्रित है, जो वाद्यों को लिये हुए हैं।

यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होगा कि कलाकारों ने पाषाण पर, अपनी भाव-धारा कैसे बहाई होगी ? अजंता के सक्षम कलाकारोंने प्रथम तो अपने तीक्ष्ण औजारों से दीवालें साफ कीं, तदुपरि चूने का हलका पलस्तर लगाकर पृष्ठभूमि तैयार की, उसी पर अपनी कलम से मानव-संस्कृति के उदात्त भावों का अंकन, विशिष्ट रूपकों द्वारा, किया जिनके आनंद से आज भी हम नाच उठते हैं ।

“अजंता का कलाकार किसी समर्थ कवि के समान अपनी रेखाओं में ऊर्मिदर्शन और प्रसंग का वायुमंडल सहज भाव से लपेट लेता है। वाचा और अर्थ का संयोग करने की कविशक्ति जैसे प्रशंसित होती है, वैसे ही अजंता की रेखाएँ केवल रेखा नहीं हैं, उसका पुरस्कर्ता रेखातत्त्व को भुलाकर स्वरूप भाव और पदार्थ का साक्षात् परिचय कराता है। वह

मानसिक पूर्वनिर्मित-पृष्ठभूमि का दास नहीं है, वह अपनी मानसिक सृष्टि को ही आगे बढ़ाने के लिए, रेखावलियों को चाहे जैसी दिशा में बहाता है।” “अजंता की कला सुसंस्कृत पंडितों की वाणी है।”

सुप्रसिद्ध चित्रकार रोवेन्स्टाईन ने अजंता के चित्रों के विषय में जो अभिमत व्यक्त किया है, वह इस प्रकार है—

“मनोवैज्ञानिक चित्रण के विचार से इन चित्रों में इतनी सत्यता है, यहाँ के मानव और पशुओं का चित्रण इतना अद्भूत है और भारतीय जीवन के आध्यात्मिक चित्रण में इतनी गंभीरता है कि आज इस शीघ्र परिवर्तनशील युग में भी तत्कालीन चित्रकला की अनुपस्थिति में ये चित्र भारतीय जनता की सभ्यता और जनता के प्रतिनिधि है।”

कमल

कलाकारों को कमल ने बड़ी प्रेरणा दी है और विचार शक्ति भी। मंडप की बड़ी-बड़ी छतों पर वर्तुल के मध्य से बड़े-बड़े कमल अंकित एवं उत्कीर्णित हैं, तत्समीपवर्ती कुंडल और तरहों में उसकी अनेक आकृतियाँ हैं। देखकर कल्पना हो आती है कि ऐसा अंकन संसार में कहीं पर भी नहीं हुआ। कमल पुष्प, कमल की रज्जु, कमल पत्र, कमल दंड या गुच्छों की शोभा, सुंस्कार सम्पन्न रेखाएँ, लताएँ पदपद पर अंकित हैं। कभी-कभी देखा जाता है कि एक ही वस्तु का पुनः पुनः लेखन कला के तत्त्वों को विकृत कर देता है, परंतु यहां तो नूतन वैविध्य छाया है !

चित्रकार कमल पुष्प पर इतने मुग्ध थे कि बोधिसत्व के हाथ में, एवं स्तंभों पर अंकित परिचारिकाओं के कर में अथवा प्रेमी-युगलों के बीच भी किसी ढंग से दंड सहित कमल खड़ा कर ही दिया है। यहाँ तक कि मानव-शरीर की आकृतियों में भी कमल के द्वारा लालित्य लाने का सफल प्रयास किया है। इससे पता चलता है कि प्राचीन भारतीय शिल्प और चित्र कला में कमल का महत्व सर्वोपरि था। कुषाण-कालीन शिल्पों में इसकी आकृतियाँ प्राप्त की जा सकती हैं।

अजंता के शिल्प और चित्रों के अतिरिक्त गुप्तकालीन जितनी भी

१. श्री रविशंकरजी रावल-“पश्चिम भारतनी मध्यकालीन चित्रकला” शीर्षक निबंध, “जैनचित्रकल्पद्रुम” पृ. ७।



उत्तर गुप्तकालीन एक तारा देवी की प्रतिमा हमें मध्यप्रान्तान्तर्गत सिरपुर से प्राप्त हुई थी। उसमें तो ऐसे भाव व्यक्त किये गये थे कि मानों कमल दंड के आधार पर ही सारी मूर्ति टिकी हुई हो। कमलपत्र, पुष्प और फल तक का जितना सुंदर प्रदर्शन इस प्रतिमा में पाया जाता है, वह अन्यत्र कम दृष्टिगोचर होगा। देवी का आसन तो कमल का ऐसा पुष्प है, जिसमें छोटे-छोटे पोखरे भी हैं। उभय पक्ष में देवगण दंडयुत कमल धारण किये हैं। कमलदंड की मोड़ सचमुच में आकर्षक है। कमल की बाहुल्यता के पीछे कोन-सी मनोभावना काम कर रही है, यह जानना बहुत आवश्यक है।

“यह प्रतीक खास तौर पर भारतीय है । इसका प्रारंभिक बौद्धकाल में बेहद प्रचार था । यह इत्तिफाक की बात है कि इसकी शक्ल ईरानी केपिटलों-से मिलती है, किन्तु कोई वजह नहीं कि इसीसे हम इसे ईरानी चीज मान लें । शायद ईरानियों ने ही यह विचार भारत से लिया हो । भारत तो कमल के फूल का देश है ।”

अजन्ता की मानव-सृष्टि में स्त्री-पात्र का स्थान बहुत उच्च प्रतीत होता है। उन दिनों की स्त्रियों के शरीर पर, आज की अपेक्षा लज्जा निवारणार्थ

अल्प वस्त्र होने के बावजूद भी, उनकी कला और विनय आश्चर्यचकित कर देती है। यहाँ के स्त्री-पात्र केवल स्त्रियों की महानता ही द्योतित नहीं करते, अपितु स्त्री-जाति का वह प्रतीक उपस्थित करते हैं, जिसके समुचित समादर पर ही समाज विकास कर सकता है।

कलाकार स्त्री का अंकन करते समय संयमपूर्वक अंग-प्रत्यंग के प्रदर्शन में अपनी चिर साधित तूलिका का प्रयोग करता है। राजकुमारी हो या नर्तकी, परिचारिका हो या अन्य कोई स्त्री, कहीं पर भी कला की दृष्टि से वह अधम नहीं है। सर्वत्र समर्याद सुंदरी है। अजन्ता की स्त्रियों को देखकर पाशविक कामनाओं का जागरण भी नहीं होता, प्रणयोत्सव और यक्ष-दंपति जैसे चित्र भी कितनी मर्यादा का पालन करते हैं। उनमें एकता की साकार भाव-मुद्रा है। पूर्णतः सांसारिक होते हुए भी अश्लीलता की कल्पना तक संभव नहीं। स्त्रियों का केश-कलाप अद्भूत है।

स्त्री के केश पर कला ने समय-समय पर कैसे-कैसे भिन्न-भिन्न रूप धारण किये, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान कहीं पर हो सकता है, तो यहाँ पर ही। उन दिनों स्त्री स्वातंत्र्य पर्याप्त था। राजसभाओं में निस्संकोच भाव से आवागमन था। समाज में भी सम्मान था। यहाँ तक कि बुद्धदेव के पुनीत चरणों पर चलनेवाले अजन्ता के निर्वाणकामी, सांसारिक भावनाओं से सर्वथा विरक्त साधु भी स्त्रियों को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखते थे, मानों सृष्टि का उत्तमांग समझकर वहाँ उन्हें चित्रकला में स्थान दिया हो।

स्त्रियों के रूप भिन्न-भिन्न हैं। कलाकार ने अपूर्णता रक्खी है तो केवल उतनी ही कि वे उन्हें वाचा न दे सके, उनके हाथ की बात भी न थी। परंतु चेहरे के हाव-भाव और हाथों की मुद्रा, उंगलियाँ वाणी से भी अधिक स्पष्ट एवं सुंदर भावों का प्रदर्शन करती हैं। कला का वास्तविक सौंदर्य वहीं पर निखर उठता है, जहाँ पर वाणी मौन रहती है। गुजरात के सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध कवि **व. क. ठाकोर** की एक पंक्ति याद आ रही है—

अशब्दे पण गजबनी कारमी भाखनारी ए गिरा ।

अजन्ता के चित्र और शिल्पों का अध्ययन अगर विशिष्ट दृष्टि से किया जाय तो, प्रतीत हुए बिना न रहेगा कि यद्यपि इनके अंकन का उद्देश्य अवश्य ही आध्यात्मिक था। परंतु यहां शुष्क आध्यात्मिकता नहीं है, अपितु इसका लौकिक जीवन के साथ भी अपूर्व सामंजस्य है। कला का मूलाधार भले ही



समाज विरुद्ध आध्यात्मिकता के उच्चतम भाव पनप नहीं सकते । इस बात का अजंता के कलाकारों को पूर्ण ज्ञान था । तत्रस्थित चित्रों में संसार के प्रति विरत भावनाओं का स्रोत तो फूटता ही है, पर साथ ही साथ सांसारिक सुख-साधन, आमोद-प्रमोद, नाच-गान के भौतिक साधन भी विद्यमान हैं ।

सामाजिक अलंकरण, आभूषण, हावभावों की विकासात्मक परंपरा का अध्ययन तब तक अपूर्ण रहेगा, जब तक अजंता के बहुमुखी शिल्प और चित्रों की कला का तलस्पर्शी अध्ययन न कर लिया जाय। भले ही अजंता के चित्र वर्ण-प्रभाव के प्रतीक हों, परंतु उनमें जानतिक लोकरुचि परिष्कृत रूप में वर्तमान है।

“तिब्बत के कुछ विहारों में कितने ही भारतीय चित्रपट भी मिलते हैं जिनका अजंता की कला से सीधा संबंध है। इन चित्रों के फोटो लेने की मेरी

बड़ी इच्छा थी, लेकिन फोटो के लिए खास प्लेट की जरूरत थी जो मेरे पास मौजूद न थे।”

बाद के भारतीय, विशेषतः जैन शिल्प में भी अजंता का प्रभाव पाया जाता है। नेपाल और भोट देश के बहुत-से चित्रपट हमने भी देखे हैं, जिनमें अजंता की कला कम या वेशी चमकती है।

अजंता की गुफाओं का निर्माणकाल ई.स. पूर्व तीसरी से आठवीं शती है। पिछली शताब्दियों से अजंता हमारी दृष्टि से ओझल रहा। श्यूआन चूआइ भारतवर्ष की यात्रार्थ आया था, उसने इन पंक्तियों का आलेखन किया है—

“महाराष्ट्र का राजा पुलकेशी है, उसके राज्य की पूर्व—(दिशा में) की पहाडियों में संघाराम है। यहाँ नदी—प्रवाह के मूल के पहाडों में विहार उत्कीर्णित है। उन विहारों की भित्ति पर तथागत के जन्मांतरों की कथा के चित्र हैं।”

उपर्युक्त पंक्तियाँ अजंता पर ही चरितार्थ होती हैं। यद्यपि यात्री वहाँ गया न था, पर प्रशंसा सुन चुका था। पंक्ति वर्णित चित्रों के अतिरिक्त भगवान् बुद्धदेव के चरित्र की कथाओं का सफल चित्रण किया गया है। बुद्धदेव का जन्मग्रहण, संबोधिप्राप्ति आदि जीवन विषयक घटनाओं पर प्रभावपूर्ण प्रकाश डालनेवाले बहुत प्रसंगों का सफल चित्रण, कलाकार की दीर्घसाधित तूलिका का परिचायक है। इनके अलावा कुछ ऐसे चित्र भी हमने देखे, जिनसे तात्कालिक राजभवन, रहन-सहन, राजसभा, वेशभूषा आदि सामाजिक व लोक-संस्कृति का भी भलीभाँति परिचय मिल जाता है। जीवन की स्वाभाविक आनंद-भावना इनके रंग व रेखाओं में स्थान-स्थान पर परिलक्षित होती है।

मैं प्रासंगिक रूप से एक बात का उल्लेख करना अत्यावश्यक समझता हूँ, वह यह कि वाकाटक व गुप्तकालीन स्थापत्यकला के पूर्ण भवन, या राजकीय प्रासाद आज उपलब्ध नहीं हैं। परंतु अजंता के उपर्युक्त चित्र व अमरावती के शिल्प से प्रासाद-निर्माण विद्या का अच्छा आभास मिलता है। तात्पर्य कि प्रत्येक शताब्दी के कलात्मक प्रतीकों पर, उस समय के सार्वजनीन वातावरण का प्रभाव अवश्य पड़ता ही है। इस दृष्टि से अजंता के चित्र अनुपम सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

वर्तमान में अजंता के अस्तित्व का पता ई.स. १८२४ में जनरल सर जेम्स को लगा, १८४३ में विख्यात पुरातत्त्ववेत्ता **फरगुसन** ने इस पर विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। सन् १८४४ में ईस्ट इंडिया कंपनी की ओर से इन चित्रों की नकलें कराना तय हुआ, और इस कठिन कार्य के लिए मेजर आर. जिल को नियुक्त किया गया। १८५७ तक कार्य चला, परंतु कुछ काल बाद लंदन में आग लगने से भस्मीभूत हो जाने के कारण **फरगुसन** ने सरकार से पुनः आग्रह किया कि इन चित्रों का पुनः उद्धार किया जाय, तब बम्बई स्कुल ऑफ आर्ट के प्रधान **मि. ग्रिफित्स** ने अपने कला-प्रेमी छात्रों की सहायता से १८७२-८१ तक में ५० हजार रूपयों के व्यय से कुछ प्रतिलिपियाँ तैयार कीं। सं. १८९९ में **ग्रिफित्स की 'अजंता'** प्रकाशित हुई। यही पुस्तक आज भी प्रामाणिक मानी जाती है। इसकी मूल प्रतिलिपियां भारत में ही रखने की मि. ग्रिफित्स की इच्छा थी, पर ये प्रयत्न करने के बावजूद भी, सफल न हो सके। ई. स. १९१५ में **लेडी हरिगहाम ने श्रीनन्दलाल बोस**-जैसे चित्रकार की सहायता से प्रासंगिक चित्र लिये। १९२६ में **औधनरेश बालासाहब** पंत प्रतिनिधि ने, प्रान्त के कई कलाकारों की सहायता से पुनः चित्रलिपियां लिवायीं, जिनका प्रकाशन मराठी और अंग्रेजी के विवरण सहित हुआ। १९३६ में **रविशंकर रावल** ने 'अजंता कलामंडप' नामक परिचयात्मक पुस्तिका गुजराती में प्रकाशित की।

अजंता की कला जिन दिनों उन्नत पथगामिनी थी, उन दिनों चीन में चित्रकला का सूर्य मध्याह्न में था, चीनी यात्री यहाँ से कुछ कलाकारों और

१. एंश्यंट इंडिया एंड सिविलाइजेशन ।
२. फुटफाल्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री ।
३. एनुवल रिपोर्ट ऑफ आर्कियोलोजिकल डिपार्टमेन्ट ऑफ निज़ाम्स डोमिनियन फार १९१८-१९ ।
४. अजंता फ्रेस्कोज ।
५. पैंटिंग्ज इन दि बथिस्ट केब्ज एट अजंता ।

चित्रों को चीन ले गये थे, धर्म साम्य होने के कारण वे भी तदनुकूल अंकन में सहायक हो सके होंगे । भारतीय कला अपरभारत द्वारा वहाँ पर गयी । चीनी सम्राट् यांग-टी (ई. स. ६०५-६१७) के दरबार में खुतन का चित्राचार्य रहता था, वहाँ के लेखकों के अनुसार उसका और उसके पुत्र का, भारतीय शैली के बौद्ध-चित्र बनाने में बड़ा ऊँचा स्थान था । (भारत की चित्रकला पृ. ५८)

चीन की चित्रकला भारतीय कला एवं तदंगीभूत अलंकरण से कितना साम्य रखती है, यह अभी कहना कुछ कठिन है । परंतु तिब्बत और नेपाल की चित्रकला पर भारतीय प्रभाव पाया जाता है यह स्पष्ट है । अब हमें देखना चाहिए कि अंजता के बाद धर्ममूलक कलात्मक बौद्ध-चित्र कहाँ मिलते हैं । शैली का विवेचन यहाँ पर अभीष्ट नहीं है, क्योंकि उसे हम तिब्बतवाले प्रकरण में देखेंगे । अच्छा तो अब बाघ की ओर मुड़ चलें ।

बाघ गुफा चित्र

भारतीय भित्तिचित्रों की परंपरा में बाघ-गुफाओं का उल्लेखनीय स्थान है । ये गुफाएँ मध्यभारत के अमड़ोरा जिले के छोटे गाँव में अवस्थित हैं । ग्राम के चारों ओर विन्ध्य की पहाड़ियाँ, वनों से परिवेष्टित हैं । प्रकृति की गोद में, इन गुफाओं का निर्माण सुरुचि-पूर्ण ढंग से हुआ है । ये गुफाएँ अंजता के समान एक ही साथ नहीं हैं, भिन्न-भिन्न स्थानों पर बनी हैं । इनकी कुल संख्या ९ है । प्रथम गुफा का तो कुछ भी महत्व नहीं है । दूसरी, जो “पांडवों की गुफा” कहलाती है, वह सब से विस्तृत व सुरक्षित है । यहाँ का न केवल शिल्प ही सुंदर है, अपितु चित्रकारी भी उत्कृष्ट है, जैसा कि अवशिष्ट रेखाओं से ज्ञात होता है । यहाँ पर असावधानी से हमारी कला की जो क्षति हुई है अवर्णनीय है । पर हाँ यहाँ की तथा बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ पर्याप्त संख्या में मिली हैं । तीसरी गुफा को “हाथीखाना” कहते हैं । वहाँ की व्यवस्थित निर्माणशैली से पता चलता है कि वह भिक्षुओं का निवासस्थान था । इसमें बुद्धदेव की प्रतिकृति अंकित है । चौथी गुफा को ‘रंगमहल’ के नाम से पहचानते हैं । वस्तुतः यह रंगमहल ही है । चित्रकला का यह भंडार, भारतीय संस्कृति और सभ्यता का अनुपम प्रतीक है । इस गुफा की चित्रकला ने बाघ-जैसे लघुग्राम को खूब प्रसिद्धि दी । पहाड़ को काटकर यह गुफा, इस प्रकार बनी है, मानो व्यवस्थित भवन ही हो । वर्गाकार हॉल, चतुर्दिग् बरामदा, चार

प्राकृतिक स्तंभ, इन पर चित्रकारी और प्रस्तरोत्कीर्णित चतुष्पद चिह्न प्रेक्षणीय है। ४-५ वीं के चित्रों की स्थिति सापेक्षतः अच्छी है। इन चित्रों का विशेष परिचय छोटे-से निबंध में देना संभव नहीं, पर हाँ इतना बिना संकोच कहा जा सकता है कि इन चित्रों में तात्कालिक भारतीय संगीत के विभिन्न उपकरणों का अच्छा संग्रह पाया जाता है।

साथ ही तत्कालीन सामाजिक संस्कृति का अच्छा परिचय मिलता है। नृत्य-मुद्राएँ उस समय की जनसंस्कृति को व्यक्त करती हैं। यों तो ये सभी चित्र धार्मिक भावना को लेकर, भिन्न-भिन्न राजाओं के समय में चित्रित किये गये हैं, पर इनका समाजमूलक दृष्टिकोण, अजंता की अपेक्षा, यहाँ अधिक व्यापक व तादृश जान पड़ता है। अजंता में सामन्तवादी प्रभाव है तो यहाँ जनवादी प्रभाव का अन्यतम सम्मिश्रण है। इन चित्रों में से अधिक का विषय, जीवन की दैनिक घटना है। साथ ही जीवन-दर्शन के अत्यंत महत्वपूर्ण, पर अव्यक्त भावों को सफलतापूर्वक व्यक्त करते हैं और यही तो उच्चकला का ध्येय है” जैसा कि सर मार्शल^१ के अधिकारपूर्ण विवेचन से फलित होता है।

बाघ के समस्त चित्रों का अधिकारपूर्ण विवेचन सर जॉन मार्शल ने बाघकेव्स में दिया है। चित्रकला की यह महत्वपूर्ण सामग्री अजंता का सुस्मरण करा देती है। तात्पर्य कि जिन महानुभावों ने उन चित्रों का साक्षात्कार किया है, वे अनुभव कर सकते हैं, कि अजंता से ये किसी भी दृष्टि से कम सौंदर्य सम्पन्न नहीं। यहाँ का भी कलाकार अपने आन्तरिक भावोत्कीर्णित करने में पूर्ण सक्षम था। यही कारण कि उनमें भाव-व्यंजना की अनुपम शक्ति है।

सुप्रसिद्ध भारतीय कला समीक्षक श्री हैवेल का अभिमत है कि “बाघ चित्रों में औचित्य का बड़ा ध्यान रखा गया है। कौन सा अंश कितना बड़ा और कितना छोटा होना चाहिए, इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया है। बड़ी और छोटी वस्तुओं का सम्मिश्रण इस प्रकार से हुआ है, वे इस अनुपात के

१. The artists, to be sure, have portrayed their subjects direct from life of that there is no shadow of doubt but however fresh and vital the portrayal may be, it never misses that quality of Abstraction which is indispensable to mural decoration, as it is, indeed, to all truly great paintings.

-The Bagh Caves, Page 17



बाघ के बाद कन्हरी की गुफाएँ आती हैं। ये टांडा और बोरीवली (बम्बई) स्टेशनों से पांच मील के फासले पर हैं। छोटी-बड़ी सब गुफाओं की संख्या १०९ है। ९ वीं शती के लगभग इनका निर्माणकाल माना जाता है। इनका संबंध महायान संप्रदाय से जान पड़ता है। इन गुफाओं में भित्तिचित्रों का अंकन किया गया था, पर असावधानी से अब तो कतिपय रेखाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। गुफाओं को सर्व प्रथम-प्रकाश में लाने का यश साल्ट साहब को मिलना चाहिए। बाघ-अंकन पद्धति यों अजंता से साम्य रखती है, परंतु यहां के कलाकार दीर्घ-दर्शी न थे, यदि होते तो आज भी अजंता की नाई उन चित्रों का अस्तित्व सम्यक प्रकार रहता।

तिष्ठत



 जैन चित्रकला

 १८४



लहासा के मंदिरों में जो चित्र उस समय अंकित किये गये थे, वे चीन और भारतीय कलाकारों की देन थे। परंतु उस देश की जलवायु के कारण वे कलात्मक कृतियां आज अनुपलब्ध हैं। कारण कि तिब्बत में काष्ठ का प्रभाव रहता था, अतः पक्की दीवार बनाने की प्रथा का सूत्रपात न हो सका। जब-जब पलस्तर टूटने लगता तब-तब वहाँ के लोग उसे हटाकर उसके स्थान पर नूतन चित्र चित्रित करवाते थे। अतः स्वाभाविक रूप से तिब्बतीय प्राचीन भित्ति-चित्र उपलब्ध नहीं होते। इससे विदित होता है कि मजबूत पलस्तर बनाने की कला से तिब्बत के लोग अनभिज्ञ थे।

तिब्बत की शिल्पकला भी भारत की तक्षण कला से बहुत प्रभावित है। इसके दो कारण जान पड़ते हैं। एक तो यह कि उसके अधिकतर निर्माता शुद्ध भारतीय कलाकार थे; या ऐसे कलाकार थे, जो भारतीय कला के विभिन्नतम अलंकरणों के सौन्दर्य से प्रभावित थे। दूसरी तिब्बतीय शिल्पकला में जो अलंकरण व्यवहृत हुए हैं, वे विशुद्ध भारतीय हैं। तिब्बतीय शिल्प और चित्रकला के बहुत से प्रतीक हमने देखे हैं, उन पर से हमारा निश्चित मत बन गया है कि विशेषतः मागधी शिल्पकला के तत्त्व वहां बहुत अधिक अंश में विकसित हुए। राजनैतिक इतिहास भी इस बात का साक्षी है। आठ-नौ शती में बंगाल बिहार के शासक बौद्ध-धर्म के अनुयायी, पोषक और प्रचारक थे। और शिक्षा-दिक्षा के आसन पर बौद्ध-साधु बिराजमान थे। **धर्मपाल** (७५९-

बौद्ध भिक्षु भी चित्रकार थे, जिनमें शान्तिरक्षित के शिष्य विरोचनरक्षित मुख्य है। वे भोट देश के थे। भोट के प्राचीन चित्र न मिलने का एक कारण यह भी जान पड़ता है, जो वैज्ञानिक भी प्रतीत होता है, वहाँ पर चित्रों की बाहुल्यता तो थी, समाज में कलाप्रेम भी था, परंतु कलाभिरुचि होते हुए भी यदि विवेक न हो तो वह प्रेम शत्रुता के रूप में परिणत हो सकता है। वहाँ दीवाल पर ज्यों ही चित्र खराब होने लगते, या मलिन हो जाते, तो तुरंत ही वहाँ के लोग परिष्कार में लग जाते। फल यह होता कि उन दिनों की जो मौलिक कलात्मक परंपरा चली आ रही थी, उसकी हत्या हो जाती। उन लोगों का ध्येय केवल इतना ही था कि स्वच्छ चित्र हो, तो रोज उनसे प्रेरणा प्राप्त की जाय।

कभी थी केवल कलात्मक कृतियों के प्रेम के पीछे विवेक की । अतः भोट देश की प्राचीन चित्रों की परंपरा के संबंध में तत्कालीन मूर्तियों से ही संतोष करना पड़ रहा है । यहाँ पर कुछ ऐसे भी चित्र प्राप्त हुए हैं जो **नैपाल, तिब्बत और भारत** में बने हैं । बौद्ध-साधुओं द्वारा धार्मिक एकसूत्रता के कारण वे वहाँ पहुँच गये थे ।

उपर्युक्त पंक्तियों से प्रमाणित होता है कि भित्तिचित्रों का उत्कृष्ट रूप केवल मध्यकाल से ही मिलता है। यद्यपि तिब्बत में तो बाद में भी प्रत्येक शताब्दी के भित्ति-चित्र मिलते हैं जो मठों की दीवारों पर चित्रित हैं। उनमें से कुछ ऐसे हैं, जिन पर समय-समय पर ज्यों-ज्यों रंग खिरता गया त्यों-त्यों बाद के लोग रंग भरते गये। परंतु रेखाएँ प्राचीन मानी जाती हैं। मध्यकाल के बाद भले ही भित्तिचित्रों की परंपरा में कला सर्वांगीण रूप से साकार न हो सकी हो, परंतु वस्त्र एवं कागज पर तो बहुत से ऐसे कलात्मक प्रतीक मिले हैं, जिन पर से बिना किसी हिचक के कहा जा सकता है, कि तिब्बतीय चित्रकला जिस रूप में मध्यकाल से भित्तिचित्रों में बिराजमान थी, ठीक वैसे ही अभिलषित काल में, इन पर थी। इस विषय की पूर्ण विवेचना तो स्वतंत्र निबंध का विषय है।

१. ईस्वी पूर्व छठीं शती में चित्रकला के व्यापक प्रचार को देखकर बुद्धने अपने अनुयायियों को उसमें प्रवृत्त न होने की आज्ञा दी थी, पर बाद में इस परंपरा का अनुसरण नहीं किया गया प्रतीत होता है।

भोजपत्र

अब हम बौद्ध चित्रकला के उस रूप को ले, जो कागज, तालपत्र, भोजपत्र और काष्ठ तथा वस्त्रों पर पायी जाती है। यहाँ पर हम प्रासंगिक रूप से सूचित कर दें कि कलाकार भिन्न-भिन्न समय के उपकरणों को अपनाकर अपनी साधना कर मानव-जीवन एवं प्रकृति के सौंदर्य को तादृश्य रूप में उपस्थित करता है। जिस युग की हम चर्चा कर रहे हैं वह पाल युग है। बंगाल, बिहार पर उस वंश का उन दिनों प्राधान्य था। वे न केवल बौद्ध धर्म के अनुयायी ही थे, अपितु चित्र और शिल्प कला के परम उन्नायक भी। इस काल की जो कलात्मक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं उनमें 'प्रज्ञा-पारमिता' की कृतियाँ ही अधिक हैं, जिनका संबंध बौद्धों के महायान संप्रदाय से है। कागज पर तिब्बत में कब से चित्र अंकित होने लगे, नहीं कहा जा सकता। लेखन एवं विभिन्नतम चित्रकला के उपकरणों का अनुशीलन करने के बाद विदित होगा कि प्रथम लेखन एवं चित्रकला में भोजपत्र का उपयोग विशेष रूप से होता था। प्रथम भुर्जपत्र को ठीक से काटकर ओपनी से घोंटकर काम में लिया जाता था। अधिक स्निग्ध बनाने के लिए नमक के पानी के छींटे दिये जाते थे। भोजपत्र पर अंकित कृतियाँ बहुत ही अल्प मिलती हैं। अत्यंत कोमल होने के कारण तथा एक स्थान से खंडित होने के बाद उनकी रक्षा कदली पत्रवत् असंभव हो जाती है। नागार्जुन की **योग रत्नमाला एवं कारिकावली** की दो प्रतियाँ हमने अपने कलकत्ते के प्रवास में एक लामा के पास देखी थीं, जिनमें दस एवं सात चित्र थे। इन चित्रों के चेहरों पर कुछ मंगोल का प्रभाव पाया जाता है। वह उन देश के मानवरूप का है।

अतीव परितापपूर्वक लिखना पड़ रहा है कि क्षुद्र स्वार्थ के लिए लामाजी ने वह प्रति मेरे मांगने पर भी न देकर, अमेरिका के एक प्रोफेसर **डॉ. विलियम नार्मन ब्राउन** को चार हजार में बेंच दी। ब्राउन साहब ने इसका आलेखन काल विक्रम की ११ वीं शती स्थिर किया था। वर्तमान में तो भोजपत्र का उपयोग केवल मंत्र और सिद्धिदायक यंत्रों के नाम पर उदरपूर्ति करनेवाले ही करते हैं। कश्मीर में भी कुछ प्रतियाँ भोजपत्रों पर लिखित पायी गयी हैं।

तालपत्र

तालपत्र भोजपत्र की अपेक्षा टिकाऊ और लिखने में भी सुविधाजनक



होते हैं। राजताल के पत्तों को समान रूप से सुसंस्कारितकर लकड़ी से दबा दिया जाता था। घुटाई के बाद लोहे की कलम से उसे गोद दिया जाता था। बाद में मषि फिरा दी जाती थी। कभी-कभी स्याही से लिखने की भी प्रथा थी। इन पर चित्र भी अंकित किये जाते थे, जिनमें लाल, नीला, पीला, सफेद, काला, गुलाबी और सिन्दुरीय रंग का व्यवहार अधिक रूप से होता था।

पटना निवासी कलाप्रेमी श्रीमान् दीवान बहादुर राधाकृष्णजी जालान के यहाँ हमने बौद्ध-व्याकरण की एक ऐसी सचित्र प्रति देखी थी, जिसके पत्र तीन-तीन पत्रों का एक पत्र जैसा लग रहे थे । ठीक से देखने पर मालूम हुआ कि प्रति को अधिक काल तक सुरक्षित बनाये रखने के लिए किसी स्निग्ध द्रव्य से पत्रों को सम्पुट कर दिया गया था । चित्र भी बहुत ही मनोरम थे । एक प्रति खंडित थी । तालपत्र पर के पालकालीन जो चित्र हमने देखे हैं, उनका सामंजस्य पालयुगीन शिल्प-कला में दृष्टिगोचर होता है । पालकालीन चित्रों की यही सब से बड़ी विशेषता है कि चित्र और शिल्प की रेखाओं का सूक्ष्मावलोकन करें तो पता चलेगा कि एक ही कलाकार की दो कृतियाँ तो नहीं हैं ! यहाँ से जैनों ने भी ताडपत्रों को लेखन एवं चित्रकला में स्थान दिया । जैनों के आलेख-विषय एवं शैली भिन्न थे । कलाकारों ने इसे **अपभ्रंश शैली** कहा है ।

जैन-चित्रकला के तत्त्वों का इतिहास **एलोरा** की शिल्पकला में अन्तर्निहित है। बौद्धतालपत्रों पर लिखित चित्रों को हमने देखा है। उससे कह सकते हैं कि तालपत्र पर चित्रकला का जितना विकास जैनों ने किया, उतना बौद्धों ने नहीं। संभव है इस्लाम के आक्रमणों के कारण बौद्ध-कला के प्रतीक नष्ट हो गये हों। क्योंकि जैनों की अपेक्षा बौद्ध इस्लाम के आक्रमणों के भोग अधिक बने थे। तालपत्रों पर जो बौद्ध-चित्र पाये जाते हैं उनके यों तो कई विषय हैं; परन्तु उनमें **अवलोकितेश्वर, तारा, वज्र, सिद्ध एवं बुद्धदेव** की विभिन्न मुद्राएँ एवं प्रधान लामाओं के चित्र प्रमुख हैं। इन चित्रों पर पर्यवेक्षणात्मक दृष्टि से अध्ययन होना अत्यंत आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। संक्षेप में इन चित्रों पर इतना ही कहा जा सकता है कि पालयुगीन शिल्प-स्थापत्य-शैली को समझने की सब से बड़ी साकार साधन-सामग्री ये चित्र ही हैं।

पालवंशीय नरेश धर्म से बौद्ध थे । अतः उनके द्वारा बौद्ध-धर्माश्रित चित्रकला का विकास होना स्वाभाविक था । सूचित समय में-अर्थात् जब

दोनों और काष्ठ लगाकर मध्य भाग में रस्सी से पिरोकर रक्खी जाती थीं। उन दिनों कला भारतीय जनजीवन में इतनी ओतप्रोत थी कि ये पट्टिकाएँ भी कला का प्रतीक बन गईं। उनके भीतरी भाग को संस्कारित कर किसी विशेष ढंग द्वारा पृष्ठभूमि बनाकर चित्रांकन की पद्धति थी। तिब्बत में तालपत्र के बाद जब कागज युग आरंभ होता है तब कागजों को भी उतनी ही लंबाई और तालपत्रों से चौगुनी चौड़ाई से काटा जाता था। तदुपरि जो पट्टिकाएँ सुरक्षा के निमित्त रक्खी जाती थीं वे तालपत्र की प्रतियों की अपेक्षा अधिक मोटी हुआ करती थीं। इनके ऊपरी भाग में बौद्ध संस्कृति से संबंधित विशिष्ट प्रसंगों का उत्खनन रहा करता था, ग्रन्थ रखने के लिए छोटे-मोटे जो डिब्बे बनवाये जाते थे वे भी कलापूर्ण हुआ करते थे।

उपर्युक्त **जालान** महोदय के संग्रह में हमने एक अत्यंत विशाल धर्मासन देखा जो विशुद्ध काष्ठ का एवं भगवान बुद्ध की जीवन घटनाओं से अंकित था। यह तिब्बती चित्रकला का उत्कृष्ट प्रतीक था। इसकी खुदाई इतनी आश्चर्यजनक है कि वागों तक का प्रदर्शन कलाकार ने बड़ी कुशलता के साथ किया है। पुष्पों की पंखुडियाँ एवं लताएँ बहुत स्पष्ट हैं। कलियों का स्पष्टीकरण आश्चर्यजनक है। इस पर से उन दिनों की उद्यानसंस्कार कला का भी सूक्ष्माभास मिल जाता है। इस पर स्वर्ण का काफी काम है। काष्ठफलकों पर अन्यत्र भी स्वर्ण का कलात्मक प्रयोग देखा जाता है। वर्मा के राजसिंहासन से कौन अपरिचित होगा।

कागज

समय के साथ कला के तत्त्व और उपकरणों में भी परिवर्तन हुआ करता है। ज्यों-ज्यों कलाकारों के सम्मुख नवीन एवं सुविधाजनक उपकरण उपस्थित होने लगे त्यों-त्यों कला अवनित के गर्त में पड़ती गई। कलाकारों की कल्पना-शक्ति कुंठित हो गई। उनके हृदय में कला के वास्तविक तत्त्व न रह गये। उनका चिंतन-प्रदेश अत्यंत सीमित हो गया। सुकुमार भावनाओं का स्थान कठोरताने ले लिया। स्पष्ट कहा जाय तो उन दिनों का कलाकार पारस्परिक संस्कारों से किंचित् ही प्रभावित था। अतः उनके हृदय व मस्तिष्क भावनाविहीन थे। केवल हस्त ही काम कर रहे थे। कागज पर कलाकार को तालपत्र की अपेक्षा आन्तरिक-सात्विक मनोभावों को व्यक्त करने का अधिक स्थान मिलता है। परंतु जब वस्तु आती है तब परिस्थिति या वायुमंडल



प्रतिकूल रूप धारण कर लेता है। कागज पर लिखे हुए जो बौद्ध-चित्र-कला के ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं उन्हें हम अपनी सुविधा के लिए तीन भागों में बांट दें तो अनुचित न होगा।

(१) प्रथम भाग में हम उन ग्रन्थगत चित्रों को ले सकते हैं जो आकृति में तालपत्रीय ग्रन्थों का अनुधावन करते हैं; अर्थात् कटाई-छटाई उसीके अनुरूप है। इन कागज पर पाये जानेवाले चित्रों में केवल रंग-वैचित्र्य ही पाया जाता है। परंतु रेखाओं में वह सौंदर्य नहीं है जो सर्वसाधारण को आकृष्ट कर सके। इसीलिए बौद्ध चित्रकला कागज पर अवतरित होकर ह्रासोन्मुख हो गई। इन कागजों पर स्वर्ण की स्याही का भी उपयोग किया जाता था। रंगों में तालपत्र के अतिरिक्त हरा, वैगनी आदि रंगों का भी व्यवहार काफी था। हां रंग जितने चमकीले थे उतनी ही रेखाएँ भद्दी थीं।

(२) द्वितीय विभाग में उन ग्रन्थों को लिया जा सकता है जो कागज पर विशिष्ट रूप से लिखित थे। बर्मा और तिब्बत के कुछ हिस्से में ऐसी परिपाटी रही थी जो कागज या तालपत्रों पर चमड़े की मोटी पालिश कर कलाकार लिखने योग्य बनाते थे। ये सबसे अधिक टिकाऊ और कला की दृष्टि से मूल्यवान हैं। कलाकार को अपनी समस्त भावनाओं को व्यक्त करने की काफी गुंजायश है। इन ग्रन्थों को चित्रकला की कोटि में हम इसीलिए गिन रहे हैं कि ये ग्रन्थ लेखनकला प्रधान होते हुए भी उन पर जो बेल-बूटे और कलात्मक भावमूलक रेखाएँ पाई जाती हैं वे अन्यत्र नहीं मिलतीं। इन ग्रन्थों में चित्र भी इस प्रकार सुरक्षित रहे हैं कि मानों अभी ही इनका निर्माण हुआ हो। इस कला में बर्मा सब से आगे रहा। वहाँ पर पत्रों को मजबूत करने के लिए चमड़े का भी प्रयोग किया जाता था।

(३) तृतीय भाग में वे ग्रन्थ लिये जा सकते हैं जिनका आलेखन तिब्बत में हुआ। कलाकार इन पूरे कागजों को काले या किसी अनुकूल रंग से रंग लेते थे। बाद में स्वर्ण या किसी स्याही से लिखते थे। इनमें जो चित्र पाये जाते हैं वे काफी छोटे होते हैं। परंतु फिर भी बौद्ध-ग्रन्थ चित्रकला का प्रतिनिधित्व करने की उनमें क्षमता है। जैनो में भी कागजों को रंगकर स्वर्ण की स्याही से लिखने की परिपाटी रही है।

कागज पर बौद्ध-चित्रकला के प्रतीकों पर जहाँ तक हमारा ख्याल है न तो समुचित अध्ययन ही हुआ है और न प्रकाशन ही। जहाँ तक चित्रकला का प्रश्न है कागज युग बहुत महत्व रखता है क्योंकि कागज युग में कला की



पत्र वेष्टनात्मक कृतियाँ खास तौर से चित्रलेखन के लिए ही निर्मित हुआ करती थीं। जहाँ तक हमारा खयाल है इस प्रकार की कलात्मक कृतियों के पीछे बौद्ध साधुओं की सुविधाओं का लक्ष्य ही प्रतिध्वनित होता है। साथ ही साथ अधिक काल तक सुरक्षित भी उन्हीं उपकरणों के द्वारा चित्रों को रक्खा जा सकता था। काष्ठ, बांस या टिन के डिब्बे भी केवल इन्हीं के लिए तिब्बत में बनाये जाते थे। जिन पर वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य अंकित रहा करता था, ऐसे नमूने **जालान संग्रहालय** में सुरक्षित हैं। कभी-कभी बौद्ध लोग चमड़े को भी चित्रकला का उपकरण बनाते थे। कलकत्ते के लामा के पास एक चित्र हमने इसी पद्धति का देखा था।

भारतीय चित्रकला के इतिहास में वस्त्रोपरि आलेखित चित्रों का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। निश्चित नहीं कहा जा सकता कि सर्वप्रथम वस्त्रों पर चित्रालेखन-पद्धति का विकास कब से हुआ और किस देश में हुआ। भित्ति-चित्रों के बाद कलाकारों को अपने भाव व्यक्त करने का पर्याप्त स्थान वस्त्रों में ही मिला। तिब्बत और भारतीय चित्रकला के उत्कृष्ट प्रतीक वस्त्रों पर ही पाये जाते हैं। इस प्रकार की चित्रांकन-पद्धति का विकास किस शताब्दी में भारत या तिब्बत में अधिक हुआ, इसका विचार कर लेना आवश्यक है। क्योंकि भारत में जो चित्रपट उपलब्ध हुए हैं, वे तेरहवीं शताब्दी के बाद के हैं। तिब्बत से प्राप्त चित्रपटों का अध्ययन हमने प्रत्येक काल के शिल्प, स्थापत्य कला के प्रतीकों के साथ तुलनात्मक ढंग से किया है। अतः निस्संदेह कहा जा सकता है कि भारत की अपेक्षा वस्त्रों पर चित्रकला का विकास तिब्बत में ही प्रथम हुआ, जिसका ठीक संवत् ज्ञात न होने पर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल से ही तिब्बतीय बौद्ध-भिक्षु या कलाकारों ने वस्त्र को कला का उपकरण मान लिया था।

જૈન ચિત્રકલા ૧૯૨

बौद्ध-चित्रकला से संबंधित जितने भी उच्चतम कलापूर्ण प्रतीक उपलब्ध हुए हैं उनमें ग्रन्थापेक्षया चित्रपटों का स्थान बहुत ऊँचा और रंग-वैचित्र्य सूक्ष्मता, सुकुमारता, रेखाएँ आदि अनेक दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण हैं। रेखाएँ किसी भी देश की चित्रकला की आत्मा हैं, रंग देह। परंतु यहाँ दोनों का सौंदर्य प्रतिबिम्ब हुआ है। रेखाओं के विकास में बौद्ध कलाकार बहुत आगे रहे हैं। एक-एक रेखा में चित्र की आत्मा बोलने लगती है। वस्त्र पर चित्र-आलेखन के भी कई प्रकार हुआ करते थे। कुछ चित्र ऐसे मिलते हैं जिनकी लंबाई चौबीस फुट से कम नहीं। इस प्रकार के चित्र अधिकतर बोधिसत्व, मारविजय एवं सिद्धों के ही मिलते हैं। जहाँ तक हमारा अनुमान है इन चित्रों को मंदिर, मठ या किसी श्रीमंत के खास घरानों में सजाने के काम में लाते होंगे। चारों ओर जरी का काम देखा जाता है। **इंडियन म्यूजियम की आर्ट गैलरी** में जाकर देखिए तो पता चलेगा कि बौद्ध वस्त्र-चित्रण कितने सुंदर पाये गये हैं जिनमें से बहुतों का निर्माण नैपाल एवं तिब्बत में ही हुआ है। हम कल्पना कर सकते हैं कि भारत में भी इस पद्धति का प्रचलन विक्रम की नवीं या दशवीं शताब्दी में अवश्य ही रहा होगा। असंभव नहीं कि दीपंकर श्रीज्ञान जब तिब्बत गये तब कलात्मक प्रतीक या वैचारिक परंपरा ले गये थे, एवं इसी पद्धति का पूरा विकास धर्म का सहारा पाकर भोट, तिब्बत और नैपाल में हुआ हो।

[illegible]

तेरहवीं शताब्दी से लगातार अठारहवीं शताब्दी तक की बौद्धकला का जीवित रूप उनमें सुरक्षित है। हमने इनको सरसरी तौर से देखा तो भी ढाई मास से अधिक समय देना पड़ा। यदि कोई पारखी कलाकार उनकी रंग-रेखा और तत्कालीन शिल्प-स्थापत्य की रेखाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करे तो सुनिश्चित रूप से कला के क्षेत्र की एक दिशा अवश्य ही आलोकित हो उठेगी। उपर्युक्त चित्रों का महत्व चित्रकला के समस्त अंगों की दृष्टि से अंकित किया जाना चाहिए। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के कुछ ऐसे भी पट हैं जो बने हैं नैपाल में परंतु उनमें भारतीय शिल्प-स्थापत्य कला के तत्त्व बिखरे पड़े हैं। यहाँ पर सहज ही राहुलजी की निम्नांकित पंक्तियाँ याद आ जाती हैं।

उन दिनों तिब्बत में स्वर्ण का उपयोग भी बहुतायत से होता था । उपर्युक्त संग्रह में कुछ ऐसे भी पट हैं जिनकी लंबाई ७५ फिट से कम नहीं । इनमें कुछ प्रसंग ऐसे हैं जो समझ में नहीं आ सकते । जातक कथाओं का भित्तिचित्रों पर अंकन मिलता है, परंतु इन वस्त्र पटों पर भी बहुत सी जातक कथाओं के भाव अंकित हैं । इनमें एक वस्त्रपट हमने ऐसा देखा जिसकी लंबाई ५० फिट से कम नहीं ।

आश्चर्य इस बात का है कि यह मुगल कला का प्रतिनिधित्व करता है। पगडी शुद्ध मुगल है और स्थान-स्थान पर भगवान बुद्ध अपने अनुयायियों के

चौदहवीं शताब्दी के बाद वस्त्रों के ऊपर चित्र बनाने की पद्धति का विकास पश्चिमी भारत के जैनो ने ही किया । उन दिनों बौद्धधर्म क्षतविक्षत हो चुका था । तिब्बत में उपर्युक्त काल में भी कला की आराधना पूर्ववत् पाई जाती है । पीली टोपीवाले संप्रदाय के मठों में इस प्रकार की कलात्मक संपत्ति पर्याप्त रूप से पाई जाती है । भिक्षु एवं भिक्षुणी भी खास तौर से चित्रकला का अभ्यास करने में गौरव समझते थे । सत्रहवीं शताब्दी में तिब्बत में अनेक चित्रकार उत्पन्न हुए । इन चित्रकारों ने भित्तिचित्रों की परंपरा को सुरक्षित रखा; अर्थात् पूर्वोल्लिखित रेखाओं पर ही अपनी तुलिका चलाते रहे ।

उपर्युक्त उभय भाग में कई विशेष व्यक्तियों के चित्र उल्लिखित हैं। चित्रित मुद्राओं में चित्रित की गई भावभंगिमाएँ अनेक तरह के भाव-प्रदर्शन बड़ी सूक्ष्मता से कराती हैं। मध्य-भाग में विशाल चक्राकार यन्त्र बना हुआ है। जिसके चारों ओर बौद्धधर्म मान्य तान्त्रिक देव-देवियाँ अंकित हैं। किसीका वाहन शूकर, किसीका मुंह शूकर, कोई सांप पर तो कोई अग्नि पर, कोई शान्त तो कोई भद्र, कोई व्यग्र और कोई ध्यानमग्न है, किसीके वस्त्र गिद्ध खींच रहे हैं, कोई हाथ जोड़कर नमस्कार करता है। कहने का तात्पर्य कि यह चित्र क्या है, नव रसों का सामूहिक संकलन है।


जैन चित्रकला
१९६


तिब्बतीय कलाकार किसी भी कृति में अपना नाम न देते थे और न चित्रांकन समय ही । परंतु सौभाग्य से इस पट में प्रत्येक तन्त्र संबंधी प्रतिम के पश्चात् भाग में परिचयार्थ कुछ पंक्तियां पाई जाती हैं जो हिंगुल से उल्लिखित हैं । हमारे स्वर्गीय मित्र **डॉ. बेनीमाधव बरुआ** ने इन अक्षरों का काल सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण स्थिर किया था । यह वस्त्र-पट राजपूताना के एक जैन उपाश्रय में था, अभी **श्रीभंवरलालजी** के पास है । अठारहवीं शताब्दी के अधिकतर वस्त्रचित्र लाभाओं से संबंध रखनेवाले मिलते हैं । आज भी तिब्बत में चित्तेरों की कमी नहीं । परंतु उनमें मौलिक तत्त्वों का विकास न होकर केवल प्रतिकृति मात्र करने की क्षमता ही रह गई है ।


 जैन चित्रकला
 १९७


निर्माण बेंत से हुआ है। उस पर चमड़ा लगाकर सोने का काम किया गया है। ढक्कन की आकृति इस प्रकार बनी हुई है मानों कोई बौद्ध स्तूप ही हो। आज भी बर्मा में जो बौद्ध पात्र निर्माण किये जाते हैं उनमें अनेक प्रकार की रेखात्मक आकृतियाँ खंचित रहती हैं।

उपर्युक्त लम्बे विवेचन के पश्चात् यह कहने की आवश्यकता नहीं कि बौद्ध लोग कला की जीवन-साधना करने में अन्यापेक्षया कितने अग्र थे। वर्तमान काल में भी सारनाथ स्थित जापानी मंदिर में कोसेट्सूनोत्सूकी जो एक बौद्ध चित्रकार थे, सफल तूलिका द्वारा भगवान बुद्धदेव के विशिष्ट एवं लाक्षणिक प्रसंगों का भित्ति पर जो आलेखन १९३२ से ३८ तक अंकित किया गया है, वह निस्संदेह बौद्धाश्रित चित्रकला का वर्तमानकालीन सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। इन चित्रों के सामने मनुष्य स्वाभाविक रूप से क्षणिक आवेश में ही आत्मसमर्पण कर डालता है।

जापानी कलाकार की कृति होने के बावजूद भी एक प्रकार से वे भारतीय चित्रकला के दिव्य स्तंभ हैं। इन चित्रों पर हमें अजंटा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, अतः यहां संक्षेप में ही संतोष करेंगे। प्रासंगिक रूप से शान्तिनिकेतन स्थित चीना भवन के विशाल भवन में मास्टर (मोशाय) श्रीमान् नन्दलाल बोस द्वारा अंकित मारविजय के विशाल चित्र को हम कदापि नहीं भूल सकते।

वर्तमान काल में बौद्धाश्रित चित्रकला के निर्माण की अपेक्षा गवेषणात्मक तथा समीक्षात्मक कार्य ही अधिक हुआ है।

२७-मार्च-१९४९

महाकोसल के जैन भित्तिचित्र

प्राचीन भारतीय इतिहास में कोसल अत्यंत प्रसिद्ध जनपद रहा है।

भारतवर्ष की संस्कृति का प्रधान केन्द्र भी महाकोसल, जिसे प्राचीन साहित्य में दक्षिणकोसल कहा गया है, वर्तमान में मध्यप्रदेश का एक उपविभाग है। प्राकृतिक सौन्दर्य सम्पन्न गिरिकन्दराओं से विभूषित यह भूभाग शैलशृंग, सर, निर्झर, जलप्रपात, विजयभवन, पर्वत आदि के लिए अत्यंत विख्यात है। यहाँ की प्राकृतिक शोभा कमनीय कानन की सहचरी ही नहीं, किंतु वाग्देवी की वीणा-झंकार और कलाकिन्नरी के विलास-विहार से भी



यद्यपि भित्तिचित्रों की परंपरा बहुत प्राचीन एवं सार्वजनिक रूप से प्रचलित रही है, पर इनका उल्लेख न तो यहाँ विवक्षित है, न स्थान ही।

इन पंक्तियों में महाकोसलान्तर्गत पाये जानेवाले भित्तिचित्रों-विशेषकर श्रमण संस्कृति से संबंधित कलाकृतियों की ही चर्चा करूंगा !

भारतीय प्राचीन साहित्यानुशीलन से सिद्ध होता है कि भित्तिचित्र या शिलाचित्र का इतिहास बहुत विस्तृत एवं महत्वपूर्ण है ! प्राचीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की ओर संकेत करनेवाले क्या साहित्य विषयक ग्रंथों में एतद्विषयक विशद् उल्लेख आये हैं, परंतु उनसे तत्कालीन चित्रकला एवं उनके विभिन्न उपकरण शैली आदि का समुचित ज्ञान नहीं होता ! तात्पर्य कि भारतीय चित्रकला पर व्यवस्थित प्रकाश डालनेवाले प्राचीन स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं होते, केवल हमें फुटकर या अन्य ग्रंथों में आनेवाले प्रासंगिक उल्लेखों पर ही निर्भर रहना पड़ता है ।

संस्कृत साहित्य के वात्स्यायन कृत कामसूत्र एवं शिल्पशास्त्र व उपनिषदों में “चित्रतूलिका” (Brush) शब्द आया है एवं “वाल्मीकि रामायण” में हेमधातु विभूषित धातुमंडित विचित्रशिखर चित्र सानुनग तथा चित्रसानु आदि कई शब्दों का प्रयोग मिलता है जो चित्रकला के इतिहास की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। उपर्युक्त उल्लेखसूचक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं !

अन्वीक्ष्य दंडकाराण्यं सपर्वतनदीगुहम् ॥ ११ ॥

अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धातुमंडितः ।

विचित्रशिखरः हीमां चित्रपुष्पितकाननः ॥ १३ ॥

अगस्त्येनान्तरे तत्र सागरे विनिवेशितः ।

चित्रसानुगः हीमान् महेन्द्रः पर्वतोत्तमः ॥ २० ॥

-किष्किन्धाकाण्ड, ४१ सर्ग ।

अभिवृष्टा महामेघैः निर्मलऽश्चित्रसानवः

अनुलिप्ताह्वा भान्ति गिरयश्चन्द्ररश्मिभिः ॥ २० ॥

-किष्किन्धाकांड, ३० सर्ग ।

आसीनः पर्वतस्याग्रे हेमधातुविभूषिते ।

इगरदंगगनं हृष्ट्वा जगम मनसा प्रियाम् ॥ ६ ॥

उपर्युक्त उल्लेख प्राप्त साहित्य में प्राचीन एवं विश्वस्त है । मेघदूत में भी एक उल्लेख बड़े महत्व का है जो इस प्रकार है-

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम् ।

-कालीदास

श्लोक में उल्लिखित गेरु^१ का उल्लेख बहुत महत्व का है । अधिकतर प्रागैतिहासिक भित्तिचित्रों में गेरुए वर्ण की रेखाएँ ही मिलती हैं । प्रसंगतः कहना अनुचित न होगा कि अमेरिका में भी प्राचीन चित्र रक्तवर्ण के ही मिले हैं, जिनमें हस्तचिह्न^२ प्रमुख है जो गृह, मकान, मंदिर में बनाये जाते थे; यथा-

“Possibly the father of the family had just Plastered the walls and his wife and children had come to see how to work and place their hands on the fresh coverings saying in their own language.”

“It is dry yet Dad ?”

जिस प्रकार पीली मिट्टी, गेरु आदि के द्वारा प्राचीन शिला-चित्र अंकित किये जाते थे, उसी प्रकार उडीसा और कहीं-कहीं दक्षिणी कोसल में आज भी ग्रामीणों के घरों पर चित्र आँके जाते हैं । समय, परिस्थिति और आवश्यकतानुसार चित्रकला के उपादानों में अवश्य परिवर्तन हुआ । यहाँ की आदिवासी सभ्यता में पलनेवाली जनता पर उनका तनिक भी प्रभाव नहीं ।

१. बहुत प्राचीन काल से ही महाकोसल में गेरु प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता रहा है । आज भी कई खदानों में उत्तम गेरु निकलता है । ग्रामीण जनता अपनी गृह-दीवारों पर चित्र अंकित करती है । जंगली सड़कों पर बिछाई जानेवाली मृत्तिका में भी गेरु अधिकतर देखा जाता है पर मिट्टी में से रंग बनाने की प्रथा उठ जाने से कलाकारों की दृष्टि में गेरु का महत्व बहुत कम हो गया है ।

२. इस चिह्न विषयक विशेष ज्ञातव्य के लिए देखें-“Proceedings of all India Oriental Conference,” Baroda एवं “Rock paintings in the Raigarh State.”



जैन भित्तिचित्र

धार्मिक विषयमूलक चित्र मनुष्य को ज्ञानमूलक वैराग्य की ओर लिवा ले जाते थे। विवक्षित भूभाग में पाये जानेवाले अधिकतर शिलाचित्र विशुद्ध भौतिक वासनामय ही है। पर रामगढ-स्थिति चित्र वैराग्य का प्रतीक है, जो इस प्रकार है-

(१) एक वृक्ष के निम्नस्थान में एक पुरुष का चित्र है। बाईं ओर अप्सराएँ व गन्धर्व हैं। दाहिनी ओर सहस्रि एक जूलस खड़ा है।

(३) अर्धमाग अस्पष्ट है। एक वृक्ष पर पक्षी, पुरुष और शिशु है, चारों ओर मानव-समूह उमड़ा हुआ है, केशों में ग्रंथी लगी है।

(४) पद्मासनस्थ पुरुष है, एक ओर चैत्य की खिडकी है तथा तीन घोड़ों से जुड़ा हुआ रथ है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि ये चित्र जैनधर्म से संबंधित है, परंतु संरक्षण के अभाव से चित्रों की हालत खराब हो गई है ! इस बारे में रायकृष्णदासने लिखा है-

“किन्तु उन चित्रों की सुंदर रेखाएँ उनके ऊपर फिर से खींचे गये

भद्दे चित्रों में छिप गई है। बच्चे-खुचे अंशों में से अनुमान होता है कि वहाँ के कुछ चित्रों का विषय जैन था।”

रामगिरि पर्वत:—संस्कृत-साहित्य के अभ्यासियों को विदित है कि महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत खंडकाव्य में रामगिरि पर्वत को अमर कर दिया। पं. नाथूराम प्रेमी का मानना है कि कालिदास कथित रामगिरि पर्वत यही है, क्योंकि वह दंडकारण्य के अन्तर्गत है और कर्णरवा नदी संभवतः महानदी है। प्रेमीजी आगे लिखते हैं कि उग्रादित्याचार्यजी ने अपना कल्याणकारक नामक आयुर्वेदिक ग्रन्थ इसी रामगिरि पर्वत पर रचा था। इन बातों में चाहे जितनी वास्तविकता हो, पर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि किसी समय इस प्रान्त में जैनधर्म विस्तार के साथ फैला हुआ था, जिसका प्राचीन प्रमाण गुफाचित्र है! जिस समय की गुफा बनी हुई है, उस समय यहाँ मौर्यों का साम्राज्य था। संप्रति सम्राट जैन थे। संभव है, उन्होंने ही यह गुफा बनवाई हो। और भी अनेक उदाहरण ऐसे ही दिये जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि पुरातन काल में जैन संस्कृति यहाँ पर खूब विस्तार से फैली हुई थी! जिन कल्पी मुनि परंपरा का विहार जारी था।

महाकोसल के ही सुप्रसिद्ध कवि भवभूति ने अपने उत्तररामचरित में भित्तिचित्रों का उल्लेख किया है, यद्यपि कविवर ने स्पष्टतः स्थानविशेष का सूचन नहीं किया, पर अनुमान होता है कि इसका संबंध रामगिरि से या उन आंशिक गुफाचित्रों से होना चाहिए, जिनकी अवस्थिति सिहावा तहसील के जंगलों में है। इन गुफाओं के निकटतम प्रचुर जैनप्रतिमाएँ एवं अन्य कलात्मक शिल्प प्रतीक उपलब्ध होते हैं। आज के प्रगतिशील एवं अन्वेषणप्रधान युग में भी उपर्युक्त गुफाएँ इतनी उपेक्षित हैं कि शायद ही कभी कोई वहाँ पहुंचता हो। राज्यकार्यवशात् इतिहासप्रेमी रायबहादुर गजावरप्रसादजी तिवारी (Election Commissioner M.P.) जंगल में पहुंचे और उन्होंने मेरा ध्यान आकृष्ट किया!

जैन भित्तिचित्रों की परंपरा का प्रवाह इस प्रान्त में किस शताब्दी तक प्रवाहित होता रहा, इस पर प्रकाश डालनेवाले मौलिक उल्लेख अत्यल्प हैं, पर विभिन्न पुरातन खंडहरों में जो चित्रित रेखाएँ मिलती हैं, उनसे तो निश्चित हो जाता है कि मुगलकाल तक यह धारा उन्नत थी! मराठों के समय भी भित्तिचित्र की परंपरा चली, पर उसमें वह सौंदर्य व आकर्षण नहीं जो

कलाकार को अपनी ओर खींच सके ! रामगिरि के चित्रों के बाद भवभूति का उल्लेख आता है ! तदनंतर कलचुरि राज्यवंश की कलाकृतियाँ हमारे सामने हैं । यों तो अद्यावधि अन्वेषित सामग्री से यहीं फलित हुआ है कि हैहयवंशीय नरेश केवल शिल्पकला के उन्नायक ही रहे हैं, परंतु गत वर्ष मुझे कलचुरि शिल्पकला का एक केन्द्र-बिलहरी^१ देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था ।

बिलहरी

वहाँ पर एक जीर्णशीर्ण मठ है, निकट ही हनुमानजी का मंदिर-वापिका है । मठ दर्जनों मूर्तियों से परिवेष्टित है । मठ का भीतरी भाग कुछ सुरक्षित रह सका है, परंतु गर्भगृह शून्य रहने के कारण नहीं कहा जा सकता कि इसका संबंध संस्कृति की किस धारा से है ।

प्रदक्षिणास्थान एवं जगती तथा सभागृह के ऊपर विभिन्न प्रकार के बेलबुटे कटे हैं । इनमें रक्त एवं नीला रंग प्रयुक्त हुआ है । कहीं-कहीं सूक्ष्म रेखाएँ गेरू की भी हैं । छत के स्थान पर सूक्ष्मतया देखने पर ज्ञात होता है कि वहाँ कुछ चित्र अवश्य रहे होंगे कारण कि गिरी हुई पपडियाँ एवं कहीं-कहीं चेहरों से परिलक्षित होता है ! इसी मठ में मुझे स्वस्तिक और कुम्भकलश की स्पष्ट रेखाएँ दिखलाई पड़ीं । इन दो चित्र-प्रतीकों से मेरा अनुमान है कि इसका संबंध अवश्य ही जैन-संस्कृति से होना चाहिए । ये दोनों जैन-शिल्पस्थापत्य कला के मंगलमय प्रतीक माने गये हैं । वहाँ के अन्य हिंदू मंदिर मेरी इस शंका को और भी दृढ़ कर देते हैं । कारण कि प्रत्येक हिंदू-मंदिर के गर्भद्वार के मध्य भाग में गणेशजी या तत्तद देवस्थान-सूचक प्रतीक उत्कीर्णित रहते हैं ! जब कि यहाँ कलश की प्रधानता है !

१. यह स्थान कटनी से १० मील पड़ता है । एक समय यह जैन-संस्कृति का बहुत बड़ा केन्द्र था । आज भी वहाँ पर सैकड़ों जैन-मूर्तियाँ एवं अन्य कलात्मक प्रतीक बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं । कोई जमीन में अधगडे हैं, कुछ मकानों में लगे हुए हैं, कुछ-एक पर चटनी और भंग पीसी जाती है । वस्त्र धोने की शिला के रूप में उल्टी मूर्तियों का प्रयोग यहाँ के लिए स्वाभाविक है । एक बात स्पष्ट कर दूं कि साम्प्रदायिक गंभीरता के कारण हिन्दुओं के द्वारा जैन कलात्मक प्रतीकों का जो अपमान यहाँ पर मैंने देखा वह दिल कंपा देनेवाला है । जब मैं गत वर्ष वहाँ गया था तो एक जैन-त्रिमूर्ति-पट ऐसा मिला जो एक वयोवृद्ध ब्राह्मण सज्जन की सीढियों का काम दे रहा था । यहाँ की जैन मूर्तियाँ कलचुरि कला का अभिमान हैं । विशेष के लिए देखें मेरा “खंडहरों का वैभव” ।

जबलपुरस्थित हनुमानताल का मंदिर भी भित्तिचित्रों की परंपरा की कड़ी प्रस्तुत करता है। यों तो मंदिर की दीवारों पर धार्मिक कथाप्रसंग व जैनभूगोल विषयक चित्र काफी तादाद में हैं, पर मुझे उन्हीं चित्र-कृतियों पर विचार प्रस्तुत करता है, जिनका सीधा संबंध मुगल और मराठा कलम से है। महाकोसल में जो बेलबूटे, चित्र एवं जालीदार रेखाओं में रंग पाये जाते हैं, उनसे यह सिद्ध है कि उस समय भी राजमहल, विस्तृत भवन या आध्यात्मिक साधना का केन्द्रस्थान-मंदिर आदि में चित्रांकन अपेक्षित था और स्थानीय कलाकारों ने पारंपरिक रंगों के साथ इतर प्रान्तीय चित्रों में व्यवहृत रंगों का उपयोग खुलकर किया था !

कथित मंदिर में चित्रकला-विषयक इतिहास की दृष्टि से दो कृतियां विशेष महत्व की हैं, जो इस प्रकार हैं-

तथाकथित मंदिर के उपरि भाग में एक छत पर बेलबूटोंवाली जालीनुमा सुंदर रेखाएँ अंकित हैं ! लाल, गहरा, नीला एवं हल्के पीले रंग का प्रयोग हुआ है। यदि केवल इसी छत की रेखाएँ और रंगों के आधार पर इसका निर्माणकाल निश्चित करें तो मुगलकाल तक ले जा सकते हैं। पर वह उतना प्राचीन है नहीं, कारण कि ऐसा देखा गया है कि कला-विषयक परंपरा का विभाजन भौगोलिक या राजनैतिक दृष्टि से आंशिकरूपेण संभव हो सकता है वह भी स्थायी शायद ही ! मुझे तो ऐसा लगता है कि मरहटाकालीन कलाकारों ने मुगलकाल में प्रचलित जालियों एवं बेलबूटों का अंकन सौंदर्य-बुद्धि के हेतु ही किया होगा। मुगलकाल की छाया पड़ने मात्र से कोई वस्तु उस काल की नहीं हो सकती। बिलहरीवाले मठ की एवं प्रस्तुत छत की रेखाएँ एवं रंगों में पर्याप्त साम्य है।

मंदिर के निम्नभाग में एक चित्र अठारहवीं शताब्दी का है। उसमें मराठा पहनाव एवं विशेषकर पगडियों का बाहुल्य है। कलाकार ने मराठा कलम का उत्तम प्रभावोत्पादक परिचय देकर उस प्रसंग को महाराष्ट्रीय घटना ही बना डाला है ! चित्र में भव्य सिंहासन पर एक व्यक्ति बैठा है। वहाँ के लोगों का ऐसा ख्याल है कि ये **चिमनाजी भोंसले** ही हैं।

इस प्रकार महाकोसल में जैन-भित्तिचित्रों की परंपरा आज तक सुरक्षित है, किन्तु अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण अद्यतनयुगीन चित्रों में कलातत्त्व बहुत कम रह गया है। कहीं-कहीं भित्तिचित्रों की आंशिक पूर्ति प्रतिमाचित्रों से की जाती है।



मुझे बड़े परिताप के साथ लिखना पड़ रहा है कि मध्यप्रदेश की सरकार अन्वेषण-विषयक कार्यों में अन्य प्रान्तों की अपेक्षा पिछड़ी हुई ही नहीं है, अपितु उसने इस पर ध्यान ही नहीं दिया । बल्कि निस्स्वार्थ भाव से सांस्कृतिक व शैक्षणिक अन्वेषणों के प्रति जो रुख अपनाया है, वह जनतंत्र को कलंकित करनेवाला है । प्रान्त में मैं चाहूँगा कि मध्यप्रदेश शासन असाम्प्रदायिक भाव से पुरातत्त्व गवेषणा की प्रतीक्षा करे । जैन समाज का भी अपने गौरव प्रदायक प्रतीकों पर ध्यान न जाना आश्चर्य ही है ।

भारत के प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों ने अपनी सात्विक, सुकुमार और उत्प्रेरक भावनाओं को धातु, प्रस्तर और कागज के द्वारा साकार कर न केवल कला के उपकरणों की रक्षा ही की, अपितु यह भी प्रमाणित कर दिखाया कि अन्तर्भावनाओं के विकास एवं स्थाय्य के लिए अमुक प्रकार का अलंकरण ही उपयुक्त है, ऐसी बात नहीं है। कला की उत्कट भावना किसी भी प्रकार के उपकरण द्वारा व्यक्त की जा सकती है। पार्थिव द्रव्यों में ही कला और सौंदर्य का समुचित विकास पाया जाता है। प्रस्तुत निबंध में मैं कला के एक, उपकरण काष्ठ की और पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं, क्योंकि बहुत प्राचीनकाल से यहाँ के साधारण जनसमूह से लेकर उच्च कोटि के कलाकारों तक ने काष्ठ का व्यापक उपयोग कर, अपने गार्हस्थ्य दैनिक आवश्यक कार्यों की पूर्ति तो की ही, साथ ही साथ उच्च श्रेणी के प्रतीकों का सर्जनकर उसे सजीव प्रतीकों की कोटि में ला खड़ा किया।


 જૈન ચિત્રકલા
 ૨૦૬


प्राचीनकाल के जितने भी ध्वस्त खंडहर उपलब्ध हुए हैं एवं पौराणिक साहित्य में जितने भी गृह-निर्माण विषयक उल्लेख मिलते हैं, उनसे काष्ठ के व्यवहार पर प्रकाश पड़ता है।

विशुद्ध इतिहास की दृष्टि से यह तो कहना कठिन है कि किस काल से गृह-निर्माण-कला में काष्ठ का प्रयोग प्रारंभ हुआ। यों तो काष्ठ-शिल्प की एक कथा आंशिक जैनसाहित्य में उपलब्ध हुई है, जिसका सारांश यह है कि वह शिल्पी जलयान एवं कई प्रकार के ऐसे वायुयान निर्माण करता था जिनका संचालन एक या दो कलों से हुआ करता था। इस प्रकार के कई आख्यान और भी मिल सकते हैं। परंतु उनमें ऐतिहासिक सत्य कितना है यह एक विचारणीय समस्या होते हुए भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्राचीनकाल में इस प्रकार के सामाजिक उद्योग अवश्य ही रहे होंगे। परंतु जब तक इन किंवदंतियों का समुचित मूल्यांकन नहीं हो जाता, तब तक इन पर कुछ भी कहना अति साहस होगा। यों तो भारत में जितने भी प्राचीन खंडहर उपलब्ध हुए हैं, उनमें **मोहन-जो-दारो** का स्थान प्राचीनता की दृष्टि से प्रधान माना जाता है।

अब तो यह भी स्वीकार किया जा चुका है कि मोहन-जो-दारो का विकास भारतीय संस्कृति के आधारों पर हुआ था। उन दिनों मानव ने अपने रहन-सहन के साधनों का पर्याप्त विकास कर लिया था। परंतु आश्चर्य तो इस बात का है कि अभी तक जो खुदाई वहाँ पर हुई है उसमें काष्ठ का कहीं भी पता नहीं मिला। यद्यपि इसे हम पत्थर-युग कहकर टाल देते हैं परंतु उस युग में काष्ठ का उपयोग गृह-निर्माण काल में नहीं होता था यह कैसे कहा जा सकता है ?

वैदिक युग में यज्ञ-यागों की प्रधानता थी। तन्निमित्त मंडपों की बहुत बड़ी आवश्यकता रहती थी। उसमें भाषा, ज्ञान-चर्चा, गीत, नृत्य आदि आध्यात्मिक एवं जनरंजक कार्यक्रम हुआ करते थे। ये मंडप अधिक द्रव्य व्यय कर सुंदर से सुंदर बनाये जाते थे। कहीं पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण भी वर्ग अपनी धन-संपत्ति के बल पर मंडप को अधिक से अधिक सजाता था। परंतु इन मंडपों का अस्तित्व निर्धारित समय के लिए ही था। इतने परिश्रम और विपुल अर्थ-व्यय से तैयार होने के बाद भी वे स्थायित्व के सौभाग्य से वंचित रह जाते थे। समय ने पलटा खाया। स्वाभाविक भी है कि जैसे-जैसे आवश्यकताएं बढ़ने लगती हैं वैसे-वैसे समाज में क्रान्ति और संघर्ष



उस काल के शिल्पियों में कल्पना और सृजन-शक्ति अद्भुत थी । उनका जीवन कलाकार का एक आदर्श जीवन था, वे सांसारिक होते हुए भी कला की साधना में जुटते-अलिप्त थे । धनिक वर्ग द्वारा कलाकारों का समुचित सम्मान भी होता था । इस सम्मान के पीछे कलाकार में अपनी प्रतिभा के तत्त्व थे, जिनके बल पर धनवानों में वे समादृत होते थे, न कि अर्थ से उनको उन दिनों खरीदा जाता था ! क्योंकि उस समय भारत का सामाजिक जीवन ही कुछ ऐसा बन गया था कि शायद ही कोई गृह ऐसा रहता, जिस पर सुरुचिपूर्ण कलात्मक अंकन न किया गया हो । बिना सूक्ष्म खनन के आवास-गृह अशुद्ध और अपशकुन जनक माना जाता था । लकड़ी को 'प्लेन' रहने देने से काष्ठोपजीवी वर्ग स्वयं इनकार कर देता था ।

यज्ञ-स्तंभ काष्ठ के गड़वाए जाते थे, जिसका एक उदाहरण देने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता । विलासपुर (मध्यप्रदेश) जिलान्तर्गत चन्द्रपुर तालुके में किरारी नामक ग्राम में हीराबन्ध जलाशय में से १९०० वर्ष पूर्व एक प्राचीन काष्ठ का यज्ञ स्तंभ सलई का प्रतीत होता है । इस पर जो लिपि है, वह गुप्तकाल के पूर्व की है । मैंने इसे नागपुर आश्चर्य-गृह में देखा था । इस स्तंभ में विशेषकर उन दिनों के राजनैतिक कर्मचारियों के पदों के

उल्लेख पाये जाते हैं^३ । अतः इसका महत्व दोनों दृष्टियों से है । यद्यपि यज्ञ-स्तंभ तो और भी प्राप्त हुए हैं पर वे प्रायः पाषाण के हैं ।

ई. पू. ६ वीं शती में महाश्रमण भगवान **महावीर** की चंदन-काष्ठ पर मूर्ति खोदी गयी थी । इसे उज्जयिनी के राजा चंद्रप्रद्योतन ने बनवाया था । ईसवी पूर्व छठवीं शताब्दी में गृहनिर्माण व पुतलियों की रचना में काष्ठ का प्रयोग होता था, जैसा कि तात्कालिक जैनागम साहित्य से फलित होता है । गत वर्ष जब मैं **पटना** में था तब प्राचीन पाटलिपुत्र की खुदाई के अवशेष एवं भूमि को देखने का सुअवसर आया था । वहाँ पर बड़े-बड़े काष्ठ के सुसंस्कृत पट्टे पड़े हुए थे, जिनमें कुछ अधजले भी थे । पाटलिपुत्र में विस्तृत आग लगने के उल्लेख बौद्धसाहित्य में आते हैं । मौर्यकाल में काष्ठ का उपयोग व्यापक रूप से हो रहा था, तक्षणकला में तो होता ही था । पटना के संग्रहालय

१. राजकीय पदों के नाम इस प्रकार है-

- (१) नगररख्खिनो (नगररक्षक City Kotwal or Magistrate)
- (२) सेनापति (Commander of Army)
- (३) प्रतिहार (द्वारपाल Door Keeper or Private Secretary)
- (४) गणक (खजांची Accountant or Cashier)
- (५) गाहपालिय (अग्निरक्षक keeper of house hold fire)
- (६) भाण्डागारिक (भंडारी Store keeper)
- (७) पादमूलक (मंदिररक्षक Temple attendant)
- (८) रथिक (सारथी charioteer)
- (९) महानासिक (भोजनालय प्रबन्धक Superintendent of Kitchens)
- (१०) धावाक (सन्देहवाहक या डाकिया Runners)
- (११) सोगंधक (इत्रों का परीक्षक officer incharge of)
- (१२) गोमांडलिक (office incharge of Cow and Cattle)
- (१३) यानसतायुषधरिक (रथों और आयुधों के रक्षक officer incharge of carriage-sheds and armoury)
- (१४) लेहवारक (डांक दारोगा Superintendent of letter)
- (१५) कुलपुत्रक (इंजिनियर या मुख्य मिस्त्री Chief of Architects)
- (१६) हाथीराह (गजरक्षक Superintendent of elephants)
- (१७) अश्वारोह (Superintendent of horses)
- (१८) महासेनानी (Commander in Chief)

गौतम बुद्ध ने अक्षरारंभ करते समय चंदन काष्ठ-पट्टिका का उपयोग किया था । इस उदाहरण से ज्ञात होता है कि उन दिनों लेखनकला के विशेष अभ्यास में काष्ठ का प्रचलन रहा होगा । **ललित विस्तर और कटहल जातक** इसके उदाहरण हैं । यद्यपि प्राचीन और मध्यकालीन जितने भी कलात्मक प्रतीक मिले हैं, वे प्रायः सभी प्रस्तर के हैं, परंतु उनसे यह प्रामाणित नहीं होता कि उस काल में गृह निर्माणदि कार्यों में काष्ठ का प्रयोग न होता था । **वसुदेव हिण्डी** में—जोकि छठी शती का एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है—एक काष्ठशिल्प की रोचक कथा आती है । उसमें उस समय की काष्ठ-निर्माणकला पर काफी प्रकाश डाला गया है । साहित्य यदि समाज का प्रतिबिम्ब है तो मानना पड़ेगा कि मध्यकालीन तथा इतः पूर्व कुछ शताब्दियों के पूर्व, भारत में काष्ठ को कलात्मक उपकरण निर्माण में अवश्य ही प्रधान स्थान मिला था ।

भागवत में मूर्ति-निर्माण विषयक उपकरणों की जहाँ पर चर्चा की गई है, वहाँ पर काष्ठ की मूर्तियाँ बनाने का स्पष्ट विधान है। ठीक इसी प्रकार के एकाधिक उल्लेख जैन-शिल्प के ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। जैन मूर्तियाँ काष्ठ की मैंने कई जगह पर देखी हैं। आशुतोष म्युजियम (कलकत्ता विश्वविद्यालयान्तर्गत) में काष्ठ की विशाल जैन-मूर्ति है, जो विष्णुपुर (बंगाल) में प्राप्त की गई थी। नैपाल में अत्यंत सुंदर काष्ठ-मूर्तियाँ बनाने की विशिष्ट प्रथा थी। इन मूर्तियों के निर्माण में वहाँ के सौंदर्य-प्रेमी कलाकारों ने जो कमाल किया है, वह अनिर्वचनीय है। रंगीन मूर्तियों को देखकर कल्पना नहीं होती कि ये प्रतिमाएँ काष्ठ की होंगी, विशेषकर बौद्ध तंत्रों से संबंधित मूर्तियाँ मिलती हैं। यों भी नेपाल पहाड़ी प्रदेश होने के कारण काष्ठ शिल्प में काफी आगे रहा है। और भी पहाड़ी देशों में काष्ठ का उपयोग अच्छे से अच्छे रूप में होता है।

पश्चिमी भारत के विशाल भवन और देवमंदिरों के निर्माण में बहुत कुछ अंशों में पत्थरों का स्थान लकड़ीने ले रखा था । इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि विवक्षित काल में काष्ठ के ऊपर कलात्मक रेखाएँ शायद ही खचित की

सोमनाथ का मंदिर वैदिकों की दृष्टि से ऊँचा स्थान रखता है। द्वादश ज्योतिर्लिंगों में इसकी परिगणना है। शिल्प और प्राचीन तक्षणकला में अभिरुचि रखनेवालों के लिए भी मंदिर की रचनाशैली महत्वपूर्ण है। मंदिर का प्रथम निर्माण किस पद्धति से हुआ होगा, यह कहना कठिन ही नहीं प्रत्युत असंभव है। कारण उतनी प्राचीन कोई सामग्री ही न तो वहाँ उपलब्ध हुई है और न ग्रन्थस्थ उल्लेख ही वर्तमान है। परंतु बारहवीं शती के प्राप्त ऐतिहासिक उल्लेखों से निश्चित कहा जा सकता है कि परमार्हत महाराजा कुमारपाल-जीर्णोद्धार के समय सम्पूर्ण मंदिर काष्ठ का था। इसकी विशाल छत काष्ठ के ५७ मजबूत खंभों पर आधृत थी^१, वे स्तंभ खास तौर से अफ्रीका से लाये गये थे। इस मंदिर को **महमूद गजनवी** ने बुरी तरह क्षतविक्षत कर दिया था, अतः **भीमदेव** और महाराजा **कुमारपाल** ने (जैन होते हुए भी) इसका जीर्णोद्धार करवाया था—जो धार्मिक सहिष्णुता का अच्छा **उदाहरण** है। कुमारपाल ने **तारंगा हिल** पर अजितनाथजी का एक मंदिर बनवाया था, इसमें ऐसी लकड़ी का उपयोग किया गया था कि अग्नि-स्पर्श से जल निकलता था, ऐसा प्रवाद आज भी है। मैं नहीं कह सकता इसमें सत्य कितना है।

गिरिनगर-गिरनार पर भगवान नेमिनाथ का जो मंदिर है, वह पूर्वकाल में काष्ठ का ही था, पर सिद्धराज के सौराष्ट्र के दंडाधिपति **श्री सज्जन** ने जीर्णोद्धार काष्ठ चैत्य का जीर्णोद्धार करके उसके स्थान पर नवीन प्रस्तर का मंदिर, वि.सं. १९८५ में बनवाया^१। इसके निर्माण में सौराष्ट्र की त्रैवार्षिक राजकीय आय का व्यय हुआ। काष्ठ-मंदिर का निर्माण किसके द्वारा और कब हुआ होगा ? यह एक प्रश्न है। श्रीयुत **जयसुखराय पु. जोषीपुरा** ने सूचित किया है^२ कि ई. स. ६०९ में रत्न नामक श्रावक ने काष्ठ-मंदिर बनवाया। परंतु इसके पीछे ऐतिहासिक व पुष्ट प्रमाण नहीं है। अनुमान है कि वल्लभीकाल में जैनों का प्राबल्य सौराष्ट्र में सविशेष था। उसी समय काष्ठ मंदिर बना होगा।

२. इक्कारसयसहीउ पंचासीय वच्छरि ।

नेमिभूयण उद्धरित साजणि नरसेहरि ।

- रेवंगिरिरासु, कड. १

३. “गिरनारनुं गौरव”, पृ. ८१ ।

प्राचीन नीति विषयिक ग्रन्थों में काष्ठ का उपयोग चिरकाल तक बिना तैल के जलनेवाली मशाल के रूप में आया है ।

पश्चिम भारत में जैनों ने ताडपत्र के ग्रन्थों को चिरकाल तक सुरक्षित रखने में सहायक काष्ठफलकों के बाह्य भागों पर तनिक भी ध्यान न दिया, जैसा बौद्ध लोग देते थे। परंतु भीतरी भाग पर अधिक ध्यान दिया। अंतर्भाग को भली-भांति स्वच्छ कर उन पर जैन-साहित्य के कथा-विभाग से संबंधित भागों का तथा तीर्थंकर एवं उनके अधिष्ठाता-अधिष्ठातृ देवियों के चित्र अंकित किये जाते हैं। कभी-कभी ग्रंथ लेखक या लिखनेवालों द्वारा अपने आत्मीय पूज्याचार्यों के जीवन की विशिष्ट ऐतिहासिक घटना का तथा सर्वप्रिय


 જૈન ચિત્રકલા
 ૨૧૨


दूसरी पट्टिका १० इंच लम्बी ५ इंच चौड़ी । एक व्यक्ति मस्तक पर विशिष्ट प्रकार का मुकुट धारण किये, हाथ में बंदुक लिए निशाना लगा रहा है । पूर्व में कुछ वृक्ष एवं छोटे-मोटे पौधों के आकार बने हैं । दोनों लांगबन्धी धोती, पीछे की ओर तरकस, गले में धनुष-प्रत्यंचा, कानों में कुंडल (इतने चौड़े मानों कोई नाथ-संप्रदाय का साधु हो) चौड़ा ललाट । इन भावों को व्यक्त करनेवाला चित्र किसका होगा यह एक प्रश्न है ।

चांदवड (जि. नासिक) में **अहिल्याबाई होल्कर** का एक विशाल राजमहल है। इसके निर्माण में ४०० से अधिक काष्ठ-स्तंभ लगे हैं। ये स्तंभ ऐसे हैं कि जिन्हें दोनों ओर से दो व्यक्ति अंकवार में लेकर मिलना चाहें तो नहीं मिल सकते। काष्ठ-छत की कडियों पर जो नक्काशी की गयी है वह उन्नीसवीं शती की अच्छी कारीगरी के नमूनों में है। यद्यपि अहिल्याबाई का यह महल इतिहास की दृष्टि से बहुत प्राचीन नहीं कहा जा सकता, फिर भी प्राचीन भारतीय गृह-निर्माण कला की यह अंतिम कडी है। अहिल्याबाई का धर्म-प्रेम भारत-प्रसिद्ध है। जिस हाल में वह बैठा करती थी, उभय विस्तृत दीवालोंने पर दोनों ओर **रामायण और महाभारत** के चित्र महाराष्ट्र कलम में अंकित है। इन चित्रों का अध्ययन संभवतः अभी नहीं हुआ है। **टीपू सुल्तान** ने **श्रीरंगपट्टन** का संपूर्ण महल ही काष्ठ का बनवाया था। १७वीं या १८वीं शती का मानवाकार विशाल काष्ठ-सिंहासन दीवान बहादुर **राधाकृष्ण जालान (पटना)** के संग्रहालय में है। इस पर सुनहरी स्याही पोत दी गयी है। इसकी सब से बडी विशेषता है कि अग्रभाग में भगवान बुद्ध की विशिष्ट जीवन घटनाएँ एवं लामाओं के मठों की आकृतियां खचित हैं। साथ ही साथ भिन्न-

भिन्न प्रकार के उभरे हुए पुष्प प्रेक्षकों का ध्यान खींच लेते हैं। यह सिंहासन तिब्बतीय कला का अनुपम प्रतीक है। बर्मा में विस्तृत काष्ठ-निर्मित राज्य सिंहासन से शायद ही कोई अपरिचित हो।

उपर्युक्त **जालान महोदय** के संग्रह में काष्ठ की कारीगरी के बहुत-से अवशेष हैं। इनमें उडीसा के एक मंदिर का तोरण बहुत ही मनोहर है। इसे मैं उडीसा का इसलिए कहता हूँ कि तोरण में उत्कीर्णित शिखर भुवनेश्वर की शिखराकृति ही है। चौदह स्वप्नों का जमाव होने से और मध्य में कलाशाकृति स्पष्ट होने से, निस्संदेह यह किसी जैन-मंदिर का ही भाग है। **उडीसा** में अन्य प्रान्तों की अपेक्षा आज भी कला के उपकरण के रूप में काष्ठ का व्यवहार व्यापक रूप से होता है। उडीसा अर्थ की दृष्टि से भी काफी पिछड़ा हुआ प्रान्त है। फिर भी वहाँ की ग्रामीण जनता का जीवन सर्वथा कलाविहीन नहीं है। आप किसी भी देहात में चले जाइये, वहाँ जगन्नाथ के मंदिर काष्ठ के ही बने हुए मिलेंगे। इनमें विष्णु के दशावतार सहित या **भागवत** एवं **रामायण** से संबंधित चित्र लकड़ी पर खुदे हुए मिलेंगे। इन मंदिरों के बहाने आज भी जनता के कलाकारों का पोषण उडीसा में होता है। **पटना** के जैन मंदिर (बाड़े की गली) में काष्ठ पर नेमिनाथ की वरयात्रा का सुंदर अंकन है।

उपसंहार

इतने लम्बे विवेचन के बाद एक बात की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। जो काष्ठ-निर्मित वस्तुएँ प्रत्यक्ष मिलती हैं। उनकी चर्चा ऊपर की गयी है। परंतु इस प्रकार के अध्ययन में अजंता-बाघ आदि गुफाओं के भित्ति-चित्रों को नहीं भुलाना चाहिए, क्योंकि उनमें तात्कालिक जनता के आमोद, प्रमोद, उत्सव की बहुत-सी घटनाओं के साथ-साथ समाजमूलक प्रवृत्तियों में सहायक एवं भिन्न-भिन्न वाहनों के चित्र भी अंकित मिलते हैं। इनसे इतना अंदाज तो लगाया ही जा सकता है कि वे काष्ठ के ही बने होंगे। इस प्रकार प्राचीन साहित्य और क्रमिक विकसित शिल्प एवं चित्रकला को भी इसके अध्ययन में स्थान देना चाहिए। इन पंक्तियों से यह भी प्रतीत होता है कि कलात्मक भावों को व्यक्त करने के लिए सौंदर्य सम्पन्न उपकरण ही आवश्यक है ऐसी बात नहीं। कला वही है जो असुंदर वस्तु में शिवत्व की स्थापना कर सके। भारतीय कलाकारों पर यह पंक्ति सोलहों आने चरितार्थ होती है।



मध्यप्रदेश का जैन पुरातत्त्व

आज के प्रगतिशील युग में भी प्रान्तीय इतिहास व पुरातत्त्व-साधनों के प्रति, जाग्रति नहीं दीख पड़ती है और सोची जा रही है भारतीय इतिहास लिखने की बात । यह इतिहास राजा-महाराजाओं व सामन्तों का होगा । जब तक हम मानवीय 'नैतिक' इतिहास को ठीक से न समझेंगे, तब तक भारतीय नैतिकता का इतिहास नहीं लिखा जा सकता । किसी भी देश की राजनैतिक उन्नति की सूचना, उसके विस्तृत भू-भाग से मिलती है, ठीक उसी प्रकार राष्ट्र के उच्चतम नैतिक स्तर का पुष्ट व प्रामाणिक परिचय, उसके खंडहरों में फैले हुए अवशेष व कलात्मक मूर्तियों से मिलता है ।

हमारा प्राथमिक कर्तव्य यह होना चाहिए कि भारत के विभिन्न प्रान्तों का, अपने-अपने ढंग से, राजनैतिक इतिहास तो लिखा गया; पर नैतिक इतिहास के साधन अरण्य में धूप-छाँह सहकर विद्वानों की प्रतीक्षा ही करते रह गये उन्हें एकत्र करना । कुछेक गिट्टियाँ बनकर सड़कों पर बिछ गये । पुलों में ओंधे-सीधे फिट हो गये । कुछ एक विशालकाय वृक्षों कि जड़ों में ऐसे लिपट गये कि उनका सार्वजनिक अस्तित्व ही समाप्त हो गया । कुछ एक का उपयोग गृह-निर्माण-कार्य में हो गया ।

कला-साधकों द्वारा प्रदत्त जो अमूल्य सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिल गई है या बच गई है, उनकी सुधि लेनेवाला आज कौन है ? कहने के लिए तो "पुरातत्त्व विभाग" बहुत कुछ करता है; पर जो अरण्य में खंडहरों में पैदल घुमकर अवशेषों से भेंट करता है, वह अनुभव करता है कि उक्त विभाग के अधिकारियों का कार्य कागज के चिथड़ों पर या आंकड़ों से भले ही अधिक मालूम होता हो; पर वस्तुतः वह लाखों के व्यय के बाद भी, नगण्य-सा ही हो पाता है । इन पंक्तियों को मैं अपने अनुभव से लिख रहा हूँ और विनम्रता पूर्वक कहना चाहता हूँ कि आज भी अनेकों ऐसे महत्वपूर्ण कलात्मक अवशेष भारत के विभिन्न प्रान्तों में दैनंदिन विनष्ट हो रहे हैं, जिनकी समुचित रक्षा की जाय, तो हमारे पूर्वजों के अतीत के उज्ज्वल कीर्ति-स्तम्भ स्वरूप ये प्रतीक राष्ट्रिय अभिमान जाग्रत कर सकते हैं ।



इस प्रबंध में, मैं केवल मध्यप्रदेशस्थ जैनपुरातत्त्वावशेषों का ही उल्लेख करना उचित समझता हूँ। कारण कि मुझे इस प्रदेश के एक भाग पर विहार करते हुए, जैनाश्रित कला की जो सामग्री उपलब्ध हुई, उससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वर्तमान में स्थानीय प्रादेशिक कलाविकास में सापेक्षतः भले ही जैनों का योग दृष्टिगोचर न होता हो, पर आज से शताब्दियों पूर्व की कला-लता को जैनों ने इतना प्रश्रय दिया था कि सम्पूर्ण प्रदेश लता-मंडपों से आच्छादित कर दिया था। प्रचुर अर्थसम्पन्न समाज ने उच्चतम कलाकार-साधकों को आर्थिक दृष्टि से निराकुल बना, कला की बहुत उन्नति थी। जिसके साक्षी स्वरूप आज संपूर्ण हिन्दी-भाषी मध्यप्रदेश के गर्भ में से, जैनाश्रित शिल्पकला में के अत्युच्च प्रतीक उपलब्ध होते हैं।

यह आलोचित प्रान्त कई भागों में बंटा हुआ था। छठवीं शती के सुप्रसिद्ध विद्वान् वराहमिहिरने बृहत्संहिता में २८३ राज्यों के वर्णन करते समय, आग्नेय दिशा की ओर जिन राज्यों का सूचन किया है उनमें “मध्यप्रान्त” तत्कालीन राज्यों के नाम इस प्रकार दिये हैं-दक्षिणकोसल (छत्तीसगढ़), मेकल, विदर्भ, चेदि, विंध्यान्तवासी, हैहय, दशार्ण, त्रिपुरी और पुरिका। इन नामों के क्रमिक विकास को समझने में जैनसाहित्य बहुत मदद करता है। विशेषतया तीर्थवंदना परक ग्रन्थ। प्रत्येक शताब्दी में जैनतीर्थों की जो ‘वंदना’ निर्मित होती है, उनमें प्रायः सभी भू-भागों का भौगोलिक नामोल्लेख रहता है। अस्तु।

साधारणतः मध्यप्रान्त के शिलोत्कीर्ण लिपियों का जहाँ भी उल्लेख होता है, वहाँ रूपनाथ (जबलपुर) स्थित अशोक के लेख का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। उन दिनों यहाँ जैनसंस्कृति की क्या दशा थी? यह एक प्रश्न है। मौर्य-साम्राज्य जब उन्नति के शिखर पर था, जब जैनधर्म भी पूर्णतया सम्पूर्ण भारत में फैल चुका था। यद्यपि स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि मध्यप्रान्त में भी उस समय जैनसंस्कृति का सूत्रपात हो चुका था, पर मध्यप्रान्त के निकटवर्ती वितीदिश-वहदिश-विदिशा में उन दिनों जैन संस्कृति का व्यापक प्रभाव था। बल्कि बड़े-बड़े प्रभावक जैनाचार्यों की वह विहारभूमि थी। वहाँ पर बड़ी-बड़ी जिनयात्राएँ निकला करती थीं, जिनका उल्लेख आवश्यक व निशीथ चूर्णिणयाँ में मिलता है।

इस उल्लेख से मुझे तो ऐसा लगता है कि तब जैनधर्म का अस्तित्व इस भूमि पर था। इसके प्रमाणस्वरूप रामगढ़ पर्वत की गुफा के चित्र को



उपस्थित किया जा सकता है। इसका समय और **आर्यसुहस्ति** का समय लगभग एक ही है। यद्यपि उपर्युक्त अशोक के समय की नहीं है, पर यह तो समझने की बात है कि **कुणाल** के समय जब **विदिशा** जैनों का केन्द्र था, तो क्या दस-पांच वर्ष में ही उन्नत हो गया? उससे पूर्व भी तो श्रमण परंपरा के अनुयायियों का अस्तित्व अवश्य रहा होगा। अशोक के पौत्र सम्राट **सम्प्रतिने** विदेशों तक में जैनधर्म फैलाकर, अपने पितामह का अनुकरण किया। वह बौद्ध था, **सम्प्रति जैन**।

मध्यप्रदेश में जैनसंस्कृति का क्रमिक विकास कैसे हुआ, इसकी सूचना तो हमें पुरातन अवशेषों से मिल जाती है, परंतु प्राथमिक स्वरूप को स्पष्ट करनेवाले साधन बहुत स्पष्ट नहीं हैं। अनुमान से काम लेना पड़ रहा है। प्रमाण न मिलने का एक कारण, मेरी समझ में यह आता है कि जिन नामों से मध्यप्रदेश के भाग आज पहचाने जाते हैं, वे नाम उन दिनों नहीं थे। प्राचीन जो नाम मिलते हैं, उन प्रदेशों में आज इतना प्रान्तीय विभाजन हो गया है कि जब तक हम समीपवर्ती भूभागस्थ अवशेषों व सामाजिक रीति-रिवाज व साहित्यिक परंपरा का गहन अध्ययन न कर लें, तब तक निश्चित तथ्य तक पहुँचना अति कठिन हो जाता है। मेरा तो निश्चित विश्वास है कि जब तक प्रान्तीय विद्वान् **मालव**, **विन्ध्य**, **महाराष्ट्र**, **ओरिसा** और **मद्रास** प्रान्त के, मध्यप्रदेश से संबंधित भूसंस्कृति और ऐतिहासिक साधनों का समुचित अध्ययन नहीं कर लेते, तब तक प्रान्तीय इतिहास का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेंगे। जैसा कि मैं ऊपर सूचित कर चुका हूँ कि हमारा कर्तव्य है मानवोन्नायक इतिहास की गवेषणा का, नैतिकता और परंपरा का। शासन अपनी राजकीय सुविधा के लिए भले ही प्रदेशों का विभाजन कर डाले, पर सांस्कृतिक विभाजन कठिन ही नहीं, असंभव है।

आज हम जिस भू-भाग को मध्यप्रदेश के नाम से पहचानते हैं, वह पूर्वकाल में कई भागों में कई नामों से विभाजित था। यह नाम तो आंग्ल शासन की देन है। आज भी **महाकोसल** और **विदर्भ** दो भाग हैं। महाकोसल को प्राचीन साहित्य में **उत्तरकोसल** कहा गया है। **रामायण**, **महाभारत** और **पुराणादि** ग्रन्थों में इस प्रान्त के विभिन्न राज्यों के विवरण प्राप्त होते हैं। जैन कथात्मक व आगमिक साहित्य में कोसलदेश का महत्व उसकी प्रगति पर प्रकाश डालनेवाले उल्लेख उपलब्ध होते हैं। ये उल्लेख उस समय के हैं जब “कोसल” अविभाजित था। बाद में उत्तरकोसल और दक्षिणकोसल, दो भाग



हो गये । उत्तर की राजधानी अयोध्या और दक्षिण की राजधानी मध्यप्रदेश में थी । गुप्तताम्रपत्रों से इसका समर्थन होता है ।

मौर्यकाल के बाद शुंगकाल में श्रमण परंपरा की दोनों शाखाओं का विकास सीमित हो गया था, इसका प्रभाव मध्यप्रदेश पर भी पड़ा । बाकाटक शैव थे । उनके शासनकाल में शैव-सम्प्रदाय के विभिन्न स्वरूपों को मूर्त-रूप मिला । उनका शासन आधुनिक मध्यप्रान्त तक था, परंतु विपक्षित विषय पर प्रकाश डालनेवाले साधन, इस युग के नहीं मिलते । हाँ, गुप्त-कालीन अवशेषों पर उनका कला-प्रभाव स्पष्ट है, जो स्वाभाविक है ।

गुप्तकाल भारत का स्वर्ण युग माना जाता है । पर मध्यप्रान्त में इसकी कला के प्रतीक अल्प मिलते हैं । जबलपुर जिले के ‘तिगवाँ’ ग्राम में एक मंदिर है जिसे वास्तुशास्त्र के सिद्धांतों के आधार पर हम गुप्तकालीन कह सकते हैं । इस मंदिर की दीवाल पर भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति उत्कीर्णित है । ८वीं सदी के लगभग कन्नोज का एक यात्री “उमदेव” नामक आया उसने मंदिर बनवाया, जैसा शिलोत्कीर्ण लिपि से अवगत होता है । मध्यप्रान्तीय इतिहास शोधक श्री प्रयागदत्तजी शुक्ल का मानना है कि पूर्व यह जैनमंदिर था, पर बाद में सनातनी मंदिर बनवाया गया^१ । आज भी तिगवाँ में कई जैनमूर्तियाँ पाई जाती हैं । गुप्तकाल में विन्ध्यप्रान्त में भी जैनधर्म की स्थिति अच्छी थी । ओरिसा व मालव में भी जैनश्रमणों का अप्रतिबद्ध विहार जारी था । उदयगिरि (भेलसा) की एक गुफा में पार्श्वनाथ की एक मूर्ति उत्कीर्णित थी, पर अब फन भर है । यह गुप्तयुगीन व लेखयुक्त है^२ । इस काल में बुन्देलखंड में जैन-आचार्य हरिगुप्त हुए, जो हूण नेता तोरमाण के गुरु थे ।

वाकाटकों का शासन बुन्देलखंड से खानदेश तक था । चौलुक्यों ने इनकी जड़ साफ की । वे इतने प्रबल थे कि पुलकेशी (चौलुक्य) ने हर्ष को पराजित कर, नर्मदा के दक्षिण में आने से रोका था । चौलुक्यों पर जैनसंस्कृति का प्रभाव था । इसका समर्थन तात्कालिक साहित्य व लिपियाँ करती हैं । आगे चलकर चौलुक्य और कलचुरियों का पारिवारिक संबंध भी हो गया था ।

भद्रावती का पाण्डु-सोमवंश बौद्ध था, उस समय वहाँ जैन-धर्म का अस्तित्व निश्चित रूप से था । वहाँ बौद्धमूर्तियों के साथ जैन प्रतिमाएँ भी उसी

१. “मध्यप्रान्त के भिन्न-भिन्न शासकों का शिल्पकला विषयक प्रेम” शीर्षक निबंध ।

२. डॉ. फ्लीट कार्पस इन्स्क्रिप्सन इण्डिकेरम, भा. ३ ।



समय की अनेक पाई जाती है। उनमें से कुछेक पर “देवघर्मोऽयं” व बौद्धमुद्रालेख उसी लिपि में पाया जाता है। इस ओर लिंगायत पर्याप्त पाये जाते हैं, जो जैन के अवशेष हैं। शैवों के अत्याचारों ने इन्हें धर्म-परिवर्तनार्थ बाध्य किया था।

ई. सन् आठवीं शती के बाद की जैनपुरातत्त्व की पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। इतने में कलचुरि वंश का उदय होता है। इस समय शिला व मूर्तिकला उत्कर्ष थी। वे इसके न केवल प्रेमी ही रहे, पर उन्नायक भी थे। इस काल की जैन प्रतिमाएँ आज भी दर्झनों पाई जाती हैं और खंडहर भी। इस पर मैं अन्यत्र विचार कर चुका हूँ। अतः यहाँ पिष्टपेषण व्यर्थ है।

कलचुरि काल में महाकोसल का पूरा भू-भाग जैन-संस्कृति से परिव्याप्त था। विदर्भ में भी यही उत्कर्ष था। यहाँ तक कि गुजरात जैसे दूर प्रान्त के जैनाचार्यों को मूर्ति व मंदिर प्रतिष्ठार्थ वहाँ आना पड़ता था। नवांगी-वृत्तिकार से भिन्न, मलधारी श्रीअभयदेवसूरिने विदर्भ में आकर अन्तरिक्षपार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा वि.सं. ११४२ माघ शुदि ५ रविवार को की। अचलपुर के राजा ईल^१ या एल जैन-धर्मानुयायी था। उसने पूजार्थ श्रीपुर-सिरपुर गाँव भी चढ़ाया था। अचलपुर उन दिनों जैन संस्कृति का केन्द्र था। धनपालने अपनी “धम्मपरिकखा” यहाँ पर वि. सं. १०४४ में समाप्त की। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने भी अपने व्याकरण में ‘अचलपुर’ का प्रासंगिक उल्लेख इस प्रकार किया है, जो इसकी आन्तर्प्रान्तीय प्रतिष्ठा का सूचक था-

“अचलपुरे चलोः अचलपुरे चकारलकारयोर्व्यत्ययो भवति अचलपुरं ॥”

-२,११८।

आचार्य जयसिंहसूरि (९१५) ने अपनी “धर्मोपदेशमाला” वृत्ति में अचलपुर-अचलपुर में अरिकेसरी राजा का उल्लेख इस प्रकार किया है-

“अचलपुरे दिगम्बरभक्तो ‘अरिकेसरी’ राया । तेणय काराविओ महा पासाओं परट्ठावियाणि तित्थयर-बिम्बाणि ॥ (पृ.१७७) ।” अरिकेसरी राजा कौन थे और कब हुए ? अज्ञात है। विदर्भ के इतिहास में अभीतक तो ईल राजा का ही पता चला है, जो परम जैन था। अरिकेसरी का

१. ईल राजाने अभयदेवसूरि द्वारा मुक्तागिरि तीर्थ पर भी पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवायी थी, शीलविजयजीने इस तीर्थ की यात्रा की थी।

काल अज्ञात होते हुए भी, इतना कहा जा सकता है कि ९१५ पूर्व ही हुआ है। इसी समय में शिलाहार वंश में भी इसी नाम का राजा हुआ है^१। अचलपुर सातवीं शताब्दी का एक ताम्रपत्र भी उपलब्ध हो चुका है। मुझे तो ऐसा लगता है कि अरिकेसरी नाम न होकर, विशेषण मात्र है, और यह राजा पौराणिक नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो संप्रदाय सूचक विशेषण मिलता।

१२वीं शताब्दी के पूर्व समीपवर्ती प्रदेशों में, मुझे 'विन्ध्य' का ही निजी अनुभव है, कि वह जैन-स्थापत्य से समृद्ध था। इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उभयप्रान्तीय कलाकृतियाँ पारस्परिक इतनी प्रभावित हैं कि उनका पार्थक्य कठिन है।

कलचुरि व गोंडवंश कालीन जैन-अवशेष मध्यप्रदेश में बिखरे पड़े हैं जिनके संरक्षण की कुछ भी व्यवस्था नहीं है। कहाँ-कहाँ पर है, इसका पता, पुरातत्त्व विभाग को भी शायद ही हो, ऐसी स्थिति में उनके अध्ययन पर कौन ध्यान दे ? पर अब समय आ गया है कि इन समुचित अन्वेषण व संरक्षण का, शासन की ओर से प्रबंध होना चाहिए, क्योंकि यदि कोई सांस्कृतिक भावना से प्रेरित होकर कार्य करता भी है, तो शासन को इस पवित्रतम कार्य में भी 'राजनीति' की गंध आती है।

प्रस्तुत प्रबंध में मैंने, अपनी पैदल-यात्रा विहार में जिन जैन-अवशेषों को देखा, यथामति उनका अध्ययन कर सका, उन्हीं का उल्लेख करना समुचित समझा, पर यह प्रयत्न भी अपूर्ण ही है, कारण कि अभी भी बहुत-से खंडहर हैं, जहाँ जैन-पुरातनावशेष विद्यमान हैं, कइयों के वैयक्तिक अधिकार में भी हैं, उनका उल्लेख मैंने इसमें नहीं किया है। कुछेक अवशेषों का परिचय या सूचनात्मक उल्लेख प्रान्त के प्रतिष्ठित विद्वान् स्व. डॉ. हीरालाल व स्व. गोकुलप्रसाद और उनकी परंपरा के अनुसार, हिन्दी गजेटियर तैयार करनेवाले महानुभावों ने अपने-अपने ग्रन्थों^२ में किया है। पर अब उनका पुनर्निरीक्षण

१. डॉ. बी. ए. सालेत्तरे., दि डेट ऑफ दि कथाकोष, जैन एण्टिक्वेरी, वॉ. ४-अं. ३।

२. वे ग्रन्थ ये हैं-दमोह-दीपक, जबलपुर-ज्योति, सागर-सरोज, दुर्ग-दर्पण, नरसिंह-नयन, निमाड-निशाकर, विलासपुर-वैभव, चाँदा-चन्द्रिका, सिवनी-सरोजिनी, मंडला-मयूख, झाडखंड-झनकार, अष्टराज-अंभोज, होशंगाबाद-हुंकार, इन ग्रन्थों में मध्यप्रान्त के इतिहास की सामग्री भरी पड़ी हैं। पर अब ये ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। निर्देशित पुरातत्त्व सामग्री का पुनःनिरीक्षण अपेक्षित हैं।



वांछनीय है। क्या मालूम वे अवशेष आज वहाँ है या नहीं।

रोहणखेड

यह ग्राम विदर्भान्तर्गत धामणगाँव से खामगाँव के मार्ग पर ८वें मील पर अवस्थित है। तत्रस्थ अवशेषावलोकन से ज्ञात होता है कि किसी समय यह उन्नतिशील नगर रहा होगा। संस्कृत साहित्य व भारतीय ज्योतिषशास्त्र के रचयिता, कुछ विद्वानों को जन्म देने का सौभाग्य इसे प्राप्त था। अपभ्रंश साहित्य के महान् कवि **पुष्पदंत** इसी नगर के, होने की कल्पना **श्रीनाथूरामजी प्रेमी** ने की है। महिम्न^१-स्तोत्र के निर्माता और अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदंत एक ही व्यक्ति माने जाते हैं। एतदर्थ प्रबल व पुष्ट प्रमाण अपेक्षित है। यहाँ के बालाजी के नवीन मंदिर के सामने **रामा पटेल** के खेत में कुछ पुरातन भग्नावशेष हैं, जिनमें एक पद्मासनस्थ, ३ फीट ऊँची प्रतिमा भी है। सौभाग्य से यह अखंडित है। कला की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण न होते हुए भी, वहाँ जैनधर्म के अस्तित्व की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। पार्श्ववर्ती पुरातन स्तूपाकार स्तम्भों पर भी जैन प्रतिमाएँ खुदी हुई हैं। कुम्भकलश, नन्द्यार्वर आदि चिह्नों से विदित होता है कि निस्सन्देह तथाकथित सभी अवशेष जैनमंदिर के ही हैं। तन्निकटवर्ती शैव-मंदिर में अंबिका, चक्रेश्वरी आदि जैनदेवियों की प्रतिमाएँ बहुत ही सुंदर, किन्तु अत्यंत अरक्षित अवस्था में विद्यमान हैं। इनकी रचना-शैली से जान पड़ता है कि वे बारहवीं शदी के अवशेष हैं। नगर के दक्षिण और पश्चिम की ओर कुछ जैन-मूर्तियों के अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। इनका खंडन साम्प्रदायिक विद्वेषजनित वृत्ति से प्रेरित हुआ है। मेरे सम्मुख ही एक सन्यासीने, जो वहाँ के बालाजी के मंदिर में रहते थे और मुझे पुरातनावशेष

१. जैन-साहित्य के प्रणेताओं ने भारतीय साहित्य के विकास में जिस उदारता का परिचय दिया है, वह उल्लेखनीय है। वे जन-विषयक उत्प्रेरक सक्रिय योजनाओं में सर्वांग स्थान रखते थे। जैनतर उच्चतम सभी विषयों के मूल्यवान् ग्रन्थों पर अपनी आलोचनात्मक वृत्तियाँ व व्याख्याएँ निर्माण कर, मानव समुदाय के सांस्कृतिक स्तर परिपोषणार्थ और उच्च भावनाओं से अनुप्रमाणित कर जैनधर्म की महती उदारता का परिचय दिया है। अन्य स्तुति, स्तोत्रों की भांति महिम्न स्तोत्र की पादपूर्ति जैनाचार्यों ने विभिन्न प्रकार करके भारतीय पादपूर्ति विषयक साहित्य में अभिवृद्धि की है। साथ ही ऋषभदेव महिम्न और महावीर महिम्न स्तोत्रों की स्वतंत्र रचना कर उन पर वृत्तियाँ भी निर्मित कर, मानव हृदय को भक्तिसिक्त बनाने का प्रयास किया है। इन टीकाओं में अंचलगच्छीय श्री ऋषिवर्द्धनसूरि निर्मित टीका अत्यन्त मूल्यवान् है, इसकी सुंदर प्रति जर्मन स्थित बर्लिन विश्वविद्यालय में सुरक्षित थी।



बताने के लिए मेरे साथ चले थे, लट्ट से दक्षिण की खड्गासन जैनप्रतिमा के मस्तक को धड से अलग कर, प्रसन्न हुए। यहाँ पर मुझे अनुभव हुआ कि मूर्ति-भंजन या पुरातन आर्य-कला-कृतियों के खंडित होने की कल्पना जब हम करते हैं; तब अक्सर सभी लोग मुसलमानों को बदनाम करते हैं, परंतु यह तो भुला ही दिया है कि हमारी कलात्मक संपत्ति का नाश जितना म्लेच्छों द्वारा नहीं हुआ, उससे भी कहीं अधिक हमारी ही धार्मिक असहिष्णुवृत्ति द्वारा हुआ है।

कारंजा

अकोला जिले में है। श्वेताम्बर जैन तीर्थ^१-मालाओं में इसका उल्लेख

१. एलजपुरि कारंजा नयर धनवन्त लोक वसि तिहाँ सभर,
जिनमंदिर ज्योति जागतां देव दिगम्बर करी राजता ॥ २१ ॥
- तिहाँ गच्छनायक दीगम्बरा छत्र सुखासन चामराधरा,
श्रावक ते सुद्धधरमीं वसिं बहुधन अगणित तेहनि अछि ॥ २२ ॥
- वघेरवालवर्शिं सिणगार नामि संघवी भोज उदार,
समकितधारी जिननि नमिं अवर धरम स्यूं मन नवि रमिं ॥ २३ ॥
- तेहनें कुले उत्तम आचार रात्रि भोजन नो परिहार,
नित्यइं पूजा महोच्छव करि मोती चोक जिन आगलि भरि ॥ २४ ॥
- पंचामृत अभिषेकिं घणीं नयणे दीठी ते म्हि भणी,
गुरु साहमी पुस्तक भंडार तेहनी पूजा करि उदार ॥ २५ ॥
- संघ प्रतिष्ठा नि प्रासाद बहु तीरथ ते करे आल्हाद,
करणाटक कुंकण गुजराति पूरब मालव नि मेवाति ॥ २६ ॥
- द्रव्यतणा मोटा व्यापार सदावर्त पूजा विवहार,
तप जप करिया महोच्छव घणा करि जिनशासन सोहामणा ॥ २७ ॥
- संबत साति सतरि सही गढ गिरिनारि जात्रा कही,
लाष एक तिहांवावरी ने धन मनाथनी पूजा करी ॥ २८ ॥
- हेममुद्रा संघवच्छल कीओ लाछितणो लाहो तिहां लीओ,
परबिं पाई सीआलिं दूध ईषुरस ऊंनालिं सुद्ध ॥ २९ ॥
- एलाफूलिं वास्यां नीर पंथीजननिं पाई धीर,
पंचामृत पकवाने भरी पोषिं पात्रज भगति करी ॥ ३० ॥
- भोज संघवी सुत सोहांमणा दाता विनइं ज्ञानी घणा,
अर्जुन संघवी पदारथनाथ 'शीतल संघवी' करि शुभ काम ॥ ३१ ॥

-प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, भाग १, पृ. ११४-११५



बड़े गौरव के साथ किया गया है। यहाँ से कुछ दूर एक देवी-मंदिर के पास गाडीवानों का पडाव है, वहाँ जो स्तम्भांश बिखरे पड़े हैं, उन पर खड्गासन व पद्मासन में बहुत सी दिगम्बर-जैन-मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। कुछ स्तंभों को तो लोगोंने मंदिर की पैडी में लगा दिया है।

नांदगाँव

यह अमरावती से नागपुर जानेवाले मार्ग पर १० वें मील पर, मार्ग से कुछ दूर अवस्थित है। यहाँ दिगम्बर-जैन-मंदिर स्थित धातु प्रतिमाओं के लेख लेते समय एक अत्यंत महत्वपूर्ण लेख दृष्टिगोचर हुआ जो कारंजा के इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है, जो इस प्रकार है-

स्वस्ति श्री संवत् १५४१ वर्षे शाके १४९१ (१४०६) प्रवर्तमाने कोधीता संवत्सरे उत्तरगणे.....मासे शुक्ल पक्षे ६ दिने शुक्रवासरे स्वातिनक्षत्रे.....योगे २ कणे मि. लगने श्रीबराट् (? ड़) देशे कारंजानगरे श्री श्रीसुपार्श्वनाथ चैत्यालये श्रीम (? भू) लसंधे सेनगणे पुष्करगच्छे श्रीमत्-वृधसेन-गणधराचार्ये पारंपर्योद्गत श्रीदेववीर-भट्टाचार्याः ॥ तेषां पट्टे श्रीमद्भाय राजगुरु वसुन्धराचार्य महावादादीश्वर रायवादिर्पिवा महासकलविद्वज्जन सार्ध (व्व) भौम साभिमान-वादीभर्षिहाभिनय त्रैः.....विश्वसोमसेनभट्टार्कणामुपदेशात् श्रीवधेरवाल जाति खडवाड गोत्रे अष्टोत्तरशतमहोत्तंगशिखरबद्धप्रासादमुद्धरणधीर त्रिलोक श्री जिन महाबिम्बोद्धारक-अष्टोत्तरशत श्रीजिनमहाप्रतिष्ठाकारक अष्टादशस्थाने अष्टादशकोटिश्रुतभंडारसंस्थापक, सवालक्षबन्दीमोक्ष-कारक, मेदपादेशे चित्रकूटनगरे श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्रचैत्यालयस्थाने निज-भुजोपार्जितवित्तवलेन श्रीकीर्तिस्तंभ आरोपक साह जिजा सुत सा. पुन सिंहस्य.....साहवेउ तस्यभार्या पुई तुकार तयोः पुत्रश्चत्वारः तेषु प्रथम पुत्र साह लखमण..... चैत्यालयोद्धरणधीरेण निजभुजोपार्जित-वित्तानुसारे महायात्रा प्रतिष्ठा तीर्थ चेत्र..... ।

प्राचीन दिगंबर जैन-साहित्य में कारंजा का स्थान अत्यंत उच्च है। सत्रहवीं सदी में आर्थिक दृष्टि से बरार में कारंजा का स्थान प्रधान माना जाता था। उपर्युक्त प्रतिमा-लेख से स्पष्ट है कि उस समय बड़े-बड़े विद्वान् वहाँ पर निवास करते थे भट्टारक विश्वसोमसेन उस समय के जैन-समाज में काफी प्रसिद्ध व्यक्ति मालूम पड़ते हैं, क्योंकि उनकी प्रतिष्ठा के दो लेख नागरा की दिगम्बर



जैन-मूर्तियों पर उत्कीर्णित है। संभव है, उस समय उनका आगमन वहाँ पर हुआ हो; क्योंकि उन्होंने १०८ प्रतिष्ठाएँ भिन्न-भिन्न स्थानों पर करवाई थीं। आपके ऐतिहासिक जीवन पट पर प्रकाश डालनेवाली 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' और 'करकण्डु-चरित्र' की हस्तलिखित प्रतियों की पुष्पिकाएँ हमारे संग्रह में हैं। प्रशस्ति से मालूम होता है कि आप प्रतिभासंपन्न ग्रन्थकार भी थे। आपने स्वामी कुंदकुन्दाचार्य विरचित 'समय सार' पर वृत्ति एवं 'अमरकोष' की हिन्दी में टीकाएँ की थीं।

आरबी के सैतवालों के जैन-मंदिर में एक अत्यंत कलापूर्ण और मध्यकालीन धातु-प्रतिमा अवस्थित है। समस्त प्रान्त में उपलब्ध जैन-धातु-प्रतिमाओं में इसका बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी कला अपने ढंग की और सर्वथा स्वतंत्र होते हुए भी चित्ताकर्षक ही नहीं, विचारोत्तेजक भी है। मूल प्रतिमा अर्द्ध-पद्मासन लगाये, कमलासन-स्थित है। पश्चात् भाग में स्पष्टरूपेण तकिया बनाया गया है। जैन-मूर्ति में तकिये का होना एक आश्चर्य है, क्योंकि इस प्रकार के उपकरण के उल्लेख एवं उदाहरण हमारे देखने में नहीं आये। बौद्धों में इसकी प्रथा थी। मूर्ति का मुखमंडल सुंदर एवं सजीवता का परिचायक है। स्कन्ध-प्रदेश एवं शरीर-विन्यास तो उत्तम कलाकार की कला के शुद्धतम भावों का ही ज्वलंत प्रतीक है।

कलाकार का हृदय और मस्तिष्क दोनों ही इस अनुपम कृति के निर्माण में पूर्णतः संलग्न थे। तकिये के उभय पक्ष में खड़े ग्रास बहुत ही सुंदर व्यक्त किये गये हैं, जो अवान्तर प्रतिमाओं के स्कन्ध पर **पंजा जमाये** हुए हैं। ऊपर मगरमच्छ की मुखाकृतियाँ इतने सुंदर ढंग से अंकित हैं कि एक-एक दांत और जिह्वा की रेखाएँ एवं चक्षु स्थान पर पड़ी हुई सिकुड़न स्पष्ट हैं। मूल प्रतिमा के ऊपरी भाग में छत्र-त्रय उल्लिखित है। इनके चारों ओर पीपल की पत्तियाँ स्पष्ट अंकित हैं। छत्र कमलपुष्प की याद दिलाये बिना नहीं रहते। प्रतिमा में चौबीस तीर्थंकरों की लघु प्रतिमाएँ पायी जाती हैं, जो सभी अर्द्ध-पद्मासनस्थ हैं। मूल प्रतिमा के स्कन्ध-प्रदेश के ऊपरी भाग में चामरयुक्त उभय परिचारक विशेष प्रकार की भावभंगिमा व्यक्त करते हुए खड़े हैं। मुखमंडल भिन्न-भिन्न भावों का व्यक्तिकरण करता है। मस्तक पर मुकुट इतना सुंदर और छवि का द्योतक है, मानो अजन्ता के ही देव यहाँ अवतीर्ण हो गये हों। अंगुलियों का विन्यास अतीव आकर्षक है। गन्धर्व के चरण-भाग यद्यपि अग्र भाग से दबे हुए हैं; पर प्रतिमा के पश्चात् भाग से विदित होता है कि कदली वृक्षतुल्य



चरण-रचना इतनी सूक्ष्मता से की गई है कि रोमराजि के छुद्र तक का आभास मिले बिना नहीं रहता ।

मूल प्रतिमा के उभय चरण-भाग में क्रमशः दाहिने देव और बायें देव और देवी की प्रतिमाएँ बनी हुई हैं, जो दोनों चतुर्भुज एवं अर्द्धपद्मासनस्थ हैं । देव के चारों हाथों में आयुध आदि का बाहुल्य है । विविध प्रकार के आभूषणों से विभूषित होते हुए भी मुखमंडल पर वृद्धत्वसूचक एवं धृणा के भाव न-जाने क्यों व्यक्त किये गये हैं । मस्तिष्क पटल पर भृकुटी चढ़ी हुई है । देव के चरण शरीर की अपेक्षा काफी छोटे और स्थूल हैं । देवी की चतुर्भुजी प्रतिमा अर्द्ध-पद्मासनस्थ है । दाहिने हाथ में बीजपूरक बिजौरा एवं उर में शंखाकृतित्वत् आयुध का आभास मिलता है । बायें हाथ से गदा का चिह्न और दूसरा हाथ आशीर्वादात्मक मुद्रा व्यक्त कर रहा है । देवी के विभिन्न अंगों पर आवश्यक आभूषण और भी शोभा में अभिवृद्धि कर रहे हैं । इस प्रकार की चतुर्भुजी देवी की प्रतिमा देखकर मूर्ति-विज्ञान के कुछ हमारे परिचित विद्वानों ने धारणा बना ली थी कि इस प्रतिमा को तारादेवी की प्रतिमा ही क्यों न माना जाय, परंतु गवेषणा करने पर विदित हुआ कि बौद्ध-तांत्रिक-साहित्य में तारादेवी का जैसा वर्णन उल्लिखित है, उस वर्णन का आंशिक रूप भी प्रस्तुत प्रतिमा में चरितार्थ नहीं होता ।

प्रज्ञापारमिता की एक प्रतिमा हमारे अवलोकन में अवश्य आई है, पर उसका इससे कोई संबंध नहीं । दूसरे जैन-परिकर में इस देवी को कहीं भी कोई स्थान नहीं मिला है । प्रतिमा के निम्न भाग में चारों ओर ग्रास बने हैं । **सारी प्रतिमा चार खम्भों पर स्थित है ।** संपूर्ण प्रतिमा का, ढांचा एक मंदिर के शिखर को दृष्टि में ला देता है । उपर्युक्त विभाग में भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ उत्कीर्णित हैं, जो तत्कालीन भारतीय संस्कृति के विशुद्धतम स्वरूप को बड़े ही सुंदर ढंग से व्यक्त करती हैं । यद्यपि प्रतिमा का निर्माण-काल स्पष्टरूप से व्यक्त करनेवाला कोई लेख विद्यमान नहीं है; पर इस मूर्ति की कला से हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ये संभवतः १०वीं से १२वीं शती की निर्मित है । मूर्ति उत्तर-भारतीय मूर्तिकला से प्रभावित होते हुए भी मध्यप्रान्तीय विशेषताओं से युक्त है ।

भद्रावती का मध्यप्रान्त के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है । पुराणादि प्राचीन साहित्य में इसकी बड़ी महिमा गाई गई है । यहाँ के बहुसंख्यक भग्नावशेषों को देखने से मालूम होता है कि जैनों और बौद्धों का



यहाँ पर एक समय पूर्ण प्रभाव था। यहाँ के क्षत्रिय^१ राजा बौद्ध धर्म को मानते थे, जैसा कि तत्रस्थ **बीजासन-गुफा** के लेख से विदित होता है। यहाँ पर जैन-धर्म के प्राचीन अवशेष भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं। इस समय मंदिर में मूलनायक पार्श्वनाथ प्रभु की जो प्रतिमा है, वह भी यहीं से प्राप्त हुई है। सुना जाता है कि एक अंग्रेज को स्वप्न में यह मूर्ति दिखी और बाद में प्रकट हुई। उस अंग्रेज को उपर्युक्त मूर्ति पर अत्यन्त श्रद्धा थी^२। यहाँ के अंबिकादेवी के मंदिर में अनेक जैन प्रतिमाएँ और पुरातन जैन-मंदिरों के त्रुटित स्तम्भ अस्त-व्यस्त पड़े हैं।

कहा जाता है कि ये मूर्तियाँ वहाँ से चार फ्लाँग दूर एक टीले से लाकर यहाँ रखी गई हैं। सूक्ष्म रीति से देखा जाय तो स्पष्ट मालूम होगा कि पहले यह जैन मंदिर था। मंदिर के तोरण में १४ महास्वप्न और कुम्भ कलशादि बने हुए हैं। भद्रावती से १॥ मील दूर जो बिजासन गुफा है, उसके बरामदे में भी चार प्राचीन जैन-मूर्तियाँ और एक सरस्वती की मूर्ति अवस्थित है। भद्रनाग के मंदिर के स्तंभों पर भी जैन-मूर्तियाँ बनी हुई हैं। इस प्रकार भद्रावती में ५० से ऊपर १०वीं से लेकर १३वीं शती की मूर्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनकी मूर्ति विज्ञानशास्त्री की दृष्टि से विशेष महत्व है।

पौनार

यह ग्राम वर्धा से नागपुर जानेवाली सड़क पर, आठवें मील पर है। यह वहीं ग्राम है, जहाँ सर्वप्रथम आचार्य **विनोबा भावे** ने **महात्मा गांधी** द्वारा प्रचारित व्यक्तिगत सत्याग्रह किया था। एक समय यह ग्राम वाकाटक-साम्राज्य की राजधानी था। कहा जाता है कि महाराज प्रवरसेन का बसाया हुआ प्रवरपुर, यही पवनार है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कथा में आंशिक सत्य अवश्य है, क्योंकि महाराज प्रवरसेन का जो दानपत्र यहाँ प्राप्त हुआ है, उसके अनुसार यहाँ के पुरातन भग्नावशेषों में वाकाटक साम्राज्य का कुछ असर अवश्य रहा है। वहाँ पर चार विशालकाय जैन प्रतिमाएँ एवं खंडहरों में जैन धर्मोपयोगी पट्टक हमने स्वयं देखे हैं। साथ ही नदी के तीर पर कुछ ऐसे स्तम्भ भी पाये गये हैं, जिन पर कलश व स्वस्तिक उत्कीर्णित हैं। यहाँ पर

१. विशेष के लिए देखें “बौद्ध पुरातत्त्व” शीर्षक मेरा निबंध।

२. O, Middletom-Stewart, “The Dream God” The Times of India illustrated weekly, July 6, 1924, P. 10-12



१४ वीं शताब्दी का एक लेख भी मिला है, जो दिगम्बर जैन इतिहास की दृष्टि से मूल्यवान है ।

भट्टारक पद्मनाभ का उल्लेख इसी लेख में है । ई. स. १९४५ में जब हमारा चातुर्मास रायपुर में था, तब उस मूल लेख को प्राप्त करने का प्रयास हमने किया था । पर मालूम हुआ कि अनेक पाषाणों के साथ वह भी किसी मकान की दीवार में लगा दिया गया है । इसकी एक प्रतिलिपि अवश्य हमारे पास सुरक्षित है । अब भी कभी-कभी यहाँ पर प्राचीन सिक्के मिल जाते हैं ।

केलझर-पौनार से १० मील दूर नागपुर की ओर है प्राचीन गणपति मंदिर होने से यह एक छोटा-सा तीर्थस्थान सा हो गया है । कहा जाता है कि यह वही मंदिर है जिसकी पूजा नागपुर के भोंसले जब यहाँ रहते थे, किया करते थे, यह मंदिर किले में ही है । किले में वापिका के पास दिगम्बर-श्वेताम्बर प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं । कला की दृष्टि से अत्यन्त साधारण हैं । तत्रस्थित कतिपय स्तम्भों में से एक स्तम्भ पर भगवान का समवसरण बहुत ही सुंदर कलात्मक ढंग से खुदा हुआ है । हमने पुरातत्त्व अवशेषों में स्तम्भों पर कहीं भी इतना सुंदर समवसरण खुदा नहीं देखा । स्तम्भों के खंडित होते हुए भी मूल वस्तु यथावत् सुरक्षित है । अफसोस इसी बात का है कि इन स्तम्भों पर गोबर के कण्डे सुखाये जाते हैं ।

सिन्दी-केलझर से ७ मील दूर है । यहां दिगम्बर जैन-मंदिर में ३६ इंच उंची पद्मावती देवी की एक सुंदर मनोहर प्राचीन प्रतिमा सुरक्षित है । मूर्ति सर्वथा अखंडित है । मस्तक पर भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है । इस मूर्ति की कला असामान्य है । शरीर का कोई भी अवयव ऐसा नहीं, जहाँ पर सूक्ष्म कोरणी न की गई हो । प्राचीन आभूषणों की दृष्टि से इस मूर्ति का विशेष महत्व है । पूरे प्रान्त के भ्रमण में ऐसी मनोहर देवी की मूर्ति हमारे अवलोकन में नहीं आई ।

नागपुर के अद्भुतालय में प्राचीन जैन-तीर्थंकर और देव-देवियों की सुंदर मूर्तियाँ सुरक्षित हैं । अधिकतर प्रतिमाएँ कलचुरी-कला से प्रभावित मालूम होती हैं । सिवनी के दिगम्बर जैन मंदिर में १३वीं शती की लगभग ७ मूर्तियाँ हैं । ये घुनसौर से लाई गई हैं । दलसागर के घाटों में भी सुंदर जैनमूर्तियाँ जड़ दी गई हैं । यहाँ के प्रसिद्ध मुत्सदी **श्रावक लक्ष्मीचन्द्रजी** भूरा के पौत्र के संग्रह में एक खंडित स्फटिक रत्न की जैन-प्रतिमा है । सिवनी से



जबलपुर रोड पर २०वें मील पर छपरा के दिगम्बर जैन-मंदिर में ११वीं शती की एक जैन मूर्ति विराजमान है। इस मूर्ति को देखकर हठात् कहना पडता है, मानो कला ही मूर्ति-रूप में अवतरित हुई है। मूर्ति का परिकर अतीव आकर्षक है। दोनों ओर खड्गासनस्थ कर्ण-निकटवर्ती देवियाँ और निम्न-भाग में कुछ परिचारिकाएँ उत्कीर्णित है। मूर्ति का सिंहासन खंडित है। श्याम पाषाण पर इस प्रकार की मूर्तियाँ प्रान्त में बहुत कम पाई जाती है। कहा जाता है कि यह मूर्ति किसी समय घुनसौर से लाई गई थी।

जबलपुर का मध्यप्रदेश के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। शिलान्तर्गत लेखों में इसका “जाबालिपत्तन” नाम प्रसिद्ध है। प्राचीन राजधानी गढा या कर्णवेल थी। यहाँ ९०० वर्ष पूर्व के खंडहर वर्तमान है। कर्णदेव कलचुरिने इसे बसाया था। ११वीं शताब्दी में मध्यप्रान्तान्तर्गत महाकोसल के अधिपति कलचुरि एवं गुजरात के चालुक्य थे। उभय राजवंशों के आराध्य देव शिव थे। दोनों ने शिव के विशाल मंदिर निर्माण कर योग्य महन्त रखे थे। जैन-धर्म का आदर यों तो दोनों ही करते थे; पर चालुक्य राजवंश विशेष रूप से करता था। शिल्प-स्थापत्य-कला का प्रेम दोनों ही राजवंशों को था। शिल्पकला की दृष्टि से बंगाल के पालवंशीय नरेशों की तुलना हम उपर्युक्त उभयवंशों के साथ आसानी से कर सकते हैं। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कोरणी, आभूषणों में वैविध्य, पाषाण की सफाई, चेहरों पर सजीवता आदि इन राजवंशों द्वारा प्रचारित कलाओं के प्रधान गुण है।

महाकोसल के कर्णदेवने जिस प्रकार अपने पुत्र को राजगद्दी पर आसीन कर स्वनिवासार्थ **कर्णवेल** नामक नूतन नगरी बसायी, ठीक उसी प्रकार गुजरात के चालुक्य कर्णदेवने स्वपुत्र सिद्धराज की राज्यपद पर अधिष्ठित कर अपने लिए कर्णावती नगरी बसाई। जबलपुर में जैनों के उभय **सम्प्रदायों** के पर्याप्त मंदिर है, जिनमें अनेक कलापूर्ण जैन-प्रतिमाएं सुरक्षित है। प्रान्तीय खंडहरों में उपलब्ध सभी प्रतिमाओं में **हनुमानताल दिगम्बर जैन मंदिर** में सुरक्षित प्रतिमा का स्थान बहुत ऊंचा है। कला की सजीवता तो प्रतिमा के अंग-प्रत्यंग पर तादृशरूपेण अंकित है। यह प्रतिमा एक **बन्द कमरे में रखी** हुई पद्मासन पर विराजमान है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई ७ × ४॥ फीट है। स्वाभाविक उत्फुल्ल बदन पर अपूर्व शान्ति, प्रभा, कोमलता और महान गंभीरता के दर्शन होते हैं। मस्तक पर केश-विन्यास तो नहीं है, पर तत्तुल्याकृति (घुँघरेवाले बाल-जैसी) आकर्षक है। लम्बे कर्ण और कलायुक्त



सौन्दर्य वृद्धि करनेवाले है। उभय स्कन्ध केशावलि से सुशोभित है।

परिकर

सापेक्षतः इसका परिकर स्वतंत्र जैन-कलाकृति का स्वरूप होते हुए भी, बाह्य अलंकरण बौद्ध परिकर में व्यवहृत कला से संबंध रखते है। अष्टप्रतिहार्य में भामंडल प्रभावलि की गणना की गई है। सामान्यतः समस्त जैन-प्रतिमाओं में इसका रहना अनिवार्य माना गया है। परंतु इस प्रतिमा की प्रभावलि में जितनी बारीक से बारीक रेखाएँ अंकित हैं एवं जितनी पारदर्शिता परिलक्षित होती है एवं निकटवर्ती बेलबूटों का सुकुमार अंकन पाया जाता है, निःसंदेह अद्यावधि अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं हुआ। प्रभावलि की रेखाएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि एक रेखा पर सरलतापूर्वक छेनी नहीं चलाई जा सकती। २.५" × २.५" से कम प्रभावलि का भाग न होगा, जितनी महत्वपूर्ण प्रभावलि की कोरणी है, उतनी ही सुंदर, आकर्षक खुदाई छत्र की है।

जैनमूर्ति में पाये जानेवाले प्रायः ऊपरी तीन भागों में विभाजित रहते हैं एवं दंड का सर्वथा अभाव रहता है, पर प्रस्तुत प्रतिमा इसका अपवाद है, कारण कि जिस प्रकार प्राचीन यक्षप्रतिमाओं में छत्र को थामने के लिए दण्ड की अपेक्षा रहती है, ठीक उसी प्रकार यह छत्र भी है। प्रभावलि के ठीक मध्य भाग में छत्र-दण्ड है जो ऊपर जाकर क्रमशः तीन ओर गोलाई को लिए हुए है। छत्र में यक्ष छत्रों के समान इस प्रकार सूक्ष्म खनन किया गया है कि बाद में हो ही नहीं सकता। छत्र के मध्य भाग में कमल-कर्णिकाएँ हैं। तदुपरि विशाल छत्र Squire पौने तीन फिट से कम न होगा।

सामान्यतः जैन-मूर्तियों में विवर्तित छत्रों में अग्रभाग के मुक्ता की लड़ें अर्धगोलाकार रहती हैं वैसे ही अंकन यहाँ है। तदुपरि सिकुडन को लिये हुए वस्त्र की झालर के समान रेखाएँ हैं, तदुपरि प्रभावलि में विवर्तित बेलबूटों से भिन्न आकृतियाँ खचित हैं। तदुपरि उल्टी अर्थात् घंटाकृति सूचक कमल-कर्णिकाएँ हैं। सर्वोच्च भाग में दो हाथी सूंड मिलाये हुए उभय ओर इस प्रकार उत्कीर्णित हैं, मानों वे छत्र को थामे हुए हैं। कान के उठे हुए भाग, गले की तनी हुई रेखाएँ एवं आंखों के ऊपर के चमड़े का खिंचाव इस बात के द्योतक हैं कि वे अपने कर्तव्य पालन में उत्सुकतापूर्वक नियुक्त हैं। आवश्यक आभूषणों से वे भी बच नहीं पाये। ऊपर कुछ आकृतियाँ अंकित हैं। हाथी के ऊपर छोटी सी झूल पड़ी है। हौदा कसा हुआ है, एवं पीठ से कटि प्रदेश तक



किंकिणी से सुशोभित है। हाथियों के इस प्रकार के गठन से अनुमान किया जा सकता है कि इस वैज्ञानिक युग में भी हाथी पर बैठने की शैली में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ।

धर्ममूलक-कलाकृतियों में भी जन-जीवन की उपेक्षा उन दिनों के कलाकारों द्वारा न होती थी, परिकर में हाथी कमल पर आधृत है। तन्निम्न भाग में अर्थात् छत्र के ठीक नीचे उभय ओर दो यक्ष एवं चार नारियाँ गगनविचरण करती बनाई गई है। गन्धर्व के हाथ में पड़ी हुई मालाएँ गुंथी हुई के समान-चढ़ाने को उत्सुक हों। सापेक्षतः पुरुषों की मुखमुद्रा पर सुकुमार और स्वस्थ सौन्दर्य की रेखाएं प्रतिस्फुटित हुई है। मस्तक पर किरीट मुकुट पहना है। इस प्रकार के किरीट मुकुटों का व्यवहार गढवा के अवशेषों में भलीभाँति पाया जाता है। कटनी से प्राप्त दशावतारी विष्णु प्रतिमा के मस्तक पर भी इसी प्रकार की मुकुटाकृति है। तात्पर्य कि किरीट मुकुट का व्यवहार श्रेष्ठ कलाकार प्रायः ११वीं शती तक तो सफलतापूर्वक करते रहे हैं। इस प्रतिमा में निम्नभाग में दो यक्षों के मस्तक पर भी किरीट मुकुट है। ये अभी तक पाये जानेवाले मुकुटों में, निर्माण की दृष्टि से एवं सूक्ष्म रेखाओं के लिहाज से अनुपम है। यक्ष एवं परिचारकों के मुकुट एवं मुख-मुद्रा की भाव-भंगिमा जिस रूप में व्यक्त की गई है, उसे देखकर तो यही मानना पड़ता है कि इसके कलाकारोंने अजन्ता की रेखाओं से प्रेरणा लेकर इस सफल कृति का निर्माण किया। तत्कालीन पाये जानेवाले बौद्ध शिल्पावशेषों से ये कल्पना सहज ही समझ में आती है कि उन दिनों बौद्धों का शिल्प-कला में प्रभुत्व था, ऐसी स्थिति में अजन्ता या गुप्तकालीन मूर्ति और चित्रकला की रेखाओं का विस्मरण कैसे हो सकता था। परिचारकों में भी बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है। दाँये-बाँये हाथों में कमल-दण्ड लिपटे हुए हैं। जैन मूर्तियों में यह रूप कम मिलता है, बौद्धों में अधिक। सिरपुर की धातु मूर्तियाँ इसके उदाहरण स्वरूप रखी जा सकती हैं।

निःसंदेह परिचारकों के अंकन में जो स्वाभाविकता एवं सजगता है, वह अन्यत्र कम ही मिलती है। दाँये परिचारक के बाँये हाथ का अधखिला कमल, पकड़नेवाली, मूर्तियाँ कितनी स्वाभाविक हैं, शब्दों का काम नहीं, नेत्रों द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। परिचारक के नीचे उभय ओर नारी खड़ी हुई है। हाथ में माला तो है ही, परंतु कोहनी तक फूल रखने की टोकनी पहुँच गई है। नारी पर अधिक आभूषण लादकर सम्भ्रान्त परिवार की अपेक्षा वह जनता की प्रतिनिधित्री लगती है।



महाकोसल की मूर्तियों के पृष्ठभाग में प्रायः साँची के तोरण का अनुसरण करनेवाले Horizontal pillars मिलते हैं, परंतु प्रतिमा का निर्माता केवल कोरा कलाकार न होकर जैन-प्रतिमा-विधान की सूक्ष्म बातों का ज्ञाता भी जान पड़ता है। उसने दोनों ओर दो स्तम्भ तो जरूर खुदवाये पर दोनों की मिलानेवाली मध्यवर्ती पट्टिका न बनने दी। कारण कि वह स्थान प्रभावलि से व्याप्त है। मूल प्रतिमा के निम्न भाग में आकृतियाँ खिंची हुई हैं। यद्यपि इसका निर्माणकाल वर्णमाला के अक्षरों में नहीं है। परंतु कलाकार की आत्मा या उसके द्वारा खिंची हुई रेखाएँ मौनवाणी में अपना निर्माणकाल स्वयं कह रही हैं। १०वीं शती की पूर्व की और ११वीं की बाद की यह कृति नहीं हो सकती, कारण स्पष्ट है। वस्त्रों की शलें एवं नारियों के मुख तत्कालीन एवं तत्परवर्ती विकसित शिल्पकला से मेल रखते हैं। होठों की मुट्ठाई, कर्णफूल एवं नासिका ये विशुद्ध महाकोसलीय उपकरण हैं। पुरुषों की नाक Poninted है, वहीं कृत्रिमता है। अवशिष्ट स्वाभाविक एवं जनजीवन से संबंधित है।

उपर्युक्त विशाल मंदिर में तेवर से लाई हुई कुछ और जैन-मूर्तियाँ एवं जैनमंदिर के स्तम्भ-खंड विराजमान हैं। एक प्रतिमा, यद्यपि अपरिक्लृप्त है, तथापि उसकी मुखाकृति एवं शारीरिक अंगोपांगों का गठन प्रेक्षणीय है। परिकर विहीन मूर्तियों में यही मूर्ति मुझे सर्वश्रेष्ठ जँची।

इस मंदिर में मराठा कलम के कुछ भित्ति-चित्र पाये जाते हैं। जैनधर्म एवं तदाश्रित कथाओं के प्रसंग के अतिरिक्त १४ राजलोक २.५ द्वीप आदि के नक्शे भी हैं। पूरे मंदिर में एक छत की रेखाएँ एवं इन चित्रों के अतिरिक्त प्राचीनता का आभास दे सकने के योग्य सामग्री नहीं है।

जबलपुर से चार मील पर छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर एक स्थान बना हुआ है, जिसे लोग पिसनहारी की मढ़िया कहते हैं। इसका वास्तविक इतिहास अप्राप्य है, किन्तु किंवदन्ती के आधार पर कहा जा सकता है कि दुर्गावती की पिसनहारी श्राविका थी। उसीने इसका निर्माण करवाया। गुम्बज के ऊपर अभी भी चक्की के दो पाट लगे हुए हैं। उपर्युक्त कल्पना पुष्ट हो जाती है।

त्रिपुरी

त्रिपुरी का जितना ऐतिहासिक महत्व है, उससे भी कहीं अधिक महत्व महाकोसलीय पुरातत्त्व की दृष्टि से है। कलचुरि वास्तुकला पर प्रकाश डाल सकें, वैसी सामग्री तो त्रिपुरी में उपलब्ध नहीं होती, पर हाँ महाकोसलीय



मूर्तिविज्ञान के क्रमिक विकास पर व कलचुरिकालीन मूर्तिकला को आलोकित करनेवाले अगणित सौंदर्यपुंज सम प्रतीक तत्रस्थ खंडहर, वृक्षतल एवं सरोवर के किनारों पर अरक्षित-उपेक्षित दशा में पड़े हैं। बेचारे कतिपय प्रतीक तो वृक्षों की जड़ों में इस प्रकार लिपट गये हैं कि उनका संकेतात्मक अस्तित्व मात्र ही रह गया है। महाकोसल की यह राजधानी जैनपुरातन अवशेषों की भी राजधानी है। यहाँ से उच्चकोटि की कलापूर्ण जैनमूर्तियाँ तो **कलकत्ता** वगैरह स्थानों के **म्युजियम** व जैन मंदिरों में चली गईं। बहुत बड़ा भाग लढियों द्वारा पथरी व कूंडियों के रूप में परिणत हो चुका है, कुछ अवशेष मिर्जापुर की सड़कों पर गिट्टियाँ बनकर बिछ चुके और पुलों में तो आज भी लगे हुए हैं। कुछ भाग जनताने अपनी दीवाल्लों को खड़ी करने में लगा दिया, या गृह-द्वार में फिट कर दिया। इस प्रकार क्रमशः जैन अवशेषों का त्रिपुरी में जितना हास और भ्रंश हुआ है, उतना अन्यत्र कम हुआ होगा।

जब मैं त्रिपुरी पहुँचा, तब मुझे भी कतिपय जैन शिलावशेष जैसे भी प्राप्त हुए, वे महाकोसल की जैनाश्रित मूर्तिकला का प्रतिनिधित्व सम्यक् रीत्या कर सकते हैं। इनमें-से प्रतीकों का परिचय '**महाकोसल का जैन पुरातत्त्व**' शीर्षक निबंध में दे चुका हूँ। त्रिपुरी में आज भी जैनाश्रित शिल्पकला की ठोस सामग्री उपलब्ध है। **बालसागर** सरोवर तट पर जो शैव-मंदिर बना हुआ है, उसकी दीवाल्लों के बाह्य भागों में जैन चक्रेश्वरी देवी की आधे दर्जन से भी अधिक मूर्तियाँ लगी हुई हैं। सरोवर के बीचोंबीच जो मंदिर है, उसमें भी कतिपय जैन-मूर्तियाँ लगी हुई हैं। खैरमाई के स्थान के पीछे, जो पुरातन वापिका के निकट है, अवशेषों का ढेर पड़ा है, उसमें व बड़ी खैरमाई जाते हुए मार्ग में जो थोड़ा-सा जंगल व गड्ढे पडते हैं, उनमें जैनमूर्तियाँ व ऐसे स्तम्भ पाये जाते हैं, जिन पर मीनयुगल, दर्पण, स्वस्तिक और नन्द्यावर्त आदि चिह्न उत्कीर्णित हैं।

यहाँ से हमें जितना भी जैनाश्रित शिल्पकला की सामग्री उपलब्ध हुई है, उन पर से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी समय त्रिपुरी में न केवल जैनों का ही निवास रहा होगा, अपितु कहीं श्रमणसंस्कृति के केन्द्र के सौभाग्य से भी मंडित रहा होगा।

बहुरीबन्द

जबलपुर से उत्तर ४२ मील पर यह ग्राम है। कनिंघम इसे 'टोलेमी



का थोलावन' मानते है। पुरातत्त्वज्ञों के लिए यहां भी पर्याप्त सामग्री, बहुत ही उपेक्षित दशा में पड़ी हुई है। पर हमें तो यहाँ “खनुवादेव” का ही उल्लेख करना है। पाठक आश्चर्य में पड़ेंगे कि “खनुवादेव” क्या बला है? वस्तुतः यह भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा है। इसकी ऊँचाई १३ फिट है। पाषाण श्याम है। इसके नीचेवाले भाग में एक लेख खुदा है। इसकी लिपि बारहवीं सदी की जान पड़ती है। जो लेख है उसका सारांश यह निकलता है— “महासामन्ताधिपति “गोल्हणदेव” (राष्ट्रकूट) राठौर के समय में बनी, जो कलचुरि राजा गयकर्णदेव के अधीन वहाँ का शासक था^१।” यह मूर्तिकला की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। परंतु इस ओर जैन और हिन्दू दोनों उपेक्षित वृत्ति से काम ले रहे हैं। हिन्दू लोग इसकी पूजा जूतों से करते हैं। उनका विश्वास है कि जूतों के डर से देव हमारी सुविधाओं का पूरा पूरा ध्यान रखेगा। जैनों ने कुछ समय पूर्व इसे प्राप्त करने के लिए आंदोलन भी किया था, पर पाना तो रहा दूर, वहाँ पर व्यवस्था तक न हो सकी, न आशातना ही मिटा सके। आश्चर्य तो इस बात का है कि पुरातत्त्व विभाग के उच्च कर्मचारियों का पुनः पुनः ध्यान आकृष्ट करने के बाद भी वे किसी भी प्रकार की समुचित कार्यवाही न कर सके। स्वाधीन भारत में इस प्रकार की अपमानजनक पूजा पद्धति पर, शासन का पूर्णतया मौन बहुत अखरता है।

बहुरीबंद से १॥ मील पर “तिरवाँ” पड़ता है। यहाँ के पुरातन मंदिर की दीवाल पर भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति उत्कीर्णित है^२।

पनागर

किसी समय पनागर की जाहोजलाली जबलपुर से भी बढकर थी। आज तो उसकी प्रसिद्धि केवल ‘पान’ के कारण ही रह गई है। पुरातत्त्व की दृष्टि से पनागर उपेक्षणीय नहीं। यहाँ पर कलचुरि शिल्प के सुंदरतम प्रतीक पर्याप्त प्रमाण में उपलब्ध होते हैं। कुछेक तो “बलैहा” तालाब के किनारे पर वृक्षों के निम्न भाग में व कतिपय गाँव के बीचों-बीच वराह की खंडित मूर्ति जिस चौतरे पर रखी है, वहाँ पर अरक्षितावस्था में विद्यमान है। कथित चौतरे के आगे ही एक मजबूत जैनमंदिर है, चारों ओर सुदृढ दुर्ग से घिरा यह मंदिर

१. प्रोग्रेस रिपोर्ट (कजिन्स की), भा. ४. और आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भा. ४।

२. जबलपुर ज्योति, पृ. १४०।



थाने के सम्मुख एक गली गाँव में प्रवेश करती है। थोड़ी दूर जाने पर “खैरदय्याका” स्थान आता है। यहाँ भी बहुत से अवशेष पड़े हैं। जनत जिसे “खैरमाई” या “खैरदय्या” नाम से संबोधित करती है, वस्तुतः वह जैनों की अंबिका देवी है। २॥ फिट से अधिक ऊँची अंबीका की बैठी प्रतिमा है, आम्रलुंब बालक वगैरह लक्षण स्पष्टतः लक्षित होते हैं। देवी के मस्तक पर भगवान नेमिनाथ की पद्मासनस्थ व पार्श्व में अन्य खड्गासनस्थ जिन-मूर्तियाँ हैं। पृष्ठ भाग में विस्तृत आम्रवृक्ष खोदा गया है। इस समूह में यही मूर्ति प्रधान है। खैरमाई के अनुरूप पूजा होती है, उनके मस्तक पर क्रमशः नेमिनाथ, पार्श्वनाथ व चन्द्रप्रभु की प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं।

स्लीमनाबाद

जबलपुर से कटनी जानेवाले मार्ग पर ३९ × ५ मील पर अवस्थित है। “इस गाँव को सन् १८३२ के लगभग कर्नल स्लीमन ने कोहका नामक गाँव की जमीन लेकर बसाया था।” यहाँ पर महादेव-मंदिर से मुझे जिन-मूर्ति का सुंदर मस्तक प्राप्त हुआ था। नवग्रह युक्त जिन प्रतिमावाला एक शिलापट्टक मुझे यहीं पर प्राप्त हुआ था, जिसका परिचय “महाकोसल का जैन पुरातत्त्व” शीर्षक निबंध में आ गया है।

लखनादौन

सिवनीसे जबलपुर जानेवाले मार्ग पर उत्तर की ओर ३८ मील है। इस ग्राम में प्रवेश करते ही दो-एक ऐसे मंदिर बायीं ओर पड़ेंगे, जिन में पुरातन अवशेष व मूर्तियां लगी हैं। उन्हीं से इसकी पुरातनता सिद्ध हो जाती है। आगे चलने पर जैनमंदिर है, इनमें से मुझे कुछ, धातुमूर्ति-लेख प्राप्त हुए, जिनमें “गाडरवाडा” और “नरसिहपुर” का उल्लेख है। लेखों का १७०३-५-८ है। यहाँ पर अंतिम जैनमंदिर के पास ही श्रीबलदेवप्रसादजी कायस्थ के घरमें अत्यंत मनोहर जिन-प्रतिमा भीत में चिपकी है। इस पर गेरू पुता है। कहते

हैं कि यहाँ पर चातुर्मास के बाद कभी-कभी खुदाई करने पर मूर्तियाँ निकलती है। यहाँ के **विक्रमसेन** के खंडित लेख से ज्ञात होता है कि उसने जैन-तीर्थंकर का मंदिर बनवाया था।

नागरा

यह गाँव भंडारा-जिले में, गोंदिया से ४ मील दूर है। पुरातत्त्व की दृष्टि से इसका महत्व है। यहाँ पर जैन मंदिरों के ध्वंसावशेष व मूर्ति खंड पाये जाते हैं-जिनमें से कुछेक पर वि.सं. १२०३, १५४३ और शकाब्द १८०६ लेख पाये जाते हैं। सबसे बड़ा लेख १५ पंक्तियों में था, पर अज्ञानियों द्वारा शस्त्र तेज करने से मिट गया है। इन अवशेषों को मैंने सन् १९४२ में तो देखा था, पर १९५१ में गया तब गायब थे। पूछने पर ज्ञात हुआ कि एक महन्त की समाधि में ये सब अवशेष काम आ गये।

पद्मपुर

यह ग्राम गोंदिया तहसील में आमगाँव से १॥ मील दूर है। **महा महोपाध्याय वा. वि. मिराशीजी** का मानना है कि महाकवि भवभूति यहाँ के निवासी थे। यहां पर ग्राम के खेतों में भगवान पार्श्वनाथ व ऋषभदेव तथा महावीर स्वामी की मूर्तियाँ पाई जाती हैं। इन मूर्तियों का महत्व कला की दृष्टि से बहुत है। वे खंडित हैं पर किसी समझदारने गारे से ठीक कर जमा दी है।

आमगाँव

गाँधी चौक में पीपल-वृक्ष के निम्न भाग में जैन-मंदिर के एक स्तम्भ का अवशेष पड़ा है। इसके चारों ओर खड़ी जिनमूर्तियाँ खुदी हुई हैं। यह अवशेष यहाँ क्यों और कैसे आया ! यह एक प्रश्न है। उत्तर भी सरल है। उपर्युक्त पद्मपुर भले ही आज यहाँ से १॥ मील दूर हो, पर जिन दिनों वह उन्नतिशील नगर था, उस समय इतना भी दूरत्व न रहा होगा। कुछ अवशेष आमगाँव में ऐसे भी पाये गये हैं, जिनकी समता पद्मपुरीय कृतियों से की जा सकती है।

कामठा

युद्धसमय में यहाँ वायुयान का केन्द्र था। यों तो कामठा दुर्ग भारती क्रांति के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है, परंतु बहुत कम लोग



जानते होंगे कि इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से भी कामठा का महत्व है । किसी समय यह बहुत बड़ा नगर था । यहाँ के लोधी (भूतपूर्व) जमींदार का दुर्ग २०० वर्ष से भी प्राचीन है । कुछ वर्ष पूर्व दुर्ग का एक हिस्सा परिवर्तनार्थ तुड़वाना पड़ा था । उस समय बड़े गड्ढे में जिस पर दुर्ग की सुदृढ़ दीवाल बनी हुई थी-शिखराकृति दिखलाई पड़ी थी । कुछ अधिक खुदाई करने पर ऐसा ज्ञात हुआ कि जिस प्रकार इस मंदिर के ऊपर किला बना हुआ है, टीका उसी प्रकार मंदिर भी किसी अवशेष के ऊपर बना प्रतीत होता है ।

जागीरदारी के प्रबंधक बाबू तारासिंहजी ने इसकी सूचना नागपुर अदभुतालय के प्रधान को दी । जाँच करने पर कुछ ताम्र-मुद्राएँ प्राप्त हुई, पर खेद है कि पुरातत्त्व विभाग के उस अफसरने हफ्तों तक जमींदार के आतिथ्य से लाभ उठाकर भी यथार्थतः अपने कर्तव्य का लेशमात्र भी पालन न किया । यदि मंदिर के नीचे और खुदाई की जाती-जैसा कि जमींदार साहब वैसा करवाने को तैयार थे-तो कुछ नवीन तथ्य प्रकाश में आता । जितना भाग खोद गया था, उसमें आधे दर्जन से अधिक जैन-मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं । कुछ एक तो नींव में पुनः भर दी गई । केवल एक प्रतिमा नमूने के लिए दुर्गद्वार के अग्रभाग में विराजमान है । समीप ही दशावतारी विष्णु की अत्यंत प्रभावोत्पादक मूर्ति अवस्थित है । बाबू तारासिंह से पता लगा कि मैंने जिस जगह पर खुदाई-कार्य किया था, वहाँ भी जैन मूर्तियाँ निकली थीं । इसमें कोई संशय नहीं कि कामठा के लोग शिल्प-कला के उन्नायक रहे थे ।

बालाघाट अपने जिले का प्रमुख स्थान है । इसका इतिहास वाकाटक काल तक जाता है । सरकारी अफसरों के आमोद-प्रमोद के लिए एक क्लब बना हुआ है । ठीक इसके पीछे एवं न्यायालयवाले मार्ग पर छत विहीन साधारण कमान के सहारे कुछ जैन-मूर्तियाँ टिकी हुई हैं । जिस रूप में इन्हें मैंने उन्नीस सौ बयालीस के पराधीन भारत में देखा था, ठीक उसी रूप में उन्नीस सौ बावन अप्रैल के स्वाधीन भारत में भी देखा । बड़ा आश्चर्य है कि इतने वर्षों के बाद भी हमारे शिक्षित-दीक्षित अफसर व मंत्रियों का ध्यान इस ओर न जाने क्यों नहीं गया । अब भी जाय तो कम से कम नष्ट होनेवाली कलात्मक संपत्ति तो बचाई जा सकती है ।

डोंगरगढ-का नाम अत्यंत सार्थक है । सचमुच यह पहाड़ियों का दुर्गम दुर्ग ही है । जब इस नाम से अभिषिक्त किया गया होगा, उस समय इसकी दुर्गमता कितनी दुर्बोध रही होगी, चतुर्दिक सघन अटवियों से यह भूभाग



कितना आच्छादित रहा होगा, इसकी कल्पना प्रत्यक्षदर्शी कलाकार ही कर सकता है। प्रकृति के अवशेष-स्वरूप आंशिक सौन्दर्य आज भी यहाँ सुरक्षित है। कलाकार के मन का न केवल उन्नयन होता है, अपितु महत्वपूर्ण उदात्त भावना का सूत्रपात भी होता है। अग्रसोची शासकोंने भले ही इसे सुरक्षा की दृष्टि से बसाया हो, पर आज यह संस्कृति और सौंदर्य की साधना के केन्द्रस्थान के रूप में प्रसिद्ध है। लाखों जनपदों की हार्दिक भावना का यह केन्द्र-स्थान है। यहाँ शाक्त और वैष्णवों का किसी समय अवश्य ही समन्वयात्मक अस्तित्व रहा होगा। पहाड़ी के ऊपर बमलाई का शक्तिपीठ है, परंतु बहुत कम लोग जानते हैं कि यहाँ पर किसी समय श्रमण परंपरा में विश्वास करनेवालों का भी साधनास्थान था, जैसा कि तत्रस्थित विश्रृंखलित अवशेषों से फलित होता है।

यों तो मुझे उन्नीस सौ तैंतालिस और उन्नीस सौ इक्कावन में डोंगरगढ में विहार करते हुए ठहरने का अवसर मिला था। इच्छा रहते हुए भी पहाड़ी पर न जा सका, एवं न वहाँ के अवशेषों का ही पता लगा सका; बल्कि मुझे ज्ञात ही न था कि बम्बई देवी को छोड़कर और किसी दृष्टि से डोंगरगढ का सांस्कृतिक व ऐतिहासिक महत्व भी है।

जैन-अवशेष

२३ मार्च १९५२ को अपनी शोधविषयक आवश्यक सामग्री के साथ पहाड़ी पर चढ़ा; यों तो ऊपर जाने के दो मार्ग हैं-एक **तपसीताल** से एवं दूसरा श्मसान घाट से। हमारे लिए दूसरा मार्ग ही उपयुक्त था। पहाड़ी पर चढ़ते हुए मार्ग में कहीं-कहीं अवशेष दिखलाई पड़े। उनमें से कुछ एक जैन परंपरा से संबंधित भी ज्ञात हुए, जिनका उल्लेख मैं आगे करूंगा। पहाड़ी से नीचे उतरने पर मेरा इरादा तो यही था कि अभी तो निवासस्थान पर चलकर कुछ विश्राम किया जाय; क्योंकि पहाड़ी की चढ़ाई की अपेक्षा उतराई अधिक महंगी पड़ती है।

मेरे साथी पंडित **राजूलालजी शर्मा (राजनाँदगाँव)** व **मुनि श्रीमंगलसागरजी** का आग्रह हुआ कि **टोन्ही-वमलाई व तपसीताल** को देखकर ही निवास स्थान पर जाना अधिक उचित होगा, क्योंकि २४ मार्च को हमें प्रस्थान करना था। अनिच्छा से मैं इन लोगों के साथ आगे बढ़ा। मैं सोचता था कि दुपहर को अवशिष्ट स्थानों को आराम के साथ देखना ठीक



रहेगा; क्योंकि हमारा इस प्रकार भटकना केवल देखने के लिए न था, अपितु उन-उन स्थानों व तत्र स्थित अवशेषों से बातचीत का सिलसिला भी चलाना था । मेरा विश्वास रहा है कि कलाकार खंडहर में प्रवेश करता है तब वहाँ का एक-एक पत्थर उससे बातें करने को मानो लालायित रहता है, ऐसा आभास होता है । कलाकार अवशेषों का सहानुभूतिपूर्वक अंतरमन से देखता है, पर्यवेक्षण करता है, नवीन सामयिक स्फूर्तिदायक संस्करण तैयार करता है ।

आगे चलकर हम लोग शिव-मंदिर के निकट रुके । एक पंडा भी हमारे पीछे पड गया । लगा वहाँ की किंवदन्तियाँ सुनाने । एक किंवदन्ती हमारे काम की मिल गई । शंकरजी का मंदिर चबूतरे पर बना हुआ है; ज्योंही उस पर हम चढे, त्योंही हमारी दृष्टि दाई ओर पडी हुई पद्मासनस्थ जिनप्रतिमा पर केन्द्रित हो गई । इसी प्रतिमा पर **श्रीयुत महाजनसाहब** ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया था । यह प्रतिमा भगवान ऋषभदेव स्वामी की है, यद्यपि प्रतिमा की निर्माण-शैली को देखते हुए कहना पडेगा कि-इसके परिकर-निर्माण में व्यवहृत कलात्मक उपकरण तो विशुद्ध महाकोसलीय ही है । इस प्रकार की प्रतिमाएं संपूर्ण महाकोसल में पायी जाती है, सापेक्षतः मुझे इसमें एक नावीन्य दृष्टिगोचर हुआ । वह यह कि प्रान्त में जितनी भी जैनमूर्तियाँ अद्यावधि मैंने देखी है, उनमें निम्न भाग में नवग्रहों के स्थान पर केवल नवआकृतियाँ ही उत्कीर्णित रहती है, पर इसके परिकर में नवग्रहों का अंकन सशरीर व सायुध है । मुझे ऐसा लगता है कि यह छत्तीसगढ प्रान्त स्थित जैनमूर्ति-निर्माण-विषयक कला-परंपरा का अनुकरण है ।

यों तो छत्तीसगढ महाकोसल में अन्तर्भूत हो जाता है, पर मूर्ति-निर्माणकला में उत्तर और दक्षिण कोसल में अंतर है, उत्तर कोसल में ऐसी जिनमूर्तियाँ अत्यल्प उपलब्ध हुई है, जिनमें गृहांकन सशरीर या सायुध हो, जब कि दक्षिण कोसल की अधिकांश मूर्तियाँ उपर्युक्त परंपरा का अपवाद है । परिकर में साँची के तोरण की आकृति के चिह्न अवश्य ही मिलेंगे ।

छत्तीसगढ की जैनधातु-प्रतिमा मुझे सिरपुर से उपलब्ध हुई थी; उसमें भी नवग्रहों का सशरीर सायुध अंकन था । यह प्रतिमा नवम शताब्दी की थी । अधिष्ठाता के स्थान पर कुबेर एवं अधिष्ठातृ के स्थान पर अंबिका विराजमान है । डोंगरगढ की यह ऋषभदेव की प्रतिमा उपर्युक्त धातु-मूर्ति के अनुकरणात्मक स्वरूप में दिखती है । अंतर इतना ही है कि कुबेर और अंबिका के स्थान पर, गोमेध यक्ष एवं यक्षिणी चक्रेश्वरी है ।



उपासक व उपासिकाओं का स्थान जैन-परिकर में आवश्यक माना गया है। यहाँ पर भी ये दोनों स्पष्ट हैं; बल्कि पूजन की सामग्री भी कलाकार ने अंकित कर, अंतिम गुप्तकालीन मूर्ति निर्माण कला की आभा बता दी है। सूचित समय की जैन-बौद्ध-सपरिकर मूर्तियाँ मंदिर के आकार की दीखती थीं। धूपदान, आरती, कलश एवं पुष्पपात्र भी अंकित रहते थे। इस परंपरा का विकास सुरपुरस्थ धातुप्रतिमा में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। प्रस्तुत ऋषभदेव की प्रतिमा के परिकर में विवर्तित किरीट मुकुट बहुत ही आकर्षक बने हैं। मूर्ति सपरिकर चालीस इंच ऊँची छब्बीस इंच चौड़ी है। निस्संदेह प्रतिमा किसी समय मंदिर के मुख्य गर्भद्वार की रही होगी। अभी तो इस पर खूब तैल-युक्त सिंदुर पोता जाता है और आध्यात्मिक भावों की साकार आकृति द्वारपाल का काम करती है।

इसी मंदिर के निकट और भी नागचूर्णसे अभिषिक्त कितपय अवशेष पड़े हुए हैं। इनमें कुंभ, कलश, मीन युगल व दर्पणाकी आकृतियाँ, उनके जैनधर्म से संबंधित होने के प्रमाण हैं। यहाँ से एक पंडे के साथ हम लोग टोन्हीबमलाई की ओर चले। यह स्थान सापेक्षतः कुछ विकट और दुर्गम है। बिना मार्ग दर्शक के वहाँ पहुँचना सर्वथा असंभव है। कारण कि इस ओर ले जानेवाली न तो कोई निश्चित पगडंडी है एवं न ऐसे कोई चरणचिह्न ही दिखलाई पड़ते हैं, जिनके सहारे यात्री सुगमतापूर्वक वहाँ पहुँच सके। स्थान विकट चट्टानों के बीच पड़ता है। बड़ी बड़ी आड़ी-टेढ़ी और फिसनेवाली चट्टानों को पार कर जाना पड़ता है। यहाँ की बमलाई की पूजा केवल नवरात्र के दिनों होती है। बली भी खूब जमकर होती है, पाठकों को पढ़कर आश्चर्य होगा कि आज के युग में भी यहाँ पूजा के दिनों में एक बकरे का जीवित बच्चा जमीन में गाड़ा जाता है।

उपर्युक्त जर्जरित टोन्ही बमलाई के स्थान में ही सिंदूर से पोती हुई भगवान पार्श्वनाथ स्वामी की एक प्रतिमा विराजमान है, कला की दृष्टि से अति सामान्य है। ठीक इस स्थान के कुछ दूर जाने पर बहुसंख्यक अवशेष घनी झाड़ी में फैले हुए हैं। तीन स्तम्भ छः फुट से भी अधिक लंबे व ढाई फुट से अधिक चौड़े हैं, जो नीचे से चतुष्कोण कुछ ऊपर षट्कोण एवं मध्य में अष्टकोण में विभाजित हैं। सर्वोच्च भाग में दोनों ओर सुंदर डिजाइन व एक भाग में खड्गासन में जिनमूर्तियाँ खुदी हुई हैं, जो नग्न हैं। पास में पड़े हुए चोखट के मध्यभाग में उत्कीर्णित कलशाकृति इस बात की सूचना देती है कि



असंभव नहीं ये सभी अवशेष ध्वस्त जैनमंदिर के ही हों। इन सब अवशेषों को देखते हुए करीब बारह बजने का समय हो रहा था; अतः हम लोग तपसीताल नामक स्थान को सामान्य रूप से देखकर ही स्वनिवासस्थान को लौटना चाहते थे; पर वहाँ सुयोग्य वैष्णव महंत श्री मथुरादासजीने पहाड़ी के दुर्गम गन्तव्य स्थानों की चर्चा की। उन्हें दुपहर के बाद हमने देखना तय किया।

प्रायः चार बजे पुनः मैं और बिहारीलाल अहीर तपसीताल पहुँचे। उपर्युक्त पंक्तियों में मैंने पहाड़ी पर चढ़ने के दो मार्गों का उल्लेख किया है। घने जंगल एवं टेढ़ी-मेढ़ी चट्टानोंवाला एक मार्ग तपसीताल से फूटता है। आगे चलकर जंगलों में विभाजित हो जाता है। समय अधिक हो जाने के कारण हम डेढ़ मील से अधिक आगे न जा सके, पर जितना मार्ग तय किया, उस बीच मुझे दर्जनों गढ़े-गढ़ाये पत्थर, आकृतियाँ खचित स्तम्भ, मूर्ति अवशेष व कहीं-कहीं भूमिस्थ डेढ़ फिट से अधिक लम्बी ईंट दिखलाई पड़ी; यद्यपि यहाँ जैन-अवशेष तो दिखाई नहीं पड़े, परंतु इतना निश्चित ज्ञात हुआ कि किसी समय इस पहाड़ी में विस्तृत जनावास व देवमंदिरों का समूह रहा होगा।

उपर्युक्त पंक्तियों में मैंने एक काम की किंवदन्ती का सूचन किया है, वह इस प्रकार है, कहा जाता है कि इस पहाड़ी पर किसी समय बड़ा दुर्ग था; एवं उसमें कामकन्दला नामक एक विख्यात गणिका रहती थी; यहीं पर माधवानल के साथ उसकी प्रथम भेंट हुई थी। पंडे से यह ज्ञात हुआ कि यह गणिका माधवानल की पुनःप्राप्ति के लिए नग्न मूर्तियों का पूजन करती थी। उसीने उपर्युक्त दोनों मूर्तियों का निर्माण करवाया। इस किंवदन्ती में विशेष तथ्य तो मालूम नहीं पड़ता, कारण कि उपर्युक्त पंक्तियों का आंशिक समर्थन भी साहित्य एवं अन्य ऐतिहासिक साधनों से नहीं होता, बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो डोंगरगढ़ के भूभाग पर प्रकाश डालनेवाले साधन ही अंधकार के गर्भ में है। दूसरी बात यह भी है कि जबलपुर जिले के बिलहरी ग्राम में एक शैव-मंदिर का खंडहर मैंने देखा है, उसके साथ भी कामकन्दला का संबंध हुआ है।

लोग मानते हैं कि वह उसका महल है। माधवानल कामकन्दला के आख्यानों में शैव-मंदिर का उल्लेख पुनः पुनः आया है। छत्तीसगढ़ में भी यह आख्यान बड़ा प्रसिद्ध रहा है, जहाँ पुरातन शैवमंदिर दिखें, वहाँ कामकन्दला के संबंध की कल्पना निरर्थक है। किंवदन्ती में वर्णित नग्न मूर्ति के स्थान पर शिवलिंग को थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय तो कलचुरि या उसके बाद के



भोंसले आदि शासक इसका जीर्णोद्धार कराये बिना न रहते, जैसा कि रत्नपुर व श्रीपुर-सीरपुर के शैवमंदिरों का कराया था ।

अब प्रश्न रह जाता है गणिका द्वारा निर्मापित मंदिर एवं मूर्तियों का । यह प्रश्न जितना महत्वपूर्ण है, उतना कठिन भी, पर उपेक्षणीय नहीं । इसे सुलझाने का न कोई साहित्यिक प्रमाण है न शिलालिपि ही, केवल प्रतिमा एवं मंदिर-अवशेषों की रचनाशैली के आधार पर ही कुछ, प्रकाश पड सकता है । जो दो मूर्तियाँ विभिन्न स्थानों पर विराजमान कर दी गई है, उनकी रचनाशैली में पर्याप्त साम्य है । भले ही वे दोनों विभिन्न कलाकारों की कृति ज्ञात होती हों, पर टेकनिक एक है, पाषाण एक है ।

स्तम्भों एवं मंदिर के गवाक्षों में खचित आकृतियों पर कलचुरि कला का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है; बल्कि कहना चाहिए कि स्थपतिने अपने पूर्वजों द्वारा व्यवहृत शैली को सुरक्षित रखने का साधारण प्रयास किया है, पर सफलता नहीं मिली । जिन्होंने कलचुरिकला के प्रधान केन्द्र त्रिपुरी और बिलहरी की गृह-निर्माण-कला एवं उनके विभिन्न उपकरणों का अध्ययन किया है, वे ही उपर्युक्त अवशेषों की अनुकरण-शैली को समझ सकते हैं । मंदिरों के चौखट विन्ध्यप्रदेश के सुंदर बनते थे । कलचुरि कलाकारोंने कुछ परिवर्तन के साथ इस शैली को अपनाया । उसी शैली का साधारण अनुकरण दक्षिण-कोसल-छत्तीसगढ में किया गया । ऐसी स्थिति में उत्तर भारतीय द्वार-निर्माण-शैली का प्रभाव बना रहना स्वाभाविक ही है ।

डोंगरगढ की पहाडी के अवशेषों को मैं कलचुरि काल में नहीं रखना चाहता, कारण कि उपासक, उपासिका तथा पार्श्वदों के तन पर पडे हुए वस्त्रों पर गोंड प्रभाव स्पष्ट है । आभूषण भी गोंड और कलचुरि कला में व्यवहृत अलंकारों से कुछ मेल रखते हैं । ओठ भी मोटे हैं, मस्तक के बाल कुछ लम्बे बंधे हुए हैं, इन सब बातों से यह ज्ञात होता है कि इसकी रचना पन्द्रहवीं या सोलहवीं सदी के बीच कभी हुई होगी । उन दिनों भण्डारा जिले में जैनों का अच्छा स्थान था; कारंजा के भट्टारक का दौरा नागरा तक हुआ था, साथ ही इस शताब्दी की कुछ मूर्तियाँ लांजी, बालाघाट, पद्मपुर, आमगाँव, कामठा और किरनपुर में पाई जाती हैं, यद्यपि इन स्थानों में से कुछ एक तो डोंगरगढ से काफी दूर पडते हैं, पर लांजी वगैरह दूर होते हुए भी, कलचुरियों द्वारा शासित प्रदेश था, अर्थात् शासन की दृष्टि से दूरत्व नहीं के बराबर था । इसी समय की गंडई में भी कुछ एक मूर्तियाँ पाई जाती हैं ।



डोंगरगढ से बारहवें मील पर **बोरतालाब** रेल्वे स्टेशन पडता है। यहाँ पर आज भी इतना बीहड जंगल है कि रात्रि को ग्राम की सीमा तक जाना असंभव है। यों तो यह किसी समय विशेष रूप से सुरक्षित जंगल माना जाता था, पर आज वहाँ एक शेरने ऐसा उपद्रव मचा रखा है कि दो वर्ष में १५५ व्यक्ति स्वाहा करने के बाद भी वह मस्ती से घूमता है; इसी जंगल के द्वार पर एक जलाशय बना हुआ है। जलाशय से ठीक उत्तर चार फर्लांग घनघोर जंगल में प्रवेश करने पर खंडित मूर्तियों के एक दर्जन से कुछ अधिक अवशेष दिख पड़ेंगे; इसमें मस्तक विहीन एक ऋषभदेव की प्रतिमा है, जिस पर “**संवत् १५४८..... जीवरा..... डुंगराख्यनगरे..... नित्यं प्रणमंति ।**”

यह लेख भी उपर्युक्त मंदिर व मूर्तियों के निर्माण कालीन परिस्थिति पर कुछ प्रकाश डालता है। जीवराज पापडीवाल द्वारा सारे भारत में मूर्तियाँ स्थापित करवाने की न केवल किंवदन्तियाँ ही प्रचलित हैं अपितु कई प्रांत में मूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। लेखान्तरित “**जीवरा**” शब्दों से मैं **जीवराज पापडीवाल** का ही संबंध मानता हूँ और डुंगराख्य नगर से डोंगरगढ। यदि लेख की मिति मिल जाती तो अन्य मूर्तियों की मितियों से तुलना करते तो अवश्य ही नवीन तथ्य प्रकाश में आता। सूचित समय में निस्संदेह डोंगरगढ में जैनों का प्राबल्य रहा होगा। उसी समय जैनसमाज की किसी प्रतिष्ठित नारी द्वारा डोंगरगढ का उपर्युक्त मंदिर बना होगा। कुछ समय बाद जब जैनों का प्राबल्य घटा या जैनधर्म का आचरण करनेवाली जाति में से आचार-विषयक परंपरा लुप्त हुई, तब कामकन्दलावाली किंवदन्ती में इस मंदिर को भी लपेट लिया गया हो तो इसमें आश्चर्य नहीं है। भारत में बहुत से ऐसे धार्मिक स्थान हैं, जिनकी ख्याति के पीछे नारियों का नाम जुड़ा हुआ है। उदाहरणार्थ-पिसनहारी की मढिया।

प्रसंगतः एक बात का उल्लेख अत्यावश्यक जान पडता है कि उन दिनों डोंगरगढ के निकटवर्ती भू-भागों पर जैनकलाकारों और जैनकलाकारों की बस्ती पर्याप्त प्रमाण में रही होगी। सम्भव है उस समय की बहुत-सी मूर्तियाँ इन्हीं लोगों द्वारा बनवाई गई हों। भण्डारा जिले में जैनकलाकारों की बस्ती प्रायः हर एक गाँव में मिलेगी। ये जैनकलाकार कलचुरियों के अवशेष हैं। इनके नाम के आगे जुड़ा हुआ जैन शब्द इस बात का सूचक है कि कुछ समय पूर्व निश्चित रूप से वे जैनधर्म का पूर्णतया आचरण करते रहे होंगे। इस जाति के कुछ शिक्षित भाई मुझे कामठा में मिले थे। वे स्वयं बोले कि किसी समय



हमारे पूर्वज जैन थे, पर ज्यों-ज्यों हमारा संबंध परिस्थिति जन्य विषमताओं के कारण, धार्मिक सिद्धांतों से हटता गया, त्यों-त्यों हम इतने धर्मभ्रष्ट हो गये कि अहिंसा की सुगंध भी आज हम में न रही ।

अधिक अवकाश न मिलने के कारण मैं पहाड़ी की पूर्णतः छानबीन तो नहीं कर सका, पर जितने भाग को देखकर समझ सका, उससे मनमें कौतूहल हुआ कि डोंगरगढ जैसा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान विद्वानों की दृष्टि से ओझल क्यों कर रहा-यहाँ तक कि स्वर्गीय डाक्टर हीरालालजी ने भी उपेक्षित रखा ।

आरंग

रायपुर से २२ मील दूर बसे आरंग में एक प्राचीन जैनमंदिर है, जिसका एक भाग जीर्ण होने व गिरने के भय से सरकारने दुरुस्त करवा दिया है । यहाँ के मंदिर का शिखर अत्यंत सूक्ष्म नक्काशीदार कोरणियों से आच्छादित होने से बहुत ही कलापूर्ण एवं मनोज्ञ है । शिखर के चारों ओर देव-देवियों की प्रतिमाएं उत्कीर्णित हैं, जिनका संबंध शायद दिगम्बर-सम्प्रदाय से है । उनमें आभूषणों का बाहुल्य है । इसका प्रधान कारण कलचुरिकला का असर जान पड़ता है । मंदिर के गर्भगृह में तीन दिगम्बर जैनमूर्तियाँ हरापन लिये हुए श्याम पाषाण पर उत्कीर्णित हैं । कला की दृष्टि से मूर्तियों से भी बढ़कर परिकर सुंदर है । इस मंदिर के निर्माण-काल के विषय में वहाँ पर कोई लेख उत्कीर्णित न होने से निश्चित समय स्थिर करना जरा कठिन है, कला के आधार पर ही समय निर्धारित करना होगा । मध्यप्रान्त के छत्तीसगढ-डिवीजन में रत्नपुर के पास पाली नामक एक ग्राम है, जहाँ का शिव-मंदिर प्रान्त में प्राचीनतम माना जाता है । इसका नक्काशी का काम आबू की याद दिलाता है । इस मंदिर का निर्माण बाण-वंशीय राजा विक्रमादित्यने सन् ८७०-८९५ के बीच कराया और कलचुरवंशीय जाजल्लदेव (राज्यकाल १०९५-११२०) ने जीर्णोद्धार कराया, जैसा कि 'जाजल्लदेवस्य कीर्तिरियम्' वाक्य से प्रकट होता है, जो वहाँ के मंदिर के स्तंभों पर उत्कीर्णित है । आरंग का जैन-मंदिर ठीक इससे सौ या कुछ, अधिक वर्ष बाद बनवाया गया मालूम देता है, क्योंकि इसमें शैव मंदिर की सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोरणी का अनुकरण किया गया है । इससे सिद्ध है कि आरंग का जैन-मंदिर ११ वीं शती के उत्तरार्द्ध में बना होगा ।

महामाया के प्राचीन मंदिर में, जो सघन वन में है, एकाधिक जैन-



मूर्तियाँ अवस्थित है। एक पाषाण की विशाल चट्टान पर चौबीस तीर्थंकरों की एक साथ चौबीस मूर्तियाँ उत्कीर्णित है। यह चतुर्विंशतिपट्ट महामाया के मूलमंदिर में सुरक्षित और अखंडित है। आरंग से दो मील दूर एक जलाशय पर कुछ ऐतिहासिक खंडहरों का हमें पता लगा था। पर परिस्थिति की प्रतिकुलतावश वहाँ जाना न हो सका। एक केवट को भी रत्नों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं, जो रायपुर के दिगम्बर जैनमंदिर में सुरक्षित है। कहा जाता है कि किसी समय यह नगर जैन-संस्कृति का प्रधान केन्द्र था। प्रान्त के प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ. हीरालाल ने 'मध्यप्रदेश का इतिहास' में लिखा है—“रायपुर जिले के आरंग-स्थान में एक प्राचीन वंश के राज्य का पता चलता है, जिसे राजर्षि तुल्य-कुल कहा करते थे। यदि इसका संबंध खारवेल से रहा हो, तो समझना चाहिए कि खारवेल का वंश सैकड़ों वर्षों तक चला होगा।” इस अनुमान की पुष्टि तत्रस्थ प्राप्त जैन-अवशेषों से नहीं होती, क्योंकि वे प्राचीन नहीं है।

रायपुर के अजायबघर में भगवान् ऋषभदेव स्वामी की एक प्राचीन प्रतिमा सुरक्षित है। कला की दृष्टि यह मूर्ति बड़ी सुंदर, पर खंडित है। स्थानीय प्राचीन दुर्गस्थ महामाया के मंदिर में दीवार पर ऋषभदेव भगवान की एक प्रतिमा किसी सनातनी ने जान-बुझकर चिपका दी है। इसका परिकर बड़ा सुंदर है, पर अब तो इसका कुछ अंश ही सुरक्षित रह सहा है। धमतरी के इतिहास-प्रेमी श्री विसाहुराव बाबर द्वारा हमें ज्ञात हुआ कि सिहावा के आस-पास भी जैन-धर्म से संबंधित लेख और अवशेष मिले हैं। ऐसे तीन लेखों की प्रतिलिपियाँ भी आपने हमें लाकर दी थीं। लेख विश्वसोमसेन के हैं। इसमें कोई शक नहीं कि सिहावा-इलाका इतिहास और अनुसंधान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। तन्निकटवर्ती कांकेर स्टेट में अनेक जैन-स्तम्भ और विभिन्न जैन अवशेष मिले हैं। तात्कालिक वहाँ के दौरा-जज श्री एम. बी. भादुडी ने हमें दो ताम्रपत्र भिजवाये थे, जिनका संबंध बल्लालदेव से था। ये आज तक अप्रकाशित हैं।

बिलासपुर-कालेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल डॉ. बलदेवप्रसादजी मिश्र से विदित हुआ कि सकती-स्टेट के जंगल में एक विशालकाय जैनप्रतिमा है, जो वहाँ के आदिवासियों द्वारा पूजित है। उन लोगों की मान्यता है कि यही उनके आराध्यदेव है। वे लोग प्रतिमा के समक्ष बलि भी चढ़ाते हैं। डॉ. साहबने प्रतिमा प्राप्त करने के लिए वहाँ के राजा साहब से अनुरोध किया। पर प्रजा



एकदम बिगड खडी हुई कि वह अपनी जान रहते किसीको भी, अपने आराध्यदेव को यहाँ से नहीं ले जाने देंगे । बात वहीं समाप्त हो गई ।

श्रीपुर अथवा **सिरपुर** के अध्ययन के बिना मध्य-प्रान्त के पुरातत्त्व का अध्ययन सर्वथा रहेगा । यहाँ का **गन्धेश्वर महादेव** का मंदिर प्राचीन माना जाता है । अर्वाचीन काल में वहाँ की अवस्था और व्यवस्था बडी सुंदर है । इसमें सिरपुर के त्रुटित अवशेष लाकर, बडे यत्न के साथ रखे गये हैं । मंदिर के मुख्य द्वार के समक्ष विशालस्तम्भोपरि चार दिगम्बर जैन-प्रतिमाएँ उत्कीर्णित है, जो खड्गासनस्थ है । प्रस्तुत स्तम्भ पर जो लेख खुदा है, वह इस प्रकार है-“सं. ११६९ वैशाख .. सा .. समथर धारु तत् भार्या रूपी.. सपरिवार युतेन .. धर्मनाथ चतुर्मुख.. नित्यं प्रणमंति ।” इस स्तम्भ से मालूम होता है कि ऊपर के भाग में भी मूर्तियाँ थी, जिनका चरण-भाग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । मूर्ति की सुन्दरता के लिए, इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि उसके मुख-कमल से जो वीतराग भाव प्रस्फुटित होता है, शान्ति का वैसा प्रवाह अन्यत्र कम ही देखने में आता है । लक्ष्मणदेवालय के पास एक छोटा-सा अजायबघर-सा किसी समय बना था । पर आज वह अतीव दुरावस्था में है । ऊपर की छत टुट गई है । उसमें अनेक प्रतिमाएँ, स्तम्भ व शिखर के त्रुटित भाग पडे हैं । इनमें से एक साढे चार फुट ऊँची पद्मासनस्थ विशाल प्रतिमा है । एक स्तम्भ पर अष्टमंगल उत्कीर्णित है ।

एक महत्वपूर्ण धातु प्रतिमा

यों तो प्रान्त में अनेक स्थानों पर प्राचीन धातु-प्रतिमाएँ सुरक्षित है (जिनका सामूहिक निर्माण-काल विक्रम की बारहवीं शती से प्रारम्भ होता है) परंतु यहाँ पर जिस मूर्ति के विषय में पुरातत्त्व-प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है, वह कला की दृष्टि से अपना अलग ही स्थान रखती है । इसकी रचना-शैली स्वतंत्र, स्वच्छ और उत्कृष्ट कलाभिव्यक्ति की परिचायक है । मूल प्रतिमा पद्मासन लगाये है । निम्नभाग में वृषभ-चिह्न स्पष्ट है एवं स्कन्ध-प्रदेश पर अतीव सुंदर केशावलि प्रसरित है । दोनों लक्ष्णों से इतना तो बिना किसी संकोच कहा जाता है कि प्रतिमा आदिनाथस्वामी की है । दाहिनी ओर अंबिका की एक मूर्ति है, जिसके बायें चरण पर लघु बालक, गले में हंसली पहने बैठा है । दाहिने चरण की ओर बालक दाहिने हाथ में सम्भवतः मोदक एवं बायें हाथ में उत्थित सर्प लिये खडा है । प्रश्न होता है कि आदिनाथस्वामी के



परिकर से अंबिका देवी का संबंध ही क्या ? जब कि उनकी अधिष्ठात्री अंबादेवी न होकर चक्रेश्वरी है । परंतु जाँच-पड़ताल करने पर मालूम हुआ कि प्राचीन जैन-मूर्तियों में अंबिका देवी की प्रतिमा स्पष्टोत्कीर्णित पाई जाती है । मथुरा और लखनऊ के अद्भुताल्यों में बहुसंख्यक प्राचीन जैन-प्रतिमाएँ ऐसी प्राप्त हुई हैं, जिनके साथ अंबिकादेवी की प्रतिमा है । ये अवशेष ईस्वी सन् पूर्व के सिद्ध किये जा चुके हैं सौराष्ट्र देशान्तर्गत ढाँक में, जहाँ के सिद्ध नागार्जुन थे, दसवीं शती की ऐसी ही जैन-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं । पश्चात् १२ वीं शताब्दी की अर्बुदाचल-स्थापित प्रतिमाओं में भी अंबिका का बाहुल्य है । साथ ही कतिपय प्राचीन साहित्यिक उल्लेख भी हमारे अवलोकन में आये हैं जिनसे जाना जाता है कि पन्द्रहवीं शती तक उपर्युक्त मान्यता थी, जैसा कि सं. १४९३ की एक स्वाध्याय पुस्तिका में उल्लिखित है :-

वारङ्ग नेमीसर तण्ड ए थप्पिय राय सुसम्मि ।

आदिनाह अंबिक सहिय कंगडकोट सिरम्मि ॥

श्री साराभाई नवाब के संग्रह में भी अंबिका-सहित आदिनाथजी की प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं । ऋषभदेव की प्रतिमा के दाहिनी ओर जो देवी की प्रतिमा है, उसे हमे तादृश रूप से तो चक्रेश्वरी मानने में पश्चात्पद हुए बिना न रहेंगे; क्योंकि आयुधादि का जैसा वर्णन जैन-शिल्पकलात्मक शास्त्रों में आया है, वह प्रस्तुत प्रतिमा में आंशिक रूप में भी नहीं घटता है । देवी के आभूषणों को हम सामाजिक उत्कृष्टता की कोटि में न रख सकें, तथापि सामान्यतः उसका ऐतिहासिक मूल्य एवं महत्व है ही । केश-विन्यास बड़ा ही आकर्षक है । मूल स्थान पर भगवान की प्रतिमा उलटे कमल-पुष्पासन पर विराजित है, जिसके चारों ओर गोल कंगूरे स्पष्ट हैं । मस्तक पर जटा-सा केशगुच्छक अलंकृत है । पश्चात् भाग में प्रभावली (भामंडल) है, जिसे गुप्तकालीन कला का आंशिक प्रतीक माना जा सकता है ।

प्रतिमा के निम्न भाग में आठ लघु प्रतिमाएँ, विविध प्रकार के आयुधों से सुसज्जित हैं । बाजु में उच्चासन पर प्रतिमा बनी हुई है । यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि “**वास्तुसार प्रकरण**” में राहु व केतु को एक ही ग्रह माना गया है । बड़ी उदरवाली प्रतिमा देखने में कुबेर-तुल्य लगती है; पर वस्तुतः है वह यक्षराज की, जैसा कि तत्कालीन जैन-शिल्पों से विदित होता है । यद्यपि इस मूर्ति का निर्माण-काल-सूचक कोई लेख उत्कीर्णित नहीं; पर अनुमानतः यह ९वीं शताब्दी की होनी चाहिए । इस प्रतिमा की कला से भी उत्कृष्ट



कलात्मक बौद्ध और सनातनधर्मान्तर्गत सूर्य आदि की मूर्तियाँ इसी नगर में प्राप्त हुई हैं, जिन पर **पौनार तथा भद्रावती** में प्राप्त अवशेषों की कला का आंशिक प्रभाव है। उस समय मध्य-प्रान्त में बौद्धाश्रित कला का प्रचार था। जहाँ पर जिस कला-शैली का विकास हो, वहाँ के सभी सम्प्रदाय उक्त कला से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। इसीका उदाहरण प्रस्तुत प्रतिमा है। बौद्ध तत्त्वज्ञोंने इसे तत्त्वज्ञान का रूप देकर कला में समाविष्ट किया है। कहना न होगा कि ८वीं सदी में यह रूप सार्वत्रिक था। इस प्रतिमा का महत्व इसलिए भी है कि प्रान्त के किसी भी भू-भाग में इस प्रकार की जैन-प्रतिमा उपलब्ध नहीं हुई है।

इस प्रतिमा की प्राप्ति का इतिहास भी मनोरंजक है। यद्यपि हमें यह **सिरपुरस्थ गन्धेश्वरमहादेव** मठ के महन्त मंगलगिरिजी से प्राप्त हुई है; पर वे बताते हैं कि भीखमदास नामक पुजारी को कहीं खोदते समय बहुसंख्यक कलापूर्ण बौद्धप्रतिमाएँ एक विस्तृत पिटारे में प्राप्त हुई थीं।

उपसंहार

उपर्युक्त पंक्तियों के अतिरिक्त रीठी, घन्सौर, सिहोरा, नरसिंहपुर, बरहेठा, एलिचपुर आदि कई स्थान हैं, जहाँ जैनमूर्तियाँ आज भी प्राप्त होती हैं। “**मध्यप्रदेश का इतिहास**” के लेखक **श्रीयोगेन्द्रनाथ सील** की डायरियाँ-दैनन्दिनियाँ उनके पुत्र **श्रीनित्येन्द्रनाथ सील** के पास आज भी सुरक्षित हैं। मध्यप्रदेश और विशेषकर महाकोसल के जैन-पुरातत्त्व की कौनसी सामग्री कहाँ किस रूप में पायी जाती है, आदि अनेक महत्वपूर्ण ज्ञातव्य, उनमें संगृहीत हैं। मुझे आपने कुछ भाग बताया था, उसमें उल्लेख था कि आज से ५० वर्ष पूर्व घन्सौर में २५ से अधिक जैनमंदिर, सामान्यतः ठीक हालत में थे। पर अब तो वहाँ केवल कुछ भागों में खंडहर ही दिखाई पड़ते हैं। यदि सील साहब की डायरियाँ न होती तो आज उन्हें पहचानना कठिन ही था।

ऐसी ही एक दैनन्दिनी मुझे आज से ११ वर्ष पूर्व, नागपुर जैन मंदिर स्थित हस्तलिखित ग्रंथों के अन्वेषण करते समय प्राप्त हुई थी, जिसमें सिद्धक्षेत्र-पादलिप्तपुर के सत्रहवीं शती से २० शती तक के महत्वपूर्ण लेख संग्रहीत हैं। इनमें मध्यप्रदेश स्थित एलिचपुर के लेख भी हैं। यह संग्रह नागपुर के एक यति द्वारा २० शती के आदि चरण में किया गया था। मुझे बिना किसी संकोच के कहना पड़ता है कि जैन-मुनियों ने म. प्र. के इतिहास के



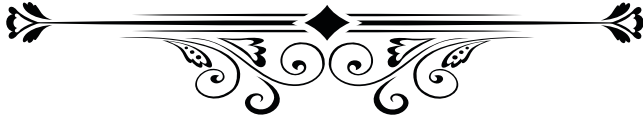
साधन बहुत कुछ अंशों में संभाल रखे हैं, इस प्रकार के अनेक साधन इधर-उधर बिखरे पड़े हैं, जिन्हें एकत्र करना होगा ।

पुरातत्त्वान्वेषण में छोटी-छोटी वस्तुएँ भी, किसी घटना विशेष के साथ संबंध निकल आने पर, महत्व की सिद्ध हो सकती हैं । कभी-कभी ऐसे साधन से बड़े-बड़े तद्भिदों को अपना मत परिवर्तन करना पडता है । अतः हमारु प्राथमिक कर्तव्य होना चाहिए कि ऐसे साधनों का सार्वजनिक दृष्टि से संग्रह करें और अन्वेषकों द्वारा प्रकाश डलवायें । ऐसे कार्यों की प्रगति के लिए शासन का मुँह ताके बैठे रहना व्यर्थ है ।

- १ अगस्त १९५२



महाकोसल का जैन पुरातत्त्व



महाकोसल मध्यप्रदेश का एक विभाग है। इसमें हिन्दी भाषी जिले सम्मिलित हैं। छतीसगढ़ डिवीजन का समावेश भी इसीके अन्तर्गत है। मध्यप्रदेश के प्राचीन इतिहास की दृष्टि से महाकोसल का विशेष महत्व है, सापेक्षतः प्राचीन ऐतिहासिक घटनाएँ निर्दिष्ट भू-भाग पर ही घटी हैं। एतद्विषयक ऐतिहासिक साधन इसी भू-भाग से प्राप्त हुए हैं। आज भी महाकोसल के वन एवं गिरिकन्दरा तथा खंडहरों में, भारतीय शिल्पस्थापत्य एवं मूर्तिकला के मुख को उज्ज्वल करनेवाली व इनके क्रमिक विकास पर कला की दृष्टि से-प्रकाश डालनेवाली मौलिक कलाकृतियाँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती ही रहती हैं। मुझे विशेष रूप से यहाँ की मूर्तिकला का अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, जब १२ वीं शताब्दी में अन्य प्रान्तों के कलाकार मूर्तिनिर्माण में शिथिल पड़ गये थे, उन दिनों यहाँ के कलाकार अपनी शिल्प-साधना में पूर्णतः अनुरक्त थे।

अन्य प्रान्तों की अपेक्षा महाकोसल में शिल्पकला की दृष्टि से अनुसन्धान कार्य बहुत ही कम हुआ है। जो हुआ है वह यहीं के बराबर है। जनरल कनिंहम^१ और राखालदास^२ बनर्जी आदि पुरातत्त्वविदों ने अवश्य ही प्रमुख स्थानों का निरीक्षण कर इतवृत्त की खानापूर्ति की है। परंतु जितने खानों का विवरण प्रकाशित किया गया है, उनसे भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान एवं अवशेष आज भी उपेक्षित पड़े हुए हैं, जिनकी ओर केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग एवं प्रान्तीय शासन ने आज तक ध्यान नहीं दिया; न देनेवाले सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहित ही किया, बल्कि तथाकथित व्यक्तियों के प्रति अभद्र व्यवहार किया गया। उचित अनुसन्धान के अभाव में महत्वपूर्ण जैन कलाकृतियों का प्रकाश में न आना सर्वथा स्वाभाविक है। जहाँ बिखरे हुए जैन-अवशेषों को देखकर तो ऐसा ही लगता है कि किसी समय महाकोसल जैन-संस्कृति का प्रधान केन्द्र रहा होगा। जैन-पुरातत्त्व के अवशेषों को समझने

१. आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, पुस्तक १७।

२. हैहयाज् ऑफ त्रिपुरी एण्ड देअर मान्यूमेन्ट्स।



में शुरु से विद्वानोंने बड़ी भूल की है। जैन-बौद्ध मूर्तिकला में जो अंतर है वे समझ नहीं पाते, इसी कारण महाकोसल की अधिकतर जैन-कलाकृतियाँ बौद्ध से पहचानी जाती है।

सरगुजा राज्य में लक्ष्मणपुर से १२ वें मील पर रामगिरि पर्वत पर जो गुफाएँ उत्कीर्णित हैं, उनमें कुछ भित्तिचित्र भी पाये गये हैं। रायकृष्णादासजी का मत है, इनमें से “कुछ चित्रों का विषय जैन था।” कारण कि पद्मासन लगाये एक व्यक्ति का चित्र पाया जाता है। इस गुफा में एक लेख भी उपलब्ध हुआ है। भाषा प्राकृत है। डॉ. ब्लाख के मत से इसका काल ईसवी पूर्व ३ शती जान पड़ता है। इस प्रमाण से तो यही प्रमाणित होता है कि उन दिनों श्रमणसंस्कृति का प्रभाव इस भूभाग पर अवश्य ही रहा होगा। पद्मासन^१ जैनतीर्थंकर की ही विशेष मुद्रा है। बौद्धों में इस मुद्रा का विकास बहुत काल बाद में हुआ है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि अशोक का एक स्तम्भ भी रूपनाथ में मिला है, जिस पर उनकी आज्ञाएँ खोदी गई हैं। तो बौद्ध संस्कृति का प्रतीक रूपनाथ और जैन-संस्कृति का रामगिरि^३ (रामटेक नहीं जैसा की

१. भारत की चित्रकला, पृ. २।

—चित्र के लिए देखें आ. स. इ. १९.३-४, पृ. १२३।

२. केटलोग ऑफ दि आर्कियोलोजिकल म्युजियम at Mathura by J. वोगल Ph.D., Allahabad.

३. श्री उग्रादित्याचार्यने अपना कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रन्थ भी शायद इसी रामगिरि पर रचा गया था।

वेंगीशत्रिकर्लिंगदेशजनन प्रस्तुत्यसानूत्कटः

प्रोद्यद्वृक्षलताविताननिरतैः सिद्धैश्च विद्याधरैः।

सर्वे मंदिरकंदरोपमगुहाचैत्यालयालंकृते

रम्ये रामगिराविदं विरचितं शास्त्रं हितं प्राणिनाम् ॥

इसमें रामगिरि के लिए जो विशेषण दिये गये हैं, गुहा मंदिर चैत्यालयों की जो बात कही है, वह भी इस रामगिरि के विषय में ठीक जान पड़ती है। कुलभूषण और देशभूषण मुनि का निर्वाणस्थान भी यही रायगढ है या उसके आसपास कहीं महाकोसल ही में होगा।

—जैन साहित्य और इतिहास, पृ. २१२

प्रेमीजी की उपर्युक्त कल्पना से मैं भी सहमत हूँ, कारण कि कालीदास वर्णित यही रामगिरि है। वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में शिलाचित्र एवं उसके खास शब्दों का उल्लेख आया है। ऊपर के सभी उल्लेख इसी स्थान पर



मिराशीजी मानते हैं) अतः ईसवी पूर्व ३री शती में जैन प्रभव महाकोसल में था ।

शिल्प-स्थापत्य कला की विकसित परंपरा को समझाने के लिए मूर्ति की अपेक्षा स्थापत्य अधिक सहायक हो सकते हैं । सम-सामयिक कलात्मक उपकरणों का प्रभाव स्थापत्य पर अधिक पड़ता है । महाकोसल में प्राचीन जैन-स्थापत्य बच ही नहीं पाये, केवल आरंग का एक जैनमंदिर बच गया है, वह भी इसलिए कि उसमें जैन मूर्ति रह गई है । यदि प्रतिमा न रहती तो इस जैन-प्रासाद का कभीका रूपांतर हो चुका होता । इस मंदिर की आयु भी उतनी नहीं है कि जो उपर्युक्त विशुंखलित परंपरा की एक कड़ी भी बन सके । तात्पर्य कि यह १०वीं शती के पूर्व का नहीं है । यहाँ पर जैन-अवशेष प्रचुर परिमाण में बिखरे पड़े हैं । परंतु जैन तीर्थमाला या किसी भी ऐतिहासिक ग्रंथ में आरंग की चर्चा तक नहीं है । हाँ, ९ शती पूर्व वहाँ जैन-संस्कृति का प्रभाव अधिक था, पुष्टि स्वरूप अवशेष तो है ही । एक और भी प्रमाण उपलब्ध है । यह वह कि आरंग से श्रीपुर-सिरपुर जंगली रास्ते से समीप पड़ता है । वहाँ पर भी जैन-अवशेष बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं । इनकी आयु भी मंदिर की आयु से कम नहीं है । ९वीं शताब्दी की एक धातु मूर्ति-भगवान ऋषभदेव मुझे यहीं से प्राप्त हुई थी । श्रीपुर इतःपूर्व बौद्ध संस्कृति का केन्द्र था । मुझे ऐसा लगता है जहाँ बौद्ध लोग फैले वहाँ जैन भी पहुँच गये । यह पंक्ति महाकोसल को लक्ष्य करके ही लिख रहा हूँ ।

आरंग के मंदिर को देखकर रायबहादुर डॉ. हीरालालजी ने कल्पना की है कि यहाँ पर महामेघवाहन खारवेल के वंशजों का राज्य रहा होगा । इससे फलित होता है कि ९वीं शताब्दी तक तो जैन-संस्कृति का इतिहास मिलता है,

चरितार्थ होते हैं । रामटेक में उल्लेखनीय शिलाचित्रण उपलब्ध नहीं होते । यदि रामटेक ही रामगिरि होता तो मध्यकालीन जैन-यात्री या साहित्यिक इसका उल्लेख अवश्य ही करते । इतना निश्चित है कि उपर्युक्त मुनियों का निर्वाणस्थान महाकोसल में ही था ।

१. महाकोसल में बहुत से ऐसे जैन-मंदिर के अवशेष व पूरे मंदिर पाये जाते हैं, जो अजैनों के अधिकार में हैं । कुछ ऐसे भी मंदिर हैं जो अद्यावधि पहिचाने नहीं गये । उदाहरणार्थ-रायबहादुर डॉ. हीरालाल ने मंडला-मयूख पृ. ७९ में कुकर्मा मठ की चर्चा करते हुए लिखा है कि “इस मंदिर की कारीगरी नवीं या १०वीं शताब्दी की जान पड़ती है । पुरातत्वज्ञ इस मंदिर को जैनी बतलाते हैं ।” बरेठा, बिलहरी और बडगाँव में ऐसे मंदिर व अवशेषों की कमी नहीं है ।



जो निर्विवाद है। परंतु भित्तिचित्र से लगाकर ८वीं सदी के इतिहास साधन नहीं मिलते। भारतीय इतिहास के गुप्तकाल में महाकोसल काफी ख्याति अर्जित कर चुका था। **इलाहाबाद** का लेख और **एरण** के अवशेष इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

उपलब्ध शिल्पकला के आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ८ और ९वीं शताब्दी से जैन शिल्पकला का इतिहास प्रारंभ होता है। गुफाचित्रों से लगाकर आठवीं शती तक का भाग अन्धकारपूर्ण है। इसका कारण भी केवल उचित अन्वेषण का अभाव ही जान पड़ता है।

कलचुरियों के समय जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य-कला का अच्छा विकास हुआ। वे शैव होते हुए भी परमतसहिष्णु थे। जैनधर्म को विशेष आदर की दृष्टि से देखते थे। कलचुरि **शंकरगण** तो जैनधर्म के अनुयायी थे, इनने **कुल्पाकक्षेत्र** में १२ गाँव भी भेंट चढ़ाये थे। इनका काल ई.स. सातवीं शती पड़ता है। महाकोसल में सर्वप्रथम **कोकल्ल** ने अपना राज्य जमाया। **त्रिपुरी-तेवर** इनकी राजधानी थी। कलचुरियों का पारिवारिक संबंध दक्षिणी राष्ट्रकूट शासकों के साथ था। राष्ट्रकूटों पर जैनों का न केवल प्रभाव ही था, बल्कि उनकी सभा में जैन विद्वान भी रहा करते थे। महाकवि **पुष्पदंत** राष्ट्रकूटों द्वारा ही आश्रित थे। **अमोघवर्ष** ने तो जैन-धर्म के अनुसार मुनित्व भी अंगीकार किया था, ऐसा कहा जाता है। यद्यपि **बहुरीबंद** आदि कुछेक स्थानों की जैन-मूर्तियों को छोड़कर कलचुरि-काल के लेख नहीं पाये जाते, बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो कलचुरिकालीन जैन शिल्प-कृतियों को छोड़कर, शिलोत्कीर्णित लेख अत्यल्प ही पाये गये हैं, परंतु लेखों के अभाव में उसी समय की उन्नतिशील जैन-संस्कृति के व्यापक प्रचार के प्रमाण काफी हैं।

जैन-मूर्तियों के परिकर एवं तोरण तथा कतिपय स्तंभों पर खुदे हुए अलंकरणों के गंभीर अनुशीलन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन पर कलचुरिकाल में विकसित, तक्षणकला का खूब ही प्रभाव पड़ा है, कुछेक अवशेष तो विशुद्ध महाकोसल के ही हैं। कृतियाँ भिन्न भले ही हों, पर कलाकार तो वे ही थे या उनकी परंपरा के अनुगामी थे। निर्माण-शैली और व्यवहृत पाषाण ही हमारे कथन की सार्थकता प्रमाणित कर देते हैं। यहाँ के इस काल के जैन, बौद्ध और वैदिक अवशेषों को देखने से ज्ञात होता है कि यहाँ के कलाकार स्थानीय पाषाणों का उपयोग तो कलाकृतियों के निर्माण में करते ही थे, पर कभी-कभी युक्त प्रान्त से भी पत्थर मंगवाते थे। कलचुरिकाल के पत्थर की मूर्तियाँ



अलग से ही पहचानी जाती है ।

९ से १३वीं शती तक के जितने भी जैन-अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनमें से बहुतों का निर्माण **त्रिपुरी और बिलहरी** में हुआ होगा । कारण दोनों स्थानों पर जैन-मूर्तियाँ आदि अवशेषों की प्रचुरता है । कैमोर के पत्थर की जैन प्रतिमाएँ प्रायः **बिलहरी** में मिलती हैं और बिलहरी के ही लाल पत्थर के तोरण भी पर्याप्त मिले हैं । लाल पत्थर पानी से खराब हो जाता है, प्रक्षाल की सुविधा के लिए कलाकारों ने मूर्ति-निर्माण में कैमोर का भूरा और चिक्कण पत्थर व्यवहृत किया है ।

प्रसंगतः सूचित करना आवश्यक जान पड़ता है, कि जिस प्रकार कलचुरियों के समय में महाकोसल के भू-भाग में उत्तमोत्तम जैनकलाकृतियों का सृजन हो रहा था, उसी समय **जैजाकभुक्ति-बुंदेलखण्ड** में चंदेलों के शासन में भी जैनकला विकास की चोटी पर थी । आज की शासन-सुविधा के लिए जो भेद सरकार ने किये हैं, इससे महाकोसल और बुन्देलखंड भले ही पृथक् प्रदेश जँचते हों, परंतु जहाँ तक संस्कृति और सभ्यता का सवाल है, दोनों में बहुत ही सामान्य अंतर है, यानी **जबलपुर और सागर** जिले तो एक-प्रकार से सभी दृष्टि से बुन्देलखंड ही हैं । सामीप्य के कारण कलात्मक आदान-प्रदान भी खूब ही हुआ है । मुझे बुन्देलखंड में बिखरे हुए कुछेक जैनावशेषों के निरीक्षण का अवकाश मिला है, मेरा तो इस पर से यह मत और भी दृढ़ हो जाता है कि कला के उपकरण और अलंकरण तथा निर्माणशैली-दोनों में साधारण अंतर है । अधिक अवशेष, दोनों प्रदेशों में एक ही शताब्दी में विकसित कला के भव्य प्रतीक हैं ।

बुन्देलखंड के जैन-अवशेषों का बहुत बड़ा भाग तो, वहाँ के शासकों की अज्ञानता के कारण, बाहर चला गया, परंतु महाकोसल के अवशेष भी बहुत काल तक बच सकेंगे या नहीं, यह एक प्रश्न है । दुर्भाग्य से इतिहास और कला के प्रति अभिरुचि रखनेवाले कुछेक व्यक्ति, जिसमें जैन भी सम्मिलित हैं, सीमा पर हैं, जो इन पवित्र अवशेषों को दूसरे प्रान्तों में विक्रय किया करते हैं । यह घृणित कार्य है । वे अपनी संस्कृति के साथ महाअन्याय कर रहे हैं । इस ओर शासन का मौन खेद व आश्चर्यजनक है ।

स्थापत्य

यहाँ पर पाये जानेवाले जैन-अवशेषों को दो भागों में, अध्ययन की



सुविधा के लिए विभक्त किया जा सकता है—स्थापत्य और मूर्तिकला । स्थापत्य अवशेषों में आरंग के मंदिर को छोड़कर और कृति मेरी स्मृति नहीं है । हाँ, त्रिपुरी, बिलहरी और बडगाँव आदि स्थानों में कुछ स्तम्भ ऐसे पाये गये हैं, जिन पर स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, मीन-युगल और कुंभ-कलश आदि चिह्न अवश्य ही पाये जाते हैं । निस्संदेह इनका संबंध जैनधर्म से है । ये स्तंभ जैनप्रासाद के ही रहे होंगे । गवेषणा करने पर इस प्रकार के अन्य प्रतीक भी मिल सकते हैं । विशाल जैनप्रासादों के कुछ कलापूर्ण तोरण भी उपलब्ध हुए हैं । उदाहरण-स्वरूप दो के चित्र भी दिये जा रहे हैं । कुछ अवशेष मान' स्तंभ के भी प्राप्त हुए हैं । इन अवशेषों से फलित होता है कि महाकोसल में जैनमंदिर अवश्य ही रहे थे, पर विन्ध्यप्रान्त के समान यहाँ भी अजैनों द्वारा अधिकृत कर लिये गये या विनष्ट कर दिये गये । उपर्युक्त समस्त प्रतीक स्थापत्य कला से ही संबंध है । जैन स्थापत्य पर विपुल सामग्री के अभाव में अधिक क्या लिखा जा सकता है ।

मूर्तिकला

महाकोसल में जितनी भी प्राचीन जैन प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे सभी प्रस्तोत्कीर्णित हैं । कलाकार को अपने भावों को मूर्तरूप देने के लिए पत्थर में काफी गुंजाइश रहती है । धातु मूर्ति, आज तक केवल एक ही ऐसी उपलब्ध हुई है, जो कलचुरी पूर्व विकसित मूर्तिकला की देन है । १९४५ पंद्रह दिसंबर को मुझे श्रीपुर के एक महन्त ने भेट स्वरूप दी थी । इसमें ग्रहों का अंकन स्पष्ट था । पाषाण पर खुदी हुई जिनप्रतिमाएँ दो प्रकार की मिली हैं—एक सपरिकर पद्मासन एवं अपरिकर या सपरिकर खड्गासन । सपरिकर पद्मासनस्थ जिनप्रतिमाओं में सर्वश्रेष्ठ मूर्ति भगवान ऋषभदेव की है जो हनुमानताल स्थित जैनमंदिर में सुरक्षित है । शिल्प की दृष्टि से इसका परिकर इतना सुंदर एवं भावपूर्ण बन पड़ा है कि इस कोटि का एक भी दूसरा परिकर महाकोसल में दृष्टिगोचर नहीं हुआ । कलाकार की सूक्ष्म भावना, उदात्त विचार-गांभीर्य एवं बारीक छैनी का आभास उसके एक-एक अंग में परिलक्षित होता है । यह

१. दिगम्बर जैनमंदिरों के सम्मुख मानस्तंभ स्थापित करने की प्रथा मध्यकाल के कुछ पूर्व की प्रतीत होती है ।

२. चित्र देखिए विशाल भारत १९४६ सितम्बर, पृ. १४९ ।

३. यह मूर्ति त्रिपुरी से ही लायी गयी है । कला की दृष्टि से यह कलचुरि कला का अभिमान है ।



परिकर अन्य मूर्तियों के उपकरण से कुछ भिन्न जान पड़ता है। जैन प्रतिमाओं के विभिन्न परिकर एवं उपकरणों का सूक्ष्म अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनके निर्माता शिल्पियों ने अजैन तत्वों का भी प्रवेश करा दिया है। यानी अष्टप्रातिहार्य, यक्ष-यक्षिणी एवं उपासक दंपति तथा ग्रहों को छोड़कर अन्य भाव अजैन मूर्तिकला में विकसित परिकरों के समान मिलते हैं। इसे प्रान्तीय प्रभाव भी कहना चाहिए।

परिकरहीन पद्मासनस्थ प्रतिमाएं भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हुई हैं जिनमें से कुछेक तो निस्संदेह कला एवं अंगोपांगो की क्रमिक रचना का उत्तम प्रतीक है। एक प्रतिमा ऐसी भी प्राप्त हुई है। जिसका परिकर केवल नवग्रहों से ही बना है। चित्र प्रबंध में दिया जा रहा है।

खड्गासन की परिकरयुक्त प्रतिमाओं में कला की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट मूर्ति जो मुझे ज़ची उसका चित्र एवं विवरण प्रस्तुत निबंध में दिया जा रहा है। आरंग के वर्णित मंदिर में वैविध्य की दृष्टि से एक परिकरयुक्त त्रिमूर्ति विराजमान है। उसे देखने से ऐसा लगता है कि कलाकार के हाथ अवश्य सुदृढ़ रहे होंगे, पर मानस दुर्बल था। भोंडी रेखाएँ टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियों की वहाँ भरमार है। किसी शैली से आंशिक मिलता-जुलता एक त्रिमूर्तिपट्ट मुझे बिलहरी से प्राप्त हुआ है। बड़े परिताप के साथ लिखना पड़ रहा है कि इसे एक ब्राह्मण ने अपने गृह के आगे सीढ़ी में लगा रखा था परिकरविहीन खड्गासन मूर्तियाँ स्वतंत्र एवं मंदिर के स्तंभों में पाई जाती हैं।

प्रासंगिक रूप से एक बात का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है कि महाकोसल के कलाकार बहुसंख्यक मूर्तियों के परिकर का निर्माण इस प्रकार करते थे कि उसमें संपूर्ण मंदिर की अभिव्यक्ति हो सके। शिखर, आमलक और कलश की रेखाएँ स्पष्ट खोदी जाती थीं। जैनमूर्तिकला भी इस व्यापक प्रभाव से अछूती न रह सकी। यही कारण है कि मंदिर के आगे लगाये जानेवाले तोरणांतर्गत मूर्तियों में भी उपर्युक्त भावों का व्यक्तिकरण बड़ी सफलता के साथ हुआ है। यह विशुद्ध महाकोसलीय रूप जान पड़ता है। सिंहासन शब्द सर्वत्र प्रसिद्ध है, परंतु महाकोसल में वह इतना व्यापक मूर्तरूप धारण कर चुका है कि प्रत्येक मूर्ति के बैठक स्थान के नीचे सिंह की आकृति अवश्यमेव मिलेगी ही।

यों तो यक्षिणियों की प्रतिमाएँ परिकर में सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होती हैं, परंतु महाकोसल प्रान्त में न केवल स्वतंत्र विविध भावों को लिये हुए



यक्षिणियों की मूर्तियाँ निर्मित ही होती थीं, अपितु इनके स्वतंत्र मंदिर भी बना करते थे। लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जैन-अजैन जनता मनौती भी किया करती थी। ऐसा एक मंदिर **कटनी** तहसील स्थित **बिलहरी** ग्राम के विशाल जलाशय पर बना हुआ है। मंदिर अभिनव जान पड़ता है, परंतु गर्भगृहस्थित चक्रेश्वरी की मूर्ति १२ वीं शती के बाद की नहीं है। मस्तक पर भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा विराजमान है। प्रथम तीर्थंकर की अधिष्ठात्री देवी का यह मंदिर आज अजैनों की खैरमाई या खैरदैय्या बनी हुई है। इसी प्रकार **अंबिका** और **पद्मावती** की प्रतिमाएँ भी मिलती हैं। इनके मस्तक पर क्रमशः नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के प्रतीक रहते हैं।

खंडित मस्तक

उपर्युक्त पंक्तियों में अखंडित या कम खंडित मूर्तियों पर विचार किया गया है। मुझे अपने अन्वेषण में केवल त्रिपुरी ही दो दर्जन से अधिक जैनप्रतिमाओं के मस्तक प्राप्त हुए हैं। संभव है धड़ों को लोगों ने शिला बनाने के काम में ले लिया हो। लड़ैया जाति का यही व्यवसाय है। इनके पूर्वज उत्कृष्ट शिल्पकला के निर्मापक थे। उन्हीं के वंशज उन्हीं की कलाकृतियों के ध्वंसक बने हुए हैं। समय की गति बड़ी विचित्र होती है।

जिन मस्तकों की चर्चा की है, वे खड्गासन एवं पद्मासन दोनों प्रतिमाओं के हैं। कुछ लोग आवश्यक ज्ञान की अपूर्णता के कारण, या मस्तक के घुंघराले बालों के कारण तुरंत राय दे बैठते हैं कि ये मस्तक बौद्ध प्रतिमाओं के हैं। किंतु मैं सकारण ऐसा नहीं मानता। कारण स्पष्ट है कि उत्तर महाकोसल में बौद्ध की अपेक्षा जैन-मूर्तियाँ ही अधिक प्राप्त हुई हैं। दक्षिण महाकोसल में अवश्य ही बौद्ध-प्रतिमाओं की बहुलता है। दूसरा कारण यह भी है कि कुछ धड भी ऐसे प्राप्त हुए हैं, जिन पर सर ठीक से बैठ गये हैं। इन दो कारणों के अतिरिक्त तीसरा यह भी कारण है कि बौद्ध-प्रतिमाएँ अक्सर जीवन की विशिष्ट घटनाओं से परिपूर्ण रहती हैं।

प्रभावली का अंकन भी निश्चय करके रहता है, जब कि कुछेक जैन प्रतिमाएँ प्रभावली-विहीन पाई गई हैं। मस्तक का पिछला भाग साक्षी-स्वरूप

१. विन्ध्यप्रदेश में जिन-मूर्तियों के धड ही अधिक संख्या में मिलते हैं, कारण कि मस्तक की कुंडियाँ बना दी जाती हैं और कहीं-कहीं शिवलिंग के स्थान में, उल्टे स्थापित कर डाले जाते।



विद्यमान है। परिकर विहीन मूर्ति के मस्तक अलग से ही पहचाने जाते हैं, उनका पिछला भाग चपटा रहता है। सपरिकर का अव्यवस्थित।

महाकोसल के जैन-पुरातत्त्व का सामान्य परिचय ऊपर की पंक्तियों में मिल जाता है। मैंने ऊपर सूचित किया है कि अभी तक इस प्रान्त में समुचित रूप से अनुशीलन हुआ ही नहीं है। अभी तो सैकड़ों खंडहर ऐसे-ऐसे पड़े हैं, जिनमें सुंदर से सुंदर कलापूर्ण जैनपुरातत्त्व की प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है, दुर्भाग्य से केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग को इसकी चिन्ता है, न प्रान्तीय सरकार को। समाज तो इस ओर उदासीन है ही। मेरा तो निश्चित मत है कि गवेषणा करवाई जाय जो जैनाश्रित शिल्पकला के वैविध्य का ज्ञान अवश्य होगा। १०-१२ जगह से मुझे सूचना भी मिली है कि मैं वहाँ आकर जैनमूर्तियाँ उठा ले आऊँ! पर पाद-विहार करनेवाले के लिए यह संभव कैसे हो सकता है?

अपने परमपूज्य गुरुदेव उपाध्याय मुनि **श्रीसुखसागरजी महाराज एवं ज्येष्ठ गुरुभ्राता मुनि श्रीमंगलसागरजी महाराज** के साथ विहार करते हुए मार्ग में जो-जो पुरातत्त्व की सामग्री अनायास व अयाचित रूप से मिल गई, उनका संग्रह अवश्य हो गया है। इस संग्रह में जैनाश्रित कला के उच्चतम प्रतीक ही अधिक हैं। मैं प्रस्तुत निबंध में उनमें से, जो कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, वैविध्य को लिये हुए हैं और जो अभूतपूर्व कृतियाँ हैं, उन्हीं का परिचय दे रहा हूँ।

खड्गासन जिन-मूर्ति

प्रतिमा ५२.५" ऊँची है। सपरिकर इसकी चौड़ाई १५.५" है। इस प्रतिमा में प्रधान मूर्ति एकदम अप्रधान है। क्योंकि शिल्प-स्थापत्य की दृष्टि से उसमें शरीर रचना की सामान्यता के अतिरिक्त और कोई कलात्मक तत्त्व ध्यान आकृष्ट नहीं करता और न हमारी विवेचन बुद्धि को ही उद्बुद्ध करता है। अतः हम मुख्य मूर्ति की अपेक्षा परिकर की ओर ही विशेष ध्यान देंगे। यह परिकर निस्संदेह सुंदर है और मूर्तिकला की दृष्टि से क्रान्तिकारी परिवर्तनों का द्योतक है। साधारणतः परिकर में अष्टप्रतिहारियों या तीर्थकरों के जीवन की विशिष्ट घटनाएँ या जिन मूर्तियाँ ही खोदी जाती हैं, परंतु यहाँ इनके सिवा भी अन्य सुंदर और व्यापक कलात्मक उपकरणों और शैलियों को अपना लिया गया है।

मूर्ति के चरणों के दोनों ओर उभय पार्श्वदों के अतिरिक्त मूर्ति-निर्माता



दंपति अवस्थित है। चारों के मुख बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गये हैं। यद्यपि इनकी शरीरकृति सुघडता एवं तदुपरि वस्त्राभूषणों का खुदाव काफी बारीकी से किया गया है। आभूषण सापेक्षतः छोटे होने के कारण कलाकार की कुशल छैनी का परिचय दे रहे हैं, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। दोनों ग्रासों के ऊपर चौकी है और चौकी पर चदर का छोर खुदा हुआ है। जिस पर जिन खडे हुए हैं। व्याल के बायें-दायें यक्ष-यक्षिणी बहुत स्पष्ट एवं सुंदर भावमुद्रा में उत्कीर्णित हैं। चतुर्मुखी यक्ष के दाहिने हाथ में दण्डयुक्त कमल एवं आशीर्वाद मुद्रा तथा बायें हाथ में बीजपूरक और परशु के समान एक शस्त्र है। गले में हार और कटि प्रदेश में करधनी ही मुख्य आभूषण हैं। जटाजूट की ओर ध्यान देने से शैव प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है और यह स्वाभाविक भी है। कलचुरि और चन्देल वंश के राजा परम शैव थे और बुन्देलखंड तथा महाकोसल में शैव संस्कृति काफी उन्नत रूप में थी। अन्य पुरातन कलावशेषों के निरीक्षण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

मूर्ति के बायें ओर सब से नीचे यक्षिणी, यक्ष के समान ही आभूषणों को धारण किये बैठी है। अंतर केवल इतना ही है कि जहाँ यक्ष के बायें हाथ में बीजपूरक है, वहाँ इसके बायें हाथ में कलश अवस्थित है। केश राशि भी शैव प्रभाव से युक्त है। वस्त्रों की रचना सुंदर है। प्रस्तुत प्रतिमा पंचतीर्थी की है क्योंकि ऊपर-नीचे चारों ओर चार खड्गासनस्थ उत्कीर्णित हैं-पार्श्वदों की उभय ओर एवं दो मूर्ति के उपर भाग के छत्र के निकट।

यक्षिणी के उपर एक खड़ी जिन मूर्ति के उपर एक रेखा सीधी गई है, जिसमें निम्नलिखित विभिन्न अलंकरणों का खुदाव कला एवं विविधता की दृष्टि से आकर्षक एवं अपेक्षाकृत कुछ नूतनत्व को लिए हुए है। गुप्तकालीन स्तम्भों में जिस प्रकार की बोझ से दबी हुई आकृतियाँ पाई जाती हैं, ठीक उन्हीं आकृतियों का अनुकरण इस प्रतिमा में किया जान पड़ता है। दोनों हाथ ऊपर की ओर उठे हुए हैं, जो स्पष्टतः इस प्रकार के हैं मानो कि ऊपर का वजन संभालने में व्यस्त है। भुजाओं के ऊपर से नागावलि की रेखा स्पष्ट है इसीलिए सीना भी बाहर तन गया है जो इस बात का सूचक है कि व्यक्ति पर काफी बोझ पड़ रहा है। ये कीचक कहे जाते हैं।

इसके ऊपर अगले पाँवों के आसरे एक हाथी की प्रतिमा खुदी हुई है। तदुपरि एक सुकुमार बालक बना हुआ है। ध्यान देने की बात यह है कि ओठों की रचना कलाकारों ने कुछ ऐसे कौशल से की है कि बालक, पुरुष



और स्त्री की विभिन्नता उनसे सहज ही स्पष्ट हो जाती है। इस बालक की ओष्ठ रचना में भी वही बात है। बालक के पीछे कुछ बेल-बूटे उत्कीर्णित हैं। बालक के ऊपर व्याल की मूर्ति बनी है जो बहुत बारीकी से गढ़ी जान पड़ती है क्योंकि उसके दाँत तक गिने जा सकते हैं। प्रधान प्रतिमा के दूसरी ओर भी यही खुदाव है।

प्रभावली सामान्य है। दोनों ओर मंगल मुख खुदे हुए हैं। उनके हाथों में माला है जो पहनने की तैयारी के प्रतीक स्वरूप है। मस्तक के ऊपर तीन छत्र एवं तदुपरि मृदंग बजाता हुआ एक यक्ष है। दोनों ओर हाथी खड़े हैं। सबसे ऊपर दो पत्नियाँ निकली हुई हैं जो अशोक वृक्ष की होनी चाहिए। इस प्रकार अष्टप्रतिहारी-युक्त प्रस्तुत प्रतिमा १२ वीं शती की होनी चाहिए। पत्थर भरेपन को लिये हुए हैं।

यह मूर्ति मुझे बिलहरी की एक सर्वथा खंडित व अरक्षित वापिका से प्राप्त हुई थी। वापिका के भीतर के चारों आलों में चार जिन-मूर्तियाँ थीं इनमें से एक तो शायद **स्व. रा. ब. डॉ. हीरालालजी** कटनीवाले ले आये थे, उनके निवासस्थान के बगीचे में पड़ी हुई है।

तोरणद्वार

स्पष्टतः यह किसी जैनमंदिर का तोरणद्वार है। इसकी लंबाई ऊँचाई ३०" X २४" है। ११" गहरा है। यह तोरण एक पूर्ण मंदिर की आकृति ही है। जो अवशेष प्राप्त है, वह पूर्ण आकृति का तीन चौथाई अंश है, जिसमें केन्द्र भाग साबित आ गया है। इसके केन्द्र भाग में पद्मासनस्थ जिनमूर्ति उत्कीर्णित है। जिनके उभय ओर दो पार्श्वद चँवर एवं पुष्प लिये खड़े हैं, तदुपरि पुष्पमालाएँ लिये दो नागकन्याएँ गगनविहार कर रही हैं। कलाकार ने इन नागकन्याओं के ऊपर दो गजों का निर्माण किया है। दोनों गजों की शुण्डाएँ आगे की ओर उठ-उठकर आपस में अपने आसरे छत्र संभाले हुए हैं। उस छत्र की स्थिति जिनमूर्ति के शिरोभाग के बिल्कुल ऊपर है। प्रधान मूर्ति पर एक चौकी विराजमान है। चौकी के ऊपर, जैसा अन्यत्र सभी जगह देख पड़ेगा, एक चादर का मुख्य अंश जमा हुआ है, उस प्रकार की पद्धति का विकास महाकोसल एवं सन्निकटवर्ती प्रतिमाओं की अपनी विशेषता है। चौकी के निम्न भाग में उभय ओर मंगल मुख बने हैं। सभी जैन मूर्तियों में ये मंगलमुख बने रहते हैं। प्रधानमूर्ति के दायें-बायें अधिष्ठाता-अधिष्ठात्री अंकित



है। अंकन इतना अस्पष्ट और कला-विहीन है कि निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये किस तीर्थकर से संबंधित है। कलाकार ने इन दोनों के वाहन और आयुध स्पष्ट नहीं किये हैं। जिनसे कि उनका निश्चय करने में सहायता मिले।

प्रतिमा के मस्तक पर भी एक Arch महाराब में जिनमूर्ति उत्कीर्णित है। इसके पीछे सम्पूर्ण शिखर का स्मरण दिलाने की आकृतियाँ उत्कीर्णित हैं। आमलक, अण्डा और कलशतक स्पष्ट हैं। कहने का तात्पर्य की तोरण की मध्यभाग वाली मूर्ति ऊपर की एक आकृति को मिलाकर एक मंदिर के रूप में दिखलाई पड़ती है। इस शिखर के ऊपर भी कुछ आकृति अवश्य जान पड़ती है, परंतु खंडित होने से निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि किसका प्रतीक होगा? अनुमानतः वह ध्वज का चिह्न होना चाहिए। तोरण में और भी त्रिगंडा एवं एक अष्टाप्रतिहारी मूर्तियाँ हैं। कला की दृष्टि से उनका विशेष महत्व नहीं, अतः स्वतंत्र उल्लेख अनावश्यक है।

इस तोरण का महत्व केवल धार्मिक दृष्टिमात्र से नहीं। इसमें जो विभिन्न अलंकरण, डिजाइन तथा सुरुचिपूर्ण बेल-बूटे कढ़े हुए हैं, वे अत्यंत सुंदर और कलापूर्ण हैं। इसमें रेखागणित की किन्हीं रेखाओं की छटा भी खिंच आई है। तोरण के मध्य भाग में एक बालक मकरारूढ है। मकर और आरोही की मुखाकृति बड़ी सुघड है। अन्य अलंकरणों में मगध शैली के अनुरूप दो दीपक गढ़े गये हैं। मगध और महाकोसल के पारस्परिक कलात्मक आदान-प्रदान की परंपरा स्पष्टतः इन दीपकों में झलकती है।

प्रश्न है कि प्रस्तुत तोरण का निर्माण-काल क्या हो सकता है? तद्विषयक किसी स्पष्ट सूचना अथवा लेख के अभाव में यह निश्चित संदिग्ध ही रहेगा। हाँ, मूर्ति का प्रस्तर एवं मूर्तियों के उभय पार्श्वदों में जो स्तम्भ बने हैं, वे कुछ सूचनाएँ देते हैं। बेलों के डिजाइन भी कुछ संकेत करते हैं। ऐसे स्तंभ बुन्देलखंड के अन्य कतिपय मंदिरों में पाये गये हैं। इन मंदिरों की ओर उनके स्तंभ की रचना १२वीं अथवा १३वीं शती की मानी जाती है। अतः बहुत संभव है कि यह तोरण भी उसी युग की रचना हो। इस प्रकार का प्रस्तर भी १२वीं और १३वीं शती में ही व्यवहृत होने लगा था। यद्यपि बिलहरी के तोरण को देखकर कल्पना तो इसी पत्थर की हो सकती है, परंतु उसमें और इसमें सब से बड़ा बाह्य वैषम्य यही पड़ता है कि बिलहरीवाला पत्थर घिसने में कोमल और क्षरणशील है जब कि यह कठोर और Brittle कड़कीला।



तोरण का यह अंश मुझे त्रिपुरी की एक वृद्धाने भेंट स्वरूप दिया था, इनके पास और भी कलाकृतियाँ सुरक्षित हैं, खासकर नवग्रहों की मूर्ति तो अतीव सुंदर कृति हैं।

जैन तोरण

सापेक्षतः यह जैन-तोरण-द्वारा अधिक कलात्मक एवं संपूर्ण है। पूरा तोरण ५५" × ११" विस्तृत है। सब मिलाकर ९ मूर्तियाँ हैं जिनमें ३ जैन तीर्थंकरों की हैं। मध्यम भाग में पद्मासनस्थ जिन एवं एक गवाक्ष के अंतर पर दोनों ओर खड्गासनस्थ दो दूसरे तीर्थंकर हैं। इसके अतिरिक्त ५ शासन देवी और एक यक्ष भी उत्कीर्णित हैं। मध्य-स्थित प्रभावलीयुक्त जिन-मूर्ति के दोनों ओर भक्त आराधना में अनुरक्त बताये गये हैं। दायीं ओर के समीपतम भाग में चतुर्भुजी देवी है। इनके दो हाथों में सदंड कमल है जो क्रमशः दायें-बायें हैं। तीसरा हाथ जो दायाँ है, आशीर्वाद मुद्रा में है। चौथे हाथ में बीजपूरक धारण किये हुए है। दायीं ओर की दूरतम शासन देवी भी चतुर्भुजी है और समान रूप से दूसरी जैसी ही है। जिस यक्ष का उल्लेख ऊपर किया गया है, वह कुबेर ही जान पड़ते हैं, जो तोरण की दायीं ओर से प्रथम ही उत्कीर्णित है। इनके बायें हाथ में सर्प एवं दायें हाथ में मोदक रखा हुआ है। पिछली ओर कलाकार ने पत्तियों सहित छोटी-मोटी-तरु-शाखाओं का प्रदर्शन किया है। यों तो इस प्रकार की आकृतियाँ सभी मूर्तियों के पृष्ठ भाग में अंकित हैं, परंतु इनका अंकन अधिक स्पष्ट और स्वाभाविकता को लिये हुए है।

मध्य भाग के बायीं ओर चलने पर पहली शासनदेवी फिर चतुर्भुजी है। दाहिने हाथ में शंख और बायें हाथ में उत्कीर्णित है। अतिरिक्त दो हाथों में कुछ, फल जैसी आकृति अंकित है, परंतु खंडित होने के कारण निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे क्या लिये हुए हैं। दूसरी शासनदेवी द्विभुजी ही है। यह स्पष्टतः अंबिका है, क्योंकि बायें हाथ में शिशु एवं दाहिने हाथ में आम्रलुम्ब धारण किये हुए है। यद्यपि अंबिका के दो बच्चे होने चाहिए एवं सिंह-वाहन भी अपेक्षित था, परंतु महाकोसल और तन्निकटवर्ती प्रदेश में अंबिका की दर्जनों ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें दोनों का ही स्पष्ट अभाव है। आम्रलुम्ब मात्र से निसंदेह यह अंबिका ही सिद्ध होती है। अंतिम शासनदेवी के दायें हाथ में सदण्ड कमल है, एवं दूसरा हाथ जमीन को छुए हुए है।

इस प्रकार इतनी मूर्तियोंवाले तोरण भारत में कम ही उपलब्ध होते हैं।



इस तोरणद्वार के उपरिभाग वाले हिस्सों में खुदी हुई देवियों की विभिन्न मूर्तियों से हम एक बात की कल्पना कर सकते हैं कि उन दिनों की जैन-जनता देव-देवियों में अधिक विश्वास करती थी। यदि ऐसा न हुआ तो इसमें जिन-प्रतिमाओं का प्राधान्य रहता।

इस तोरण का महत्व जैन-पुरातत्त्व की दृष्टि से तो है ही, साथ ही साथ शिल्पकला की दृष्टि से भी इसका विशेष मूल्य है। प्रत्येक मूर्तियों के उपरि भाग में जो आकृतियाँ उत्कीर्णित हैं वे किसी मंदिर का मधुर स्मरण दिलाती हैं। उनके अलंकरण, भिन्न-भिन्न बेल-बूटे भी सामान्य होते हुए भी इसके सौन्दर्य का संवर्धन करते हैं। मगध की प्रतिमाओं का एवं शिल्पकला में व्यवहृत आकृतियों का प्रभाव इस पर स्पष्ट है। प्रत्येक मूर्ति का उत्खनन इस प्रकार हुआ है, मानो स्वतंत्र मंदिर ही हों, कारण कि प्रत्येक मूर्ति के आगे के भाग में दोनों ओर सुंदर स्तम्भों का खुदाव दृष्टि आकर्षित कर लेता है। १२ वीं शती की यह रचना होनी चाहिए। यद्यपि उपर का कुछ भाग खंडित हो गया है, परंतु सौभाग्य इस बात का है कि मूर्ति प्रतिमाओं के भाग बिलकुल ही अखंडित है।

जानकर आश्चर्य होगा कि यह अंश मार्ग में ठोकरें खाता था और घरवाले इस पर गोबर थापते रहते थे। यद्यपि कटनी के पुरातन वस्तुविक्रेता इसे भी अन्य अवशेषों की तरह हडपने की चेष्टा में थे, पर वे असफल रहे। अब मेरे संग्रह में है।

ऋषभदेव : संवत् ९५१

प्रस्तुत प्रतिमा साधारण फर्शी का भूरा पत्थर है, वैसे इस प्रतिमा का कोई खास विशेष सांस्कृतिक अथवा कलात्मक विकास नहीं जान पड़ता, किंतु इसमें जो संवत् ९५१ के अंक एवं लिपि में जो अन्य शब्द हैं, वे काफी भ्रामक हैं। संवत् ९५१ ज्येष्ठ सुदी तीज इन शब्दों को देखकर पुरातत्त्व का सामान्य विद्यार्थी एकदम प्रतिमा को दसवीं शती की रचना कह देगा। तिथि इतनी स्पष्ट है, परंतु अन्य कसौटियों से कसे जाने पर यह मत असत्य सिद्ध होगा। तिथि भले ही सापेक्षित प्राचीनता की परिचायक हो, पर जिस लिपि में यह तिथि अंकित है, वह तो स्पष्टतः बाद की लिपि है। ऐसी लिपि का बारहवीं शती में व्यवहृत होना इतिहास और लिपि शास्त्र की दृष्टि से सिद्ध है। अतः यह लिपि १२वीं शती की ही है तो फिर क्या कारण है कि १२वीं शती की प्रतिमा में



संवत् ९५१ खोदा जावे । इसका उत्तर भी उतना स्पष्ट है । यह विक्रम संवत् नहीं बल्कि कलचुरि संवत् है । जिसका प्रयोग कलचुरि कालीन महाकोसल में होना अति साधारण और स्वाभाविक है । कलचुरि संवत् ईस्वी सन् २४८ में प्रारंभ हुआ जो ठीक उपरोक्त लिपि का ही समर्थन करती है ।

एक बात और प्रस्तुत प्रतिमा को ऋषभदेव की प्रतिमा मानने के दो कारण हैं । आसन के अधोभाग में वृषभ अर्थात् बैल का चिह्न स्पष्ट बना हुआ है । दायें-बायें गोमुख यक्ष तथा चक्रेश्वरी देवी की प्रतिमाएँ भी खुदी हैं । ये प्रतिमाएँ ऋषभदेव के अधिष्ठाता एवं अधिष्ठात्री हैं । यह प्रतिमा त्रिपुरी से ही प्राप्त की गई है ।

अर्थ सिंहासन

इस सिंहासन का विस्तार १६" × १२" है । बायें हाथपर ९" × ८" विस्तारवाला एक बड़ा ही सुंदर आसन पर स्थित रूमाल का छोर बना हुआ है । इस रूमाल के डिजाइन की सुंदरता देखते ही बनती है । उसका वर्णन कर सकना एकदम असंभव है । वर्तमान युग में कपडों पर विशेषतः साडी के किनारों पर जैसे उलझे हुए मनोहरतम Symmetrical डिजाइन बने रहते हैं वे भी इस डिजाइन के सामने मात खाते हैं । रूमाल की कम-से-कम चौड़ाई जो निम्न भाग में है वह ५.७५" है । निस्संदेह इस रूमाल के ऊपर आसन रहा होगा और उस आसन के ऊपर किसी देवता की मूर्ति स्थापित रही होगी ।

रूमाल के दायीं ओर सिंह की मूर्ति है, जिसके अगले पाँव और पंजे टूट चुके हैं । सिंह जान पड़ता है आसन के नीचे आसीन था । सिंह की अयाल कला की दृष्टि से खुब ही सुंदर है, किंतु जो स्वाभाविक अस्तव्यस्तता उसमें होनी चाहिए, वह भी नहीं है बल्कि कृत्रिमता बड़ी सुघड है । वही हाल सिंह की मूर्तों का भी है । वे सुंदर तो हैं ही पर उनकी तरह स्पष्टतः कृत्रिम है । आंखों और मूर्तों के बीच की पिछले बायें पंजे के सामने एक सुंदर फूलदार १.२५" ऊँचा टूटा-सा डिजाइनदार गुट्टा है, जो निश्चय ही किसी स्तंभ का अधोभाग है ।

वे सिंहासन त्रिपुरी में प्राप्त अन्य अवशेषों के डिजाइन के क्षेत्र में बिल्कुल अनूठा और अद्वितीय है ।

इस स्थल पर डिजाइन के संबंध में एक उल्लेख करना प्रासंगिक होगा । कला में, इतिहास में डिजाइनों का स्वर्णयुग मुगलकाल में कहा जाता



है, परंतु वे डिजाइन फूल-पत्ती इत्यादि प्राकृतिक आधारों तक ही सीमित रहे हैं। स्वयं कल्पना के आधार पर डिजाइन रचे नहीं पाये जाते। प्राकृत डिजाइन ऐसी ही कृत्रिम और कल्पना से गढ़ी हुई रचना है। इसका युग निश्चयपूर्वक मुगलों यहाँ तक कि राजपूती वैभव के पूर्व का है। इस प्रकार के डिजाइन महाकोसल के अन्य अवशेषों में भी पाये जाते हैं, विशेषतः बुद्धदेव की मूर्ति में। अतः यह कल्पना बड़ी सहज है कि ऐसे डिजाइन महाकोसल की निजी और मौलिक कलात्मक देन है, और भी बिलहरी के विस्तृत मधुछत्र पर ९६" × ९६" भी इस प्रकार के डिजाइन अंकित है, जिनका रचना काल तेरहवीं शती के बाद का नहीं हो सकता। अत्यंत दुःखःपूर्वक सूचित करना पड़ रहा है कि इतनी सुंदर कलापूर्ण व सर्वथा अखंडित कृति आज गडरियों के शस्त्रास्त्र पनारने के काम में आती है। म.प्र. शासन का ध्यान मैंने आकृष्ट किया। पर उसे अवकाश कहाँ? अर्धसिंहासन भी मुझे तेवर के ही एक लढिये से प्राप्त हुआ है।

अंबिका

प्रतिमा १४" × ८.५" है। अर्धनिर्मिता और अंबिका की आसनमुद्रा प्रायः समान ही है, किंतु इसकी रचना में कलाकार ने अधिक संतुलन एवं परिपूर्णता प्रस्तुत की है। नागावली बड़ी स्पष्ट है। उरोजों की रचना भी नैसर्गिक है। बायीं गोद में एक बच्चा है। यह हाथ खंडित हो गया है। अर्धनिर्मिता की अपेक्षा अंबिका के वस्त्रों की शलें अधिक स्पष्ट है। चरणों के पास पाँच भक्तों की समर्पण मुद्राएँ दिखाती है। स्त्री-पुरुष दोनों ही इनमें है। एक भक्त का सिर टूट गया है। परिकर के दोनों ओर व्याल (ग्रास मकर) खड़े हुए हैं। प्रतिमा के पीछे २, ३ लकीरें पड़ी हुई हैं। इनमें कुछ और भी खुदाई है। असंभव नहीं कि कलाकार साँची के तोरण से भी प्रभावित हुआ हो क्योंकि इन मूर्तियों में भी-जो मध्यप्रदेश में पाई गई है-इसी प्रकार की रेखाएँ मिलती हैं। कहीं-कहीं साँची के तोरण की आकृति बहुत ही स्पष्ट रूप से मिली है। इस प्रकार की शैली का समुचित विकास सिरपुर की धातु-मूर्तियों में पाया जाता है। मस्तक के पीछे पड़ी प्रभावली बहुत ही अस्पष्ट जान पड़ती है, तो भी सूक्ष्मतया देखने पर कमल की पंखुडियों का आकार लिये है। ये पंखुडियाँ गुप्तकाल में काफी ऊँचा स्थान पा चुकी थीं, एवं इस परंपरा का प्रभाव १३वीं शती तक की मूर्तियों की प्रभावली में मिलता है। प्रभावली के उभय ओर पुष्पमाला लिये दो गंधर्व गगन में विचरण कर रहे हैं। गंधर्व की



मुखमुद्रा सुंदर है। दूसरे गंधर्व की आकृति टूट गई है।

प्रश्न होता है कि प्रस्तुत प्रतिमा किस देवी की होनी चाहिए ? यद्यपि ऐसा स्पष्ट न तो लिखित प्रमाण है और न इस प्रकार की अन्य प्रतिमा ही कहीं उपलब्ध है। बायीं गोद में एक बच्चे के कारण एवं ६ भक्तों के निम्न भाग में जो प्रतिमाएं अंकित हैं-दायें भाग में मूर्ति खंडित हो गई है-उनके कारण यदि इसे अंबिका की मूर्ति मान लिया जावे तो अनुचित न होगा। बात यह है कि अन्य मुद्राओं में अंबिका की जितनी भी मूर्तियाँ महाकोसल एवं तत्सन्निकटवर्ती प्रदेश में पाई गई हैं उन सभी के निम्न भाग में ५ से अधिक भक्तों की आकृतियाँ मिली हैं। अंबिका की गोद में यों तो दो बच्चे होने चाहिए, परंतु कहीं-कहीं एक बच्चेवाली मूर्ति भी उपलब्ध हुई है।

अतः इसे मैं निश्चित ही अंबिका की मूर्ति मानता हूँ। इसका रचना काल १२वीं एवं १३वीं शती के मध्यकाल का होना चाहिए। इन्हीं दिनों महाकोसल में जैनसंस्कृति के अनुयायियों का प्राबल्य था। अंबिका की विभिन्न मूर्तियाँ भी इसी शताब्दी में निर्मित हुई।

सयक्ष नेमिनाथ

१४" × १४" प्रस्तुत शिलाखंड पर उत्कीर्णित प्रतिमा का कटिप्रदेश से निम्न भाग नहीं है। अविशिष्ट भाग से भी प्रतिमा का परिचय भली भांति मिल जाता है। दायीं ओर पुरुष एवं बायीं ओर स्त्री, मध्य में एक वृक्ष की डाल पर धर्मचक्र के समान गोलाकार आकृति अंकित है। दम्पति समुचित आभूषणों से विभूषित है। मुग्ध मुद्रा में स्वाभाविक सौंदर्य के साथ सजीवता परिलक्षित होती है। इस खंडित भाग के सुव्यवस्थित अंगोपांग से मूर्ति की सफल कल्पना हो आती है। मस्तक पर दो पंखुडियाँ आम्र वृक्ष की दिखलाई पड़ती हैं। तदुपरि चौकीनुमा आसन पर जिनमूर्ति विराजमान है। दोनों ओर खड्गासनस्थ जिन प्रतिमाओं के बाद उभय पार्श्व के छोर पर पद्मासनस्थ जिन-मूर्तियाँ अंकित हैं। सभी जिन-मूर्तियों के कान के निकटवर्ती दोनों ओर पत्तियाँ हैं। संभव है ये पत्तियाँ अशोक वृक्ष की हों, कारण कि अष्टप्रतिहार्य में अशोकवृक्ष भी है।

इस प्रकार की प्रतिमाएँ विन्ध्यप्रान्त एवं महाकोसल के भूभाग में पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होती हैं। विद्वानों में इस पर मतभेद भी काफी पाया जाता है। विशेषकर जैन मूर्तिविधान शास्त्र से अपरिचित अन्वेषकों ने इस पर कई



कल्पनाएँ कर डाली है। परंतु मध्यप्रान्त के एक विद्वान् की कल्पना है कि अंबिका और गोमेध यक्ष क्रमशः अशोक की पुत्री **संघमित्रा** एवं पुत्र **महेन्द्र** है। आम्र वृक्ष को बोधि वृक्ष मान लिया गया है, परंतु यह कल्पना पूर्व कल्पनाओं से अधिक अयौक्तिक ही नहीं हास्यास्पद भी है। भगवान् नेमिनाथ की मूर्ति को तो भूल ही गये। **त्रिपुरी** के इतिहास में इसका चित्र प्रकाशित है। इस चित्र पर से मुझे भी यह भ्रम हुआ था, पर जब मूर्ति का साक्षात्कार हुआ एवं एक ही शैली की दर्जनों प्रतिमाएँ विभिन्न संग्रहालयों में देखीं, तब मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि उपर्युक्त प्रतिमा यक्ष-यक्षिणी-युक्त भगवान् नेमिनाथ की है। जैन-मूर्तिविधान शास्त्रों से भी इस बात का **समर्थन** होता है। इस विषय पर हमने अन्यत्र विस्तार से विचार किया है, अतः यहाँ पिष्टपेषण व्यर्थ है। स्मरण रहे कि इस प्रकार की प्रतिमा मैंने कौशाम्बी में भी लाल प्रस्तर पर खुदी हुई देखी थी जो शृंगकालीन है।

नवग्रह युक्त जिन प्रतिमा

महाकोसल के जंगलों में भ्रमण करते हुए एक वृक्ष के निम्नभाग में पड़ी हुई गढी-गढाई प्रस्तर शिला पर हमारी दृष्टि स्थिर हो गई। सिंदूर से पोत भी दी गई थी। पत्थर की यह शिला जनता की 'खैरमाई' थी। इस शिलाखंड को एकान्त देखकर, मैंने उल्टाया। दृष्टि पडते ही मन बड़ा प्रफुल्लित हुआ, इसलिए नहीं कि उसमें जैनमूर्ति उत्कीर्णित थी-इसलिए कि इस प्रकार का जैनशिल्पावशेष अद्यावधि न मेरे अवलोकन में आया था, न कहीं अस्तित्व की सूचना ही थी। अतः अनायास नवीनतम कृति की प्राप्ति से आह्लाद होना स्वाभाविक था। इस शिला पर मुख्यतः नवग्रह की खड़ी मूर्तियाँ खुदी हुई थीं। तन्मध्यभाग में अष्टप्रतिहार्य युक्त जिन प्रतिमा विराजमान थी।

जैनमूर्तिविधान शास्त्र में प्रतिमा के परिकर में नवग्रहों की रचना का विधान पाया जाता है। कहीं पर नवग्रह सूचक नव-आकृतियाँ एवं कहीं-कहीं मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, परंतु नवग्रहों की प्रमुखता का द्योतक, परिकर अद्यावधि दृष्टिगोचर नहीं हुआ। **लखनऊ** एवं **मथुरा** संग्रहालय के संग्रहाध्यक्षों को भी इस प्रकार की मूर्तियों के विषय में लिखकर पूछा था। उनका प्रत्युत्तर यही आया कि ग्रह प्रतिमाओं की प्रमुखता में खुदी हुई जैनमूर्ति का कोई भी अवशेष न हमारे अवलोकन में आया, न हमारे यहाँ है ही।

प्रासंगिक रूप से यह कहना अनुचित न होगा कि अन्य प्रान्तों की



अपेक्षा महाकोसल में सूर्य की स्वतंत्र एवं नवग्रह की सामूहिक मूर्तियाँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती हैं। उन सभी की रचना शैली इस चित्र से ही स्पष्ट हो जाती है। अंतर केवल इतना ही है कि इस शिला में जिन-मूर्ति है, जब अन्यत्र वह नहीं मिलती। ग्रहों की इस शैली की मूर्तियों की निर्माण परंपरा १३वीं शताब्दी के बाद लुप्त-सी हो गई थी, अर्थात् कलचुरिकालीन कलाकारों ने ही इस प्राचीन परंपरा को किसी सीमा तक संभाल रखा था। यह मूर्ति मुझे स्लिमनाबाद के जंगल से प्राप्त हुई थी। एक वृक्ष के नीचे यों ही अधगड़ी पड़ी थी, जनता द्वारा पूर्णतः उपेक्षित थी।

जिन-मूर्ति

४५" X ११" की भूरे रंग की प्रस्तर शिला पर खड़ी जिनमूर्ति उत्कीर्णित है। सामान्यतः शरीर रचना अच्छी ही बनी है। अजानुबाहु में हाथों का मुड़ाव स्वाभाविक है। अंगुलियों का खुदाव तो बड़ा ही स्पष्ट और भव्य है। मुखमंडल भी अतीव सुंदर रहा होगा, परंतु नासिका और चक्षु-युगल बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गये हैं। भौहें अच्छी बनी हैं। मस्तक पर घुंघराले बाल

१. स्लीमनाबाद-कर्नल स्लीमन के नाम पर बसा हुआ, यह जबलपुर से कटनी जानेवाली सड़क पर अवस्थित हैं। मध्यप्रदेश का कॉंग्रेसी शासन की, जो सांस्कृतिक विकास की ओर खोज की बहुत बड़ी बातें करता हैं-पुरातत्व विषयक घनघोर उपेक्षावृत्ति का प्रतीक मैंने यहाँ पर प्रत्यक्ष देखा। बड़ा ही दुःख हुआ। बात यह है कि P.W.D. के अधिकार में यहाँ पर दो कब्रें हैं, जिनमें जो क्रॉस लगे हैं उन पर लेख हैं, परंतु तथाकथित विभाग के कर्मचारी प्रतिवर्ष चूना पोतते हैं। भत्ता पकानेवाले प्रान्तीय व केंद्रीय पुरातत्व विभाग के एक भी अफसर ने आज तक इस पर ध्यान नहीं दिया कि आखिर में इस कब्र का इतिहास क्या है? स्लीमनाबाद के एक व्यापारी को ज्ञात हुआ है कि मैं खोज के सिलसिले में भ्रमण कर रहा हूँ, तब उसने मेरा ध्यान इन कब्रों की ओर आकृष्ट किया। चूना साफ करवाकर देखने से ज्ञात हुआ कि इस पर कनाडी लिपि में लेख उत्कीर्णित हैं। कनाडी का मुझे अभ्यास न होने के कारण इस लेख की सूचना अपने मित्र एवं गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया के चीफ एपिग्राफिट डॉ. बहादुरचन्दजी छावडा को दी। आपने अपने ऑफिस सुपरिन्टेन्डेन्ट श्री एन. लक्ष्मीनारायणराव को भेजकर इसकी प्रतिलिपि करवाई। दो सैनिकों को यहाँ पर दफनाया गया था, उन्हीं के स्मारक स्वरूप ये कब्रें हैं। ये दोनों दक्षिण भारतीय थे। मध्यप्रदेश में पाये जानेवाले लेखों में कनाडी का यह प्रथम लेख है। ऐसे एक दर्जन से अधिक लेख सड़कों, पुलों और सीढियों में लगे हुए हैं, पर हमारी सरकार को एवं भत्ता पानेवाले अफसरों को अवकाश कहाँ कि वे उन पर निगाह डालें।



बने है। इस ओर पाई जानेवाली जैन-बौद्ध-मूर्तियों में एवं एकमुखी शिवलिंग में मस्तक पर उपरिलक्षित केश-रचना का रिवाज था। इसलिए यदि केवल सर ही किसी मूर्ति का मिल जाय तो अचानक निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वह किसका है।

मूर्ति के दोनों हाथों के पास दो पार्श्वद उत्कीर्णित है, परंतु उन दोनों के कटिप्रदेश के ऊपर का भाग नहीं है। इन पार्श्वदों के ठिक अग्रभाग में दायें-बायें क्रमशः यक्ष-यक्षिणी है, इनका भी मुख का भाग एवं हाथ का कुछ हिस्सा खंडित है। आसन का भाग अन्य मूर्तियों से मिलता-जुलता है। केवल निम्न मध्य भाग में दायों ओर मुख किये उपासक अधिष्ठित है एवं आसन के बीच में सिंह का चिह्न है। ऊपर प्रभावली के ऊपर ३ छत्र है, जिनके उभय भाग में दो हाथी शुण्डा निम्न किये हुए है। छत्र पर देव मृदंग बजा रहा है।

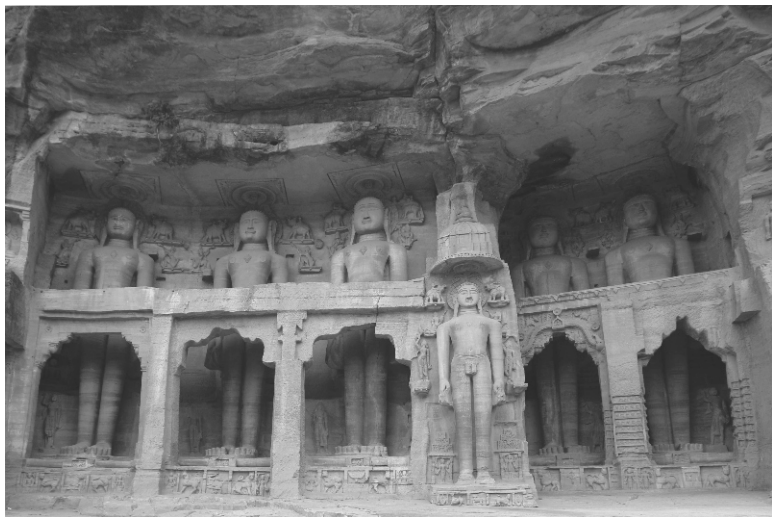
प्राचीनकाल की जिनमूर्तियों में चिह्न प्रायः नहीं मिलते। गुप्तोत्तरकालीन प्रतिमाओं में यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियाँ खुदी हुई मिलती है। इनसे कौन मूर्ति किस तीर्थंकर की है ज्ञात हो जाता है, परंतु इनमें एक बात की दिक्कत पड़ जाती है कि प्राचीन मूर्तियों में यक्ष-यक्षिणियों के स्वरूप जैन शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों से मेल नहीं खाते अर्थात् वास्तुशास्त्र में वर्णित इनके स्वरूप से मूर्तियाँ बिल्कुल भिन्न मिलती है। उदाहरणार्थ-इसी मूर्ति को लें। इसमें सिंह का चिह्न है। यदि चिह्न न होता और यक्ष-यक्षिणि से पहचानने की चेष्टा करते तो असफल रहते। यह मूर्ति दिगम्बर सम्प्रदाय से संबंधित है, तदनुसार यह मातंग और यक्षिणी सिद्धाईका होनी चाहिए। यक्ष हाथी पर आरुढ़ मस्तक पर धर्मचक्र को धारण करनेवाला बनाया जाता है। यक्षिणी दायें हाथ में वरदान एवं बायें हाथ में पुस्तक को धारण करनेवाली, सिंह पर बैठनेवाली वर्णित है। प्रस्तुत मूर्ति में खुदी हुई मूर्तियों में उपरिवर्णित रूप बिल्कुल मेल नहीं खाता। यक्ष अपने दोनों पैर मिलाये दोनों हाथ दोनों घुटनों पर थामे बैठा है। तोंद काफी फूली हुई है। यक्षिणी के विषय में स्पष्टतः असंभव इसलिए है कि उसके अंगोपांग खंडित है। हमारा तात्पर्य यही है कि शिल्पशास्त्रों में वर्णित स्वरूप कलावशेषों में भिन्न-भिन्न रूप में दृष्टिगोचर होता है।

प्रस्तुत तीर्थंकर की प्रतिमा का आसपास का भाग ऐसा लगता है मानो वह अन्य प्रतिमाओं से संबंधित होगी; कारण कि जुड़ाव सूचक पहियों का उतार-चढ़ाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। हमारी इस कल्पना के पीछे एक और तर्क है, वह यह कि इसी साईज की इसी ढंग एवं प्रस्तर की एक प्रतिमा



उपसंहार

-१ अप्रैल १९५०



प्रयाग का जैन पुरातत्त्व

श्रमण-संस्कृति के इतिहास में प्रायग का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। जैनसाहित्य में इसका प्राचीन नाम **पुरिमताल** मिलता है। कथात्मक ग्रन्थों से विदित होता है कि १४ वीं शताब्दी तक यह नाम पर्याप्त प्रचलित था। भगवान ऋषभदेव को यहीं पर केवलज्ञान उत्पन्न भी हुआ था। कल्पसूत्र में इस प्रकार उल्लेख मिलता है-

“जे से हेमंताणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे
फग्गुणबहुले, तस्स णं फग्गुबहुलस्स
इक्कारसी पक्खेणं पुव्वण्हकाल समयंसि
पुरिमतालस्स नयरस्स बहिया सगड मुहंसि
उज्जाणंसि नग्गोहवरपायवस्स अहे.....”

-कल्पसूत्र २१२

श्रीजिनेश्वरसूरि रचित कथाकोश में भी इस प्रकार समर्थन किया है।
(११ वीं सदी)

“अण्णया ‘पुरिमताले’ संपतस्स

अहे नग्गोहपाययेस्स झाणंतंरियाए वड्डमाणस्स भगवओ समुप्पणं
केवलनाणं”

-कथाकोश प्रकरण, पृ. ५२

‘विविधतीर्थकल्प’ में भी “पुरिमताले आदिनाथः” उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त अवतरणों से सिद्ध है कि पुरिमताल-प्रयाग जैनों का महातीर्थ था। प्रयाग शब्द की उत्पत्ति भी इसकी पुष्टि करती है। श्रीजिनप्रभसूरिजी अपने ‘विविधतीर्थकल्प’ में उल्लेख करते हैं, ‘प्रयागतीर्थे शीतलनाथः’

१. धर्मोपदेशमाला में भी पुरिमताल का उल्लेख है, पृ. १२४।

२. चतुरशीतिमहातीर्थनाम संग्रहकल्प, पृ. ८५।

“गंगायमुनयोर्वेणीसंगमे श्रीआदिकरमंडलम्” (प. ८५) उन दिनों शीतलनाथ मंदिर रहा होगा ।

प्रयाग के अक्षयवट का संबंध भी जैनसंस्कृति से बताया जाता है । अन्निकाचार्य को यहीं पर केवलज्ञान हुआ था । देवताओं ने प्रकृष्टरूप से याग-पूजा आदि की, इस पर से प्रयाग नाम पडा^१ । तब भी अक्षयवट था । इसी अक्षयवट के निम्न भाग में जिनेश्वर देव के चरण थे । इनकी यात्रा जैन मुनि श्रीहंससोम ने १६ वीं शताब्दी में की थी, वे लिखते हैं-

तिणिकारण प्रयाग नाम ए लोक पसिद्धउ,
पाय कमल पूजा करी मानव फल लीद्धउ

- प्रा. ती. मा. १४

परंतु मुनि श्रीशीलविजयजी^२ को छोड़कर अन्य यात्री मुनिवरों ने चरणकमल के स्थान पर शिवलिंग देखा । यह अकृत्य किसने किया होगा ? इसकी सूचना भी मुनि श्रीविजयसागर अपनी तीर्थमाला में इस प्रकार देते हैं ।

संवत् सोलेड्याल लाडमिथ्यातीअ राय कल्याण कुबुहुओए,
तिणि कीधो अन्याय शिवलिंग थापीअ उथापी जिनपादुका ए

- पृ. ३

मुनि श्रीसौभाग्यविजयजी इस बात की इस प्रकार पुष्टि करते हैं-

संवत् सोल अडतालिसें रे अकबर केरे राज
राय कल्याण कुबुद्धिरं रे तिहाँ थाप्या शिवसाज रे

- पृ. ७७

मुनि जयविजय भी इसका समर्थन इन शब्दों में करते हैं

राय कल्याण मिथ्यामतीए, कीधउ तेणई अन्याय तउ,
जिन पगलां ऊठाडियाँए, थापा रुद्र तेण ठाय तउ

- पृ. २४

१. “अतएव तत्तीर्थ ‘प्रयाग’ इति जगति प्रपथे । प्रकृष्टे यागः पूजा अत्रेति प्रयागः इत्यन्वयः ।

- विविधतीर्थकल्प, पृ. ६८”

२. अषयवड छे तिहाँ कने रे जेहनी जड पाताल,
तासतलें पगलां हुतां रे, ऋषभजीनां सविशाल ।

- प्रा. ती. मा., पृ. ७६-७



ऊपर के सभी उल्लेख एक स्वर से इस बात का समर्थन करते हैं कि १६वीं शताब्दी के पूर्व अक्षयवट के निम्न भाग में जिन-चरण तो थे, पर बाद में संवत् १६४८ में सत्ता के बल पर **रायकल्याण** ने शिवचरण स्थापित करवा दिये, संभव है उन दिनों या तो जैनों का अस्तित्व न होगा या दुर्बल होंगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि **कल्याणराय** कौन था ? और उसने इस प्रकार का कार्य किन भावनाओं के वशीभूत होकर किया। उनका उत्तर तात्कालिक इतिहास से भलि-भांति मिल जाता है। “**अकबरनामा**”^१ और “**बदाउनी**”^२ से ज्ञात होता है कि **स्तंभतीर्थ-खंभायत** का ही वैश्य था, वह जैनों को बहुत कष्ट पहुंचाता था। एक बार अहमदाबाद के शासक, मिर्जाखाँ ने पकड़ लाने का आदेश दिया था, पर वह स्वयं वहाँ चला गया और अपने अपराध के लिए क्षमा याचना की। स्मरण रहे कि यह राज्याधिकारियों में से एक था। अकबर के पास जब जैनों ने अपनी कष्ट-कहानी रखी, तब बादशाह ने उनका तबादला बहुत दूर प्रयाग कर दिया और प्रतिशोध की भावना के कारण उसने प्रयाग में उपर्युक्त कृत्य किया।

सत्रहवीं शती के सुप्रसिद्ध विद्वान् और कल्याणराय के समकालीन कविवर **समयसुन्दरजी** ने अपनी **तीर्थ मास छत्तीसी** में पुरिमताल पर भी एक पद्य रचकर, जैनतीर्थ होने का प्रमाण उपस्थित किया है^३।

मुझे दो बार प्रयाग जाने का अवसर मिला है, मैंने अक्षयवट और अकबर निर्मित किले का (मिलिटरी अधिकारियों की सहायता से) इस दृष्टि से निरीक्षण किया है, पर मुझे जैनधर्म के चरण या ऐसी ही कोई सामग्री दिखी नहीं। हाँ, प्रयाग नगरपालिका के संग्रहने मुझे बहुत प्रभावित किया। वहाँ जैनमूर्तियों का अच्छा संग्रह किया गया है, परंतु उन्हें समुचित रूप से रखने की व्यवस्था नहीं है।

जैन-मूर्तिकला का क्रमिक विकास

प्रयाग नगर-सभा संग्रहालय स्थित जैनमूर्तियों का परिचय प्राप्त करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि जैन-मूर्ति-निर्माणकला क्या है ? इसका

१. भाग ३, पृ. ६८३।

२. भाग २, पृ. २४९।

३. इसकी मूल प्रति कवि ने स्वयं अपने हाथ से सं. १७०० आषाढ वदि १ को अहमदाबाद में लिखी है। रॉयल एशियाटिक सोसायटी बम्बई में सुरक्षित हैं।



क्रमिक विकास कलात्मक और धार्मिक दृष्टि से कैसा हुआ ? यों तो उपर्युक्त प्रश्न इतने व्यापक और भारतीय मूर्ति-विधान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि उन पर जितना प्रकाश डाला जाय कम है, कारण कि मूर्तिविधान और विधाता का क्षेत्र अति व्यापक है। आश्रित और आश्रयदाताओं में भिन्नता हो सकती है, परंतु कलोपजीवी व्यक्तियों में नहीं। विकास संघर्षात्मक परिस्थिति पर निर्भर है। ज्यों-ज्यों युग की परिस्थितियाँ बदलती हैं, त्यों-त्यों सभी चल-अचल तत्त्वों में स्वाभाविक परिवर्तन की लहर आ जाती है। ये पंक्तियाँ मूर्तिकला पर सोलहों आने चरितार्थ होती हैं। इस कला में युगानुसार परिवर्तन का अर्थ यह है कि कलाकार अपने सुचिन्तित मानसिक भावों को प्राप्त साधनों के द्वारा युग की अभिरुचि के अनुसार वयक्त करता है। प्रकटीकरण में माध्यम एवं अन्य सांस्कृतिक विचारों में मौलिक ऐक्य रहते हुए भी ज्यों-ज्यों बाह्य उपकरणों में परिवर्तन होता जाता है, त्यों-त्यों कला में मौलिक ऐक्य रहते हुए भी बाह्य अलंकारों में परिवर्तन होता जाता है। रुचि एवं देशभेद के कारण भी ऐसे परिवर्तन संभव हैं कि जिनके विकसित रूप को देखकर कल्पना तक नहीं होती कि इनका आदि श्रोत क्या रहा होगा ? जैन-मूर्तिकला पर यदि इस दृष्टि से सोचें तो आश्चर्यचकित रह जाना पड़ेगा।

प्रारंभिक काल की प्रतिमाएँ एवं मध्यकालीन मूर्तियों के सिंहावलोकन के बाद अर्वाचीन मूर्तियों एवं उनकी कला पर दृष्टि केन्द्रित करें तब उपर्युक्त पंक्तियों का अनुभव हो सकता है। जहाँ जैन-मूर्ति निर्माण कला और उसके विकास तथा उपकरणों का प्रश्न उपस्थित होता है, वहाँ प्रस्तर, धातु, रत्न, काष्ठ और मृत्तिका आदि समस्त निर्माणोपयोगी द्रव्यों की मूर्तियों की ओर ध्यान स्वाभाविक रूप से आकृष्ट हो जाता है, परंतु यहाँ पर मेरा क्षेत्र केवल प्रस्तर मूर्तियों तक ही सीमित है। अतः मैं अति संक्षिप्त रूप से प्रस्तरोत्कीर्णित मूर्तियों पर ही विचार करूँगा।

भारत में मूर्ति का निर्माण, क्यों कैसे तथा कब से प्रारम्भ हुआ यह एक ऐसी समस्या है, जिस पर अद्यावधि समुचित प्रकाश नहीं डाला गया। यद्यपि पौराणिक आख्यानों की कोई कमी नहीं है, क्योंकि भारत में हर चीज के पीछे एक कहानी चलती है, परंतु जैनमूर्तियों के विषय में ऐसी कहानियाँ अत्यल्प मिलेंगी जिनमें तनिक भी सत्य न हो या उनमें मानव-विकास का तत्त्व न हो। यहाँ पर ग्रन्थस्थ लेखों पर विचार न कर केवल उन्हीं आधारों पर विचार करना है, जो शिलाओं पर खुदे हुए पुरातत्त्वज्ञों के सम्मुख समुपस्थित हो चुके



है । उपस्थित जैन-मूर्तियों के आधार पर बहुसंख्यक भारतीय एवं विदेशी विद्वानों ने जैन-शिल्प और मूर्ति-विज्ञान पर अपने बहुमूल्य विचार व्यक्त किये हैं । किंतु मथुरा से प्राप्त शिल्प ही प्रधान रूप में उनके विचारों के आधार रहे हैं । विद्वानों ने अपना अभिमत-सा बना रखा है कि जैन-मूर्ति-निर्माण का प्रारंभ सब से पहले मथुरा में कुषाण-युग में ही हुआ, पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है । हाँ, इतना कहा जा सकता है कि कुषाण-युग में जैनाश्रित कला का विकास काफी हुआ ।

यह बात निर्विवाद है कि कला की दृष्टि से जैनों की अपेक्षा बौद्ध मूर्ति-निर्माण-कला में शीघ्र ही बाजी मार ले गये । जिस प्रकार बौद्धों ने धार्मिक क्रान्ति की, उसी प्रकार अत्यंत ही अल्प समय में मूर्तिकला में भी क्रान्तिकारी तत्त्वों को प्रविष्ट कराकर, मूर्तियों में वैविध्य ला दिया । अर्थात् उसी समय की भगवान बुद्ध की तथा बौद्ध धर्माश्रित विभिन्न भावों को प्रकाशित करनेवाली गान्धार और कुषाण काल की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं, परंतु क्रान्ति के मामले में जैनी प्रायः पश्चात्पाद रहे हैं फिर शिल्पकला में-और वह भी धर्माश्रित-परिवर्तन कर ही कैसे सकते थे । इतना अवश्य है कि जैनों ने जिन-मूर्तियों की मुद्रा में परिवर्तन न कर जैन-धर्ममान्य प्रसंगों के शिल्प में समय-समय पर अवश्य ही परिवर्तन किये एवं मूर्ति के एक अंग परिकर निर्माण में तथा तदंगीभूत अन्य उपकरणों में भी आवश्यक परिवर्तन किया, परंतु वह परिवर्तन एक प्रकार से कलाकार और युग के प्रभाव के कारण ही हुआ होगा । मजबूरी थी ।

श्रमण-संस्कृति अति प्रारंभिक काल से ही निवृत्ति-प्रधान संस्कृति के रूप में, भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध रही है । उसके बाह्यांग भी इस तत्त्व के प्रभाव से बच नहीं पाये । मूर्ति में तो जैन संस्कृति की समत्वमूलक भावना और आध्यात्मिक शांति का स्थायी स्रोत उमड़ पड़ा है । कुशल शिल्पियों ने संस्कृति की आत्मा को अपने औजारों द्वारा कठोर पत्थरों पर उतारकर वह सुकुमारता ला दी है, जिसका सौन्दर्य आज भी हर एक को अपनी ओर खींच लेता है । मैं तो स्पष्ट कहूँगा कि भारत वर्ष में जितने भी सांस्कृतिक प्रतीक समझे जाते हैं या किसी न किसी अवशेष में किंचिन् मात्र भी भारतीय संस्कृति का प्रतिबिम्ब पड़ा है, उनमें जैन-प्रतिमाओं का स्थान त्यागप्रधान भाव के कारण सर्वोत्कृष्ट है । इसीमें भारतीय संस्कृति की आत्मा और धर्म की व्यापक भावनाओं का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है । वहाँ पर जाते ही मानव



अंतर्द्वंद्व भूल जाता है। शान्ति के अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव करने लग जाता है। जब कि अन्य धर्मावलम्बी मूर्तियों में इस प्रकार की अनुभूति कम होती है। जैन-मूर्ति का आदर्श महाकवि धनपाल के शब्दों में इस प्रकार है-

**प्रशम-रस-निमग्नं दृष्टि-युग्मं प्रसन्नं
वदनकमलमङ्कः कामिनी-संग-शून्यः।
करयुगमपि धत्ते शस्त्र-सम्बन्धवन्ध्यं
तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ।**

जिसके नयन-युगल प्रशम-रस में निमग्न है, जिसका हृदय-कमल प्रसन्न है, जिसकी गोद कामिनी संग से रहित निष्कलंक है और जिसके करकमल भी शस्त्र संबंध से सर्वथा मुक्त है वैसा तू है। इसी से वीतराग होने के कारण विश्व में सच्चा देव है।

किसी भी जैन-मंदिर में जाकर देखें वहाँ पर तो सौम्य भावनाओं से ओतप्रोत स्थायी भावों के प्रतीक समान धीर-गंभीरवदना मूर्ति ही नजर आवेगी। खड़ी, शिथिल, हस्त लटकाये, कहीं नग्न तो कहीं कटिवस्त्र धारण किये या कहीं बैठी हुई पद्मासन-दोनों करों को चेतनाविहीन ढंग पर गोद में लिये हुए, नासाग्र भाग पर ध्यान लगाये, विकार रहित प्रतीक, कहीं भी नजर आये तो समझना चाहिए कि यह जैन-मूर्ति है, क्योंकि इस प्रकार की भाव-मुद्रा जैनों की भारतीय शिल्पकला को मौलिक देन है। मुकुटधारी बौद्ध मूर्तियाँ भी जैन-मुद्रा के प्रभाव से काफी प्रभावित है।

उपर्युक्त पंक्तियों में जिस भाव-मुद्रा का वर्णन किया गया है, वह सभी जैन-मूर्तियों पर चरितार्थ होता है। २४ तीर्थकरों की प्रतिमाओं के मौलिक अंतर नहीं है, परंतु उनके अपने लक्षण ही उन्हें पृथक् करते हैं। लक्षण की पृथक्ता भी काफी बाद की चीज है, क्योंकि प्राचीन मूर्तियों में उसका सर्वथा अभाव पाया जाता है। एक और कारण मिलता है जो अमुक तीर्थकर की प्रतिमा है, इसे सूचित करता है, पर यह भी उतना व्यापक नहीं जान पड़ता, वह है यक्षिणियों का। जो अन्य तीर्थकरों की प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें भी अंबिका यक्षिणी वर्तमान है जब कि जैन वास्तु-शास्त्रानुसार केवल नेमिनाथ की मूर्ति में ही उसे रहना चाहिए। अस्तु।

मथुरा में जैन अवशेष मिले हैं, उनमें आयागपट्टक भी है। जिसके मध्यभाग में केवल जिन-मूर्ति पद्मासनस्थ उत्कीर्ण है।



प्रासंगिक रूप से एक बात कह देना और आवश्यक समझता हूँ कि प्रकृत कालीन जैन-स्मारकों का महत्व केवल श्रमण-संस्कृति की धार्मिक भावना से ही नहीं है, अपितु संपूर्ण भारतीय मूर्तिविधान परंपरा के क्रमिक विकास की दृष्टि से उनका अत्यंत गौरवपूर्ण स्थान है। यह तो सर्वविदित है कि कुषाणकाल में भारतीय कला पर विदेशी प्रभाव काफी पडा था। बाहरी अलंकरणों को कलाकारों ने, जहाँ तक बन पडा, भारतीय रूप देकर अपना लिया। जैनमूर्तियों में भी दंपति-मूर्तियों की वेशभूषा पर वैदेशिक प्रभाव स्पष्ट झलकता है। आयागपट्टक भी इसकी श्रेणी में आंशिक रूप से आ सकते हैं। मथुरा के अतिरिक्त जैन अवशेष और विशेषतः उत्कीर्ण शिलालेख जैन संस्कृति के इतिहास पर अभूतपूर्व प्रकाश डालते हैं। ये लेख भारतीय भाषा विज्ञान की दृष्टि से बड़े मूल्यवान् हैं। मुनिगण और शाखाओं के नाम भी इन लेखों में आते हैं।

गुप्तकाल भारतीय मूर्तिविज्ञान का उत्कर्षकाल माना जाता है। मथुरा, पाटलिपुत्र और सारनाथ गुप्तकालीन मूर्तिनिर्माण के प्रधान केन्द्र थे। विशेषतः इस काल में बौद्ध-मूर्तियों का ही निर्माण हुआ है। कुछ जैन-मूर्तियाँ भी बनीं। कुमारगुप्त के समय में निर्मित भगवान् महावीर की एक प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में अवस्थित है। जो उत्थित पद्मासनस्थ^१ है। स्कन्दगुप्त के समय में भी गोरखपुर जिलान्तर्गत **कोहम** नामक एक स्थान में जैन-मूर्ति स्थापित करने की सूचना गुप्त लेखों में मिलती है^२।

प्रस्तर मूर्तियाँ लेखयुक्त अत्यल्प उपलब्ध हुई हैं, परंतु बिना लेखवाली भी कुछ एक मूर्तियाँ मगध में पाई जाती हैं जिनको गुप्तकालीन मूर्तियों की कोटि में सम्मिलित किया जा सकता है। राजगृह के तृतीय पहाड पर फणयुक्त जो पार्श्वनाथ की प्रतिमा है, उसका सिंहासन एवं मुख-निर्माण सर्वथा गुप्तकाल के अनुरूप है। इसी पर्वत पर एक ओर अष्टप्रतिहार्य युक्त कमलासन स्थित प्रतिमा है। एवं मुंगेर जिले में क्षत्रियकुंड पर्वतवाले मंदिर में अतीव शोभनीय, उपर्युक्त शैली के सर्वथा अनुरूप एक बिम्ब पाया जाता है, जिनमें से तीसरी को छोडकर, उभय मूर्तियों को गुप्तकालीन कह सकते हैं। राजगृह में पंचम पर्वत पर एक ध्वस्त जैनमंदिर के अवशेष मिले हैं। बहुत-सी इधर-उधर

१. इम्पीरियल गुप्त-श्री रा. दा. बनर्जी, प्लेट १८।

२. फ्लीट-गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स - १५ “श्रेयोऽर्थपार्थ भूत-भूतै नियमवता मर्हतामादि कर्तुन्”।



प्राचीन जैनमूर्तियाँ भी बिखरी पड़ी हैं^१। इनमें से नेमिनाथवाली जैनप्रतिमा को निस्संदेह गुप्तकालीन मूर्ति कह सकते हैं। अभिलषित कालीन प्रतिमाओं के भामंडल विविध रेखाओं से अंकित रहा करते थे, एवं प्रभावली के चारों ओर अग्नि की लपटें बतायी गयी थीं। इसे बौद्ध मूर्तिकला की जैनमूर्ति कला को देन मान लें तो अत्युक्ति न होगी। जैन-बौद्ध मूर्तियों के अध्ययन से विदित हुआ कि प्रधान मुद्रा को छोड़कर परिकर के अलंकरणों का पारस्परिक बहुत प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ जिनमूर्तियों में जो वाजिन्त्र-देव-दुन्दुभी-पाये जाते हैं, वे अष्टप्रतिहार्य के ही अंग हैं। ये ही चिह्न बौद्ध-मूर्तियों में भी विकसित हुए हैं। यह स्पष्ट जैन-प्रभाव है। बुद्धदेव की पद्मासनस्थ मूर्तियाँ भी, जैन तीर्थंकर की मुद्रा का अनुसरण हैं। बुद्ध-मूर्तियों के बाहरी परिकरादि उपकरणों का प्रभाव गुप्तकालीन और तदुत्तरवर्ती मूर्तियों में पाया जाता है। गुप्तों के पूर्व की जैन-मूर्तियों के सिंहासन के स्थान पर एक चौकी-जैसा चिह्न मिलता है, जब कि गुप्त काल में वह स्थान कमलासन में परिवर्तित हो गया।

प्राचीन मूर्तियों में छत्र मस्तक के ऊपर बिना किसी आधार के लटकते हुए बनाये गये हैं, किन्तु उपर्युक्त काल में बहुत ही सुंदर दण्डयुक्त कलापूर्ण छत्र हो गये। मुख्य जैन-मूर्ति के पार्श्वद एवं उसके हस्त, मुख आदि की भावभंगिमा पर अजंता की चित्रकला की स्पष्ट छाया है। परिकर के पृष्ठभाग में प्राचीन मूर्तियों में केवल साधारण प्रभामंडल ही दृष्टिगोचर होता है, जब गुप्तकालीन मूर्तियों में उसके अर्थात् मस्तक और दोनों स्कन्ध प्रदेश के पृष्ठ भाग में एक तोरण दिखलाई पड़ता है, कहीं सादा और कहीं कलापूर्ण। यह तोरण एक प्रकार से साँची का सुस्मरण कराता है।

परिकर के निम्न भाग में भी कहीं-कहीं ऐसा देखा जाता है, मानो कमल के वृक्ष पर ही सारी मूर्ति आधृत हो। कुछ मूर्तियों में कलश, शंख, धूपदान, दीपक और नैवेद्य सहित भक्त खड़ा बतलाया गया है। उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रभाव बुद्ध-कला की देन है। जैन-मुद्रा तप प्रधान होने के कारण मूलतः बौद्ध प्रभाव से वंचित रही। बाह्य अलंकरणों में क्रान्ति अवश्य हुई, परंतु वह भी 'पाल' काल में तथा उत्तर गुप्तकाल में सुप्त हो गई। गुप्तोत्तरकालीन जैन-मूर्तियाँ मंदिरों की अपेक्षा गुफाओं में ही भित्ति पर

१. राजगृह में सोनभंडार की दीवाल पर जैनमूर्ति व धर्मचक्र खुदा हुआ है। विशेष के लिए देखें "राजगृह में प्राचीन जैन सामग्री।"

- जैन भारती, वर्ष १२, अंक २।



उत्कीर्णित मिलती है ।

उपर्युक्त काल में पश्चिमभारत की अपेक्षा उत्तरभारत में मूर्तिकला का पर्याप्त विकास हुआ, यद्यपि कलात्मक दृष्टि से इन पर बहुत ही कम अध्ययन हुआ है, तथापि अंग्रेजी जरनलों और भारतीय पुरातत्त्व विषयक कुछ प्रान्तीय भाषाओं के शोधपत्रों में कुछ मूर्तियाँ सविवरण प्रकाशित हुई हैं । विदेशी संग्रहालयों के इतिवृत्तों में भी इनका समावेश किया गया है ।

उत्तरगुप्तकालीन अधिकतर मूर्तियाँ सपरिकर ही मिलती हैं । इसे हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं । प्रथम परिकर में जैनमूर्ति एवं उसके चारों ओर अवांतर बैठी या खड़ी मूर्तियाँ ही अंकित रहती हैं । एवं निम्न भाग में मूर्ति बनानेवाले दंपति तथा यक्ष-यक्षिणी धर्मचक्र एवं व्याल आदि खुदे होते हैं । यह तो सामान्य परिकर है । यद्यपि कलाकार की इसमें वैविध्य लाने में स्थान कम रहता है । इस शैली की मूर्तियाँ प्रस्तर और धातु की मिलती हैं । प्रस्तर की अपेक्षा धातु की मूर्तियाँ सौन्दर्य की दृष्टि से अधिक सफल जान पड़ती हैं । परिकर का दूसरा रूप इस प्रकार पाया जाता है । मूल प्रतिमा के दोनों ओर चमरधारी, इनके पृष्ठ भाग में हस्ती या सिंहाकृति तदुपरि पुष्पमालाएँ लिये देव-देवियाँ-कहीं पर समूह कहीं पर एकाकी-मस्तक पर अशोक की पत्तियाँ, कहीं दण्डयुक्त छत्र, कहीं दण्ड रहित, उसके ऊपर दो हाथी तदुपरि मध्यभाग में कहीं-कहीं ध्यानस्थ जिन-मूर्ति प्रभावली, कहीं कमल की पंखुडियाँ विभिन्न रेखाओंवाली या कहीं सादा ।

मूर्ति के निम्न भाग में कहीं कमलासन, कहीं स्निग्ध प्रस्तर, निम्न भाग में ग्राम, धर्मचक्र अधिष्ठात्री एवं अधिष्ठाता नवग्रह, कहीं कुबेर, कहीं भक्तगण पूजोपकरण, कमलदण्ड उत्कीर्णित मिलते हैं । संभव है कि १२वीं, १३वीं शती तक के परिकरों में कुछ और भी परिवर्तन मिलते हों । कुछ ऐसे भी परिकर युक्त अवशेष मिले हैं, जिनमें तीर्थंकर के पंचकल्याणक और उनके जीवन का क्रमिक विकास भी पाया जाता है । बौद्ध-मूर्तियों में भी बुद्धदेव के जीवन का क्रमिक विकास ध्यानस्थ मुद्रावली मूर्तियों में दृष्टिगत होता है । **राजगृही और पटना** संग्रहालय में इस प्रकार की मूर्तियाँ देखने में आती हैं । परिकरयुक्त मूर्ति ही जन-साधारण के लिए अधिक आकर्षण का कारण उपस्थित करती है और परिकर वाली मूर्तियों में ही कलाकार को भी अपना कौशल प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है । यद्यपि परिकर का भी प्रमाण है कि मुख्य मूर्ति से ड्योढ़ा होना चाहिए । पर जिन मूर्तियों की चर्चा यहाँ पर की जा रही है, उन



मूर्तियों के निर्माण के काफी वर्ष बाद के ये शिल्पशास्त्रीय प्रमाण है। अतः उपर्युक्त नियम का सार्वत्रिक पालन कम ही हुआ है। परिकर का यों तो आगे चलकर इतना विकास हो गया कि उसमें समयानुसार जरूरत से ज्यादा देव-देवी और हंसों की पंक्तियाँ भी सम्मिलित हो गयीं, परंतु यह परिवर्तनकाल प्रकृत स्थान पर विवक्षित काल के आगे का है। अतः इस पर विचार करना यहाँ पर आवश्यक नहीं जान पड़ता।

प्रासंगिक रूप से यहाँ पर सूचित कर देना परमावश्यक जान पड़ता है कि खड़ी और बैठी जैनमूर्तियों के अतिरिक्त चतुर्मुखी मूर्तियाँ भी मिलती हैं। एवं कहीं-कहीं एक ही शिलापट्ट पर चौबीसों तीर्थकरों की मूर्तियाँ सामूहिक रूप से उपलब्ध होती हैं। यहाँ पर मूर्तिकला के अभ्यासियों को स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार जिनमूर्तियाँ बनती थीं, उसी प्रकार जिनभगवान की अधिष्ठातृदेवियों की भी मूर्तियाँ स्वतंत्र रूप से काफी बना करती थीं। इनके स्वतंत्र परिकर पाये जाते हैं।

जैन-मूर्ति-निर्माण-कला और उसके क्रमिक विकास को समझने के लिए उपर्युक्त पंक्तियाँ मेरे ख्याल से काफी हैं। यह विवेच्य धारा १२ वीं शती तक की बही है। कारण कि इसके बाद जैनमूर्ति-निर्माण-काल में कला नहीं रह गयी है। कुशल शिल्पियों की परंपरा में वैसे व्यक्ति इन दिनों नहीं रह गये थे, जो अपने औजारों द्वारा पाषाण में प्राण का संचार कर सकें। उनके पास हृदय न था, केवल मस्तिष्क और हाथ ही काम कर रहे थे।

भवनस्थित मूर्तियों का परिचय

वर्षों से सुन रहा था कि प्रयाग नगरसभा के संग्रहालय में श्रमण-संस्कृति से संबंधित पर्याप्त मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। काशी में जब मैं फरवरी में आया तभी से विचार हो रहा था कि एक बार प्रयाग जाकर प्रत्यक्ष अनुभव किया जाय, परंतु मुझ जैसे सर्वथा पाद-विहारी के लिए थी तो एक समस्या ही। अन्त में मैंने कड़कडाती धूप में १०-६-४९ को प्रयाग के लिए प्रस्थान किया। ग्रीष्म के कारण मार्ग में कठिनाइयों की कमी नहीं थी, परंतु उत्साह भी इतना था कि ग्रीष्मकाल हम पर अधिकार न जमा सका। प्रयाग जाने का एक लोभ यह भी था कि निकटवर्ती कौशाम्बी की भी यात्रा हो जायगी, परंतु मनुष्य का सभी चिंतन, सदैव साकार नहीं होता।

२७ जून को घूमते हुए हम लोग ऐसे स्थान में पहुँच गये, जहाँ पर



भारतीय संस्कृति से संबंधित ध्वंसावशेषों का अद्भूत संग्रह था। वहाँ पर प्राचीन भारतीय जनजीवन के तत्त्वों का साक्षात्कार हुआ और उन प्रतिभा-संपन्न अमर शिल्पाचार्यों के प्रति आदर उत्पन्न हुआ, जिन्होंने अपने श्रम से, अर्थ की तनिक भी चिन्ता न कर, संस्कृति के व्यावहारिक रूप सभ्यता को स्थायी रूप दिया। कहीं ललित-गति-गामिनी पर सुंदरियाँ मर्यादित सौंदर्य को लिये, प्रस्तरावशेषों में इस प्रकार नृत्य कर रही थीं, मानो अभी बोल पड़ेंगी। उनकी भावमुद्रा, उनका शारीरिक गठन, उनका मृदु हास्य और अंगों का मोड़ ऐसा लगता था कि अभी मुस्कुरा देंगी। कहीं ऐसे भी अवशेष दिखे जिनके मुख पर अपूर्व सौंदर्य और आध्यात्मिक शान्ति के भाव उमड़ रहे थे।

सचमुच पत्थरों की दुनिया भी अजीब है, जहाँ कलाकार वाणी विहीन जीवन-यापन करनेवालों के साथ एकाकार हो जाता है। अतीत की स्वर्णिम झाँकियाँ, उन्नत जीवन की ओर उत्प्रेरित करती है। कला केवल वस्तु तत्त्व के तीव्र आकर्षण पर ही सीमित नहीं, अपितु वह संपूर्ण राष्ट्रीय जीवन के नैतिक स्तर पर परिवर्तन कर नूतन निर्माणार्थ मार्ग प्रशस्त करती है। स्वतंत्र भारत में प्रस्तर पर से जो ज्ञान की धाराएँ बहती हैं, उन्हें झेलना पड़ेगा। उनसे हमें चेतना मिलेगी। हमारे नवजीवन में स्फूर्ति आयेगी। उस दिन तो मैंने सरसरी तौर पर खंडितावशेषों से भेंटकर विदा ली। इस लिए नहीं कि उनसे प्रेम नहीं था, परंतु इसलिए कि एक-एक की भिन्न-भिन्न गौरवगाथा सुनने का अवकाश नहीं था।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही मैं अपनी पुरातत्त्व गवेषण-विषयक सामग्री लेकर संग्रहालय में पहुँचा। वहाँ पर इन प्रस्तरों को एक स्थान पर एकत्र करनेवाले रायबहादुर **श्रीब्रजमोहनजी** व्यास उपस्थित थे। आपने बड़े मनोयोग पूर्वक संग्रहालय के सभी विभागों का निरीक्षण करवाया-विशेषकर जैन-विभाग का।

अब मैं उन प्रतिमाओं की छानबीन में लगा, जिनका संबंध जैन संस्कृति से था। जो कुछ भी इन मूर्तियों से समझ सका, उसे यथामति लिपिबद्ध कर रहा हूँ।

नं. ४०८-प्रस्तुत प्रतिमा श्वेत पर पीलापन लिये हुए प्रस्तर पर उत्कीर्ण है, कहीं-कहीं पत्थर इस प्रकार खिर गया है कि भ्रम उत्पन्न होने लगता है कि यह प्रतिमा बुद्धदेव की न हो। कारण उत्तरीय वस्त्राकृति का आभास होने लगता है। पश्चात् भाग खंडित है। बायें भाग में खड्गासनस्थ एक प्रतिमा



अवस्थित है, मस्तक पर सर्पाकृति (सप्तफण) खचित है। निम्न उभय भाग में, परिचारक परिचारिकाएँ स्पष्ट हैं। इसी प्रतिमा के अधोभाग में अधिष्ठातृ देवी अंकित है। चतुर्भुज शंख, चक्रादि से कर अलंकृत है। जो चक्रेश्वरी की प्रतिमा है। प्रधान प्रतिमा के निम्न भाग में भक्तगण और मकराकृतियाँ हैं। यद्यपि कला की दृष्टि से इस संपूर्ण शिलोत्कीर्ण मूर्ति का कोई विशेष महत्व नहीं।

नं. २५-यह प्रतिमा चुनार के समान पाषाण पर खुदी हुई है। गर्दन और दाहिना हाथ कुछ चरणों की उंगलियाँ एवं दाहिने घुटने का कुछ हिस्सा खंडित है। इसके सामने एक वक्षस्थल पडा है, इसके दाहिने कंधे के पास दो खड्गासनस्थ जैनमूर्तियाँ हैं, इनसे स्पष्ट हो जाता है कि ये जैनप्रतिमा ही हैं, कारण कि खंडित स्कन्ध प्रदेश पर केशावलि के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अतः यह प्रतिमा निःसंदेह भगवान् ऋषभदेव की है, जो श्रमण-संस्कृति के आदि प्रतिष्ठापक थे। इसके समीप ही एक स्वतंत्र स्तंभ पर नग्न चतुर्मुख मूर्तियाँ हैं।

उपर्युक्त प्रतिमाओं का संग्रह जहाँ पर अवस्थित है, वहाँ पर एक प्रतिमा हल्के पीले पाषाण पर खुदी हुई है। पद्मासनस्थ है। ३२।।। × २३ है। उभय ओर चामरधारी परिचारिक तथा निम्न भाग में दायें-बायें क्रमशः स्त्री-पुरुष की मूर्ति इस प्रकार अंकित है मानो श्रद्धांजलि समर्पित कर रहे हों। बीच में मकराकृति तथा अर्धधर्मचक्र है। प्रधान जैनप्रतिमा के मस्तक पर सुंदर एवं तदुपरि वाजिन्त्र, पुष्पवृष्टि हो रही है। पाषाण कहाँ का है, यह तो कहना जरा कठिन है, पर चुनार के पाषाण से मिलता जुलता है। इस प्रतिमा का संबंध श्रमण संस्कृति की एक धारा जैनसंस्कृति से जोड़ा जाय या बौद्धसंस्कृति से, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। बात यह है कि जितनी भी प्राचीन जैनमूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें से कुछ मूर्तियों पर तीर्थंकरों के चिह्न एवं निम्न उभय भाग में अधिष्ठाता, अधिष्ठातृदेवी की प्रतिमाएँ भी अंकित रहती हैं। इस प्रतिमा में लांछन के स्थान पर तो एक स्त्री खुदी हुई है। इस प्रकार की शायद यह प्रथम प्रतिमा है। साथ ही साथ पूर्ण या अर्धमृगयुक्त धर्मचक्र भी मिलता है।

कहीं-कहीं अधिष्ठाता के स्थान पर गृहस्थ दंपति का चित्रण भी दीखलाई पड़ता है। अब प्रश्न इतना ही है कि यदि यह बौद्ध मूर्ति होती तो वस्त्राकृति अवश्य स्पष्ट होती, जिसका यहाँ पर सर्वथा अभाव है। हाँ, श्रमण



संस्कृति की उभय धाराओं का यदि समुचित ज्ञान न हो तो भ्रम की यहाँ पर काफी गुंजाइश है। मैं तो इसकी विलक्षणता पर ही मुग्ध हो गया। इसके अंग-प्रत्यंग जान बूझकर ही तोड़ दिये गये हैं। इस पर निर्माणकाल सूचक कोई लिपि वगैरह नहीं है। प्रतिमा के मुख के भावों का प्रश्न है वे ११वीं शती के बाद के तो अवश्य ही नहीं हैं, कारण प्रतिमाओं के समय-निर्माण में उनकी मुखमुद्रा का उपयोग किया जाता है, खासकर जैनप्रतिमाओं में।

संग्रहालय के भवन में प्रवेश करते समय बायें हाथ पर हलके हरे रंग के आकर्षक प्रस्तर पर एक खड्गासन में जैनमूर्ति अंकित है। ३९ × १८। यह मूर्ति न जाने कलाकारने कैसे समय में बनाई होगी। हर प्रेक्षक का ध्यान आकर्षित कर लेती है, परंतु चरण निर्माण में कलाकार पूर्णतः असफल रहा।

इसे एक प्रतिमा न कहकर यदि चतुर्विंशति का पट्ट कहें तो अधिक अच्छा होगा, क्योंकि उभय भाग में दोनों की ६ कोटि में १२ लघुतम प्रतिमाएँ हैं, और मध्य में एक विशालकाय प्रतिमा है जो इन सब में प्रधान है—इस प्रकार २५ प्रतिमाएँ होती हैं। चतुर्विंशतिका पट्ट मैंने अन्यत्र भी देखे हैं, पर उनमें मध्य प्रतिमा को लेकर २४ मूर्तियाँ होती हैं, जब इसमें २५ है। अर्थात् ऋषभदेव की दो मूर्तियाँ हैं। लोग कहा करते हैं कि शरीर का सारा सौंदर्य मुखाकृति पर निर्भर होता है। इस पर यह पंक्ति खूब चरितार्थ होती है। प्रतिमाओं का अंग-विन्यास, स्वाभाविक है, कहीं पर भी कृत्रिमता जैसी कोई चीज नहीं है। उँगलियाँ और मुख पर कितना प्राकृतिक प्रभाव है, यह देखकर दांतों तले उंगली दबानी पड़ती है। मुखमंडल पर अपूर्व शांति और आध्यात्मिकता के स्थायीभाव तथा ओठों पर स्मित-हास्य फडक रहा है। सौन्दर्य पार्थिव जगत् का विषय होते हुए भी यहाँ कलाकार की कल्पना शक्ति ने उनकी आध्यात्मिक झलक करा दी है।

प्रतिमा के स्कन्धप्रदेश पर विराजित केशावलि^१ बहुत ही सुंदर लग रही

१ दशम शती के पूर्व की जिन-प्रतिमाओं में प्रायः लांछन नहीं मिलते। अतः किस तीर्थंकर की कौन मूर्ति हैं? यह कहना कठिन हो जाता है। ऋषभदेव की मूर्ति की पहचान यों तो लांछन से की जाती है, परंतु प्राचीन मूर्तियों में तो केशावलि ही परिचय प्राप्त करने का प्रधान साधन है। सूत्र निर्युक्ति और त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र आदि ग्रंथों में केशावलि का आवश्यक कारण इन शब्दों में स्पष्ट बतलाया गया है—

“तेसिं पंचमुड्डिओ लोओ सयमेव । भगवओ पुण सक्कवयणेण कणगावदाए



है, चरण के निम्न भाग में वृषभ का चिह्न भी स्पष्ट है। अतः यह मूर्ति ऋषभदेव की है। दायीं ओर अधोभाग में दंपति युगल है। बायीं ओर मगर तथा धूप-दीपक आदि पूजन की सामग्री पड़ी हुई है। इस प्रकार की पूजन सामग्री बौद्ध-प्रतिमाओं में उत्कीर्ण रहती है।

२४ तीर्थकरों की भिन्न-भिन्न मूर्तियाँ उपर्युक्त शिला में खुदी हुई है। उन सभी पर वृषभ, हस्ती आदि अपने-अपने चिह्न भी बने हुए हैं। मध्यवर्ती प्रतिमा के उभय ओर अवस्थित चामरधारियों की भावभंगिमा सुकुमारता की परिचायि का है। ऊपर के भाग में प्रभामंडल, पुष्पमाला और ध्वनि आदि के चिह्न हैं। इस ललित प्रतिमा का निर्माणकाल १३वीं शती के बाद का नहीं हो सकता। इस शैली की एक प्रतिमा मैंने राजगृह निवासी बाबू कन्हैयालालजी के संग्रह में देखी थी, जिसका चित्र ज्ञानोदय के प्रथमांक में भी प्रकाशित हो चुका है।

प्रवेशद्वार के बायीं ओर एक शिल्पाकृति कुछ विचित्र-सी लगती है जो श्याम पाषाण पर उत्कीर्ण है, सापेक्षतः बहुत प्राचीन नहीं है। अग्रभाग में गजराज है। एक पद्मासनस्थ एवं तदुभय भाग में दो खड्गासनस्थ जैनमूर्तियाँ हैं। ऊपर के भाग में सुंदर नागर शैली का शिखर अंकित है। निम्न भाग में

सरीरे जडाओ अंजणरेहाओ इव रेहंतीओ उवलभइऊण ठिआओ तेण चउमुड्डिओ लोओ ।”

—आ. नि. पृ. १६१।

उनका (तीर्थकर का) स्वयमेव पंचमुष्टि का लोच था, पर भगवान् ऋषभदेव का इंद्र के बचन से, उनके कनकवत् उज्ज्वल शरीर पर, अंजन रेखा के समान जटाएँ बिना लुंचित किये ही सुशोभित रहीं, अतः उनका चतुर्मुष्टिका लोच हैं।

प्रतीच्छति स्म सौधर्माधिपतिः कुन्तलान् प्रभोः ।

वस्त्राञ्जले वर्णान्तरतन्तुमण्डनकारिणः ॥ ६८ ॥

मुष्टिना पञ्चमेनाऽथ शेषान् केशान् जगसतिः ।

समुञ्चिखीन्नषट्त्रेवं ययाचे नमुचिद्विषा ॥ ६९ ॥

नाथ ! त्वदंसयोः स्वर्णरुचोर्मरकतोपमा ।

वातानीता विभात्येषा तदास्तां केशवल्ली ॥ ७० ॥

तथैव धारयामास तामीशः केशवल्लीम् ।

याञ्जामेकान्तभक्तानां स्वामिनः खण्डयन्ति न ॥ ७१ ॥

— त्रिषष्टिशिलाकापुरुषचरित्र, सर्ग ६, पृष्ठ ७० ।



चक्र के स्थान पर दो हस्ती, इस प्रकार बताये गये हैं, मानो शिर और प्रतिमाओं को वहन किये हुए हैं। इस प्रकार की शिल्पाकृति अन्यत्र देखने में नहीं आयी, अनुमानतः यह रथयात्रा का प्रतीक है।

प्रवेशद्वार के सम्मुख २१ × १५ इंच की शिला पर एक-एक पंक्ति में छः-छः इस प्रकार पंक्तियों में १८ मूर्तियाँ एवं चतुर्थ पंक्ति में छः प्रतिमाएँ हैं। ५ खड्गासन और एक पद्मासन। मुख का भाग खंडित है।

उपर्युक्त पंक्तियों में जिन-मूर्तियों का परिचय दिया गया है, वे सभी नगर सभा-संग्रहालय की गैलरी में रखी गयी है, कुछ एक ऐसी भी जैन-मूर्तियाँ हैं, जिनका विशेष महत्व न रहने के कारण परिचय नहीं दिया गया है।

बाहर की प्रतिमाएँ

नगरसभा-संग्रहालय के उद्यान में दक्षिण की ओर प्रवेश करते समय उन दो विशाल जैन-मूर्तियों पर दृष्टि केन्द्रित हो जाती है जो दायें-बायें रखी गयी है। यद्यपि दोनों प्रतिमाएँ निम्न सांप्रदायिक मनोवृत्ति की शिकार हो चुकी है तथापि उनका शारीरिक गठन एवं सौंदर्य आज भी कलाविदों को खींचे बिना नहीं रहता। आकार-प्रकार में प्रायः दोनों समान प्रतीत होती है, पर निर्माण शैली और रचनाकाल में बड़ा अंतर है। बायीं ओर की मूर्ति का मुख यद्यपि खंडित है तथापि उसका शेष शारीरिक गठन और विन्यास स्वाभाविक है। उदराकृति तो सर्वथा प्राकृतिक प्रतीत होती है।

मूल प्रतिमा के उभय ओर चामरधारी परिचारक हैं, जिनके खड़े रहने का ढंग और कटि प्रदेश पर पड़ी हुई उंगलियाँ रसवृत्ति उत्पन्न करती हैं। दायें परिचारक के निम्न भाग में एक स्त्री आकृति एवं तदधोभाग में एक पुरुष बैठा है और सम्मुख एक स्त्री अंजलिबद्ध खड़ी है। बायें परिचारक का भाग खंडित हो चुका है। केवल स्त्री का धड हाथ में कमल लिये दिखाई देता है। मूल प्रतिमा का आसन कमल की पंखुडियों से सुशोभित हो रहा है। निम्न भाग में मकराकृतियाँ इस प्रकार बनी हुई हैं मानो संपूर्ण प्रतिमा उन्हीं पर आधृत हो। इनके स्कन्ध प्रदेश पर रोमराजि व्यक्त कराने में कलाकार ने बड़ी कुशलता से काम लिया है। एक-एक रोम गिने जा सकते हैं। प्रतिमा के मस्तक के पृष्ठभाग में सुंदर और सूक्ष्म खुदाई और रेखाओं वाला भामंडल प्रभावलि प्रतिमा की रमणीयता में अति वृद्धि करता है, जैसा कि बुद्ध प्रतिमाओं में भी पाया जाता है। सच कहा जाय तो इस प्रभावलि की



ललितकला के कारण ही मूर्ति में कलात्मक आकर्षण रह गया है। मस्तक का भाग बूरी तरह खंडित है। केवल दायीं कर्णपट्टिका का एक अंश बच पाया है। तदुपरि भाग में छत्र का दंड भी खंडित हो गया है। जिस प्रकार यक्ष या कुछ देवियों की मूर्तियों में दंड द्वारा छत्र रखने का रिवाज था, जैनप्रतिमाओं में भी कहीं-कहीं उसकी स्मृति दृष्टिगोचर होती है, जिसे उपर्युक्त प्रथा का भ्रष्ट संस्करण कह सकते हैं। छत्र के ऊपर के भाग में अशोक वृक्ष की पत्तियाँ स्वाभाविकता प्रदर्शित हैं। उभय ओर पुष्पमाला लिये देवियाँ गगन विचरण कर रही हैं, ऐसा आभास होता है। कलाकार ने पाषाण पर बादल की घटाएँ बहुत ही उत्तम ढंग से व्यक्त की हैं। देवियों का मुख मंडल प्रसन्नता के मारे खिल उठा है। उपर्युक्त पंक्तियों के बाद बिना कहे नहीं रहा जा सकता कि न जाने इसका मुखमंडल कितना सुंदर और आध्यात्मिक ज्योति पूर्ण रहा होगा। यह प्रतिमा चंद्रप्रभु की है और कौशाम्बी से प्राप्त की गई है। प्रभावली से स्पष्ट है कि यह गुप्तकालीन कृति है।

बायें भाग पर पड़ी हुई प्रतिमा डील-डौल से तो ठीक उपर्युक्त मूर्ति के अनुरूप ही है, परंतु कला की दृष्टि से कुछ न्यून है। निर्माण में अंतर केवल इतना ही है कि इसके पृष्ठ भाग में देवी और पारिचारक के मध्य में हस्ती पर आरूढ दोनों ओर दो देव-देवियाँ हैं, एवं निम्न भाग में मृगयुक्त खड़ा धर्मचक्र स्पष्ट बना हुआ है। यद्यपि इसका मस्तक सर्वथा खंडित नहीं, मुख का अग्र भाग खंडित है। वक्षस्थल पर छैनी के चिह्न बने हैं। ग्रीवा पर रेखाएँ एवं जिस आसन पर मूर्ति आधृत है, उसका भाग भी उपर्युक्त प्रतिमा की अपेक्षा पृथक् रेखाओंवाला है।

मुख्य फाटक के फौवारे के सामने जैन-प्रतिमाओं के अलग-अलग चार अवशेष रखे हैं, वे क्रमशः इस प्रकार हैं-

(१) प्रस्तुत खंडित पाषाण पर सोलह जैन प्रतिमाएँ ११ × १५ इंच की शिला पर उत्कीर्णित हैं। निम्नस्थान खंडित है। अनुमानतः खंडित स्थान में भी आठ खड़ी जैनप्रतिमाएँ अवश्य ही रही होंगी। प्रस्तुत शिलापट्ट के प्रधान पार्श्वनाथ है।

(२) चुनार की २२ × २५ की शिला पर २४ जैन प्रतिमाएँ अंकित हैं। चार पंक्ति में पाँच-पाँच और उपरिभाग में चार इस प्रकार चतुर्विंशति पट्ट है। प्रतिमा-विधान की दृष्टि से यह चतुर्विंशतिपट्टिका महत्व की है। अंग-विन्यास बड़ा सुंदर और भाव-दर्शक है। प्रायः सभी की मुखाकृति थोड़े बहुत अंश में



खंडित है जैसा कि चित्र से स्पष्ट है। गुजरात में भी इस प्रकार की प्रतिमाएँ बनती थीं, जिनके ऊपर के भाग में शिखराकृतियाँ मिलती हैं।

(३) इस परिकर युक्त प्रतिमा का केवल मस्तक के ऊपर का भाग ही बच पाया है। त्रुटित भाग की मानवाकृतियों से पता चलता है कि निःसंदेह प्रतिमा बहुत ही सुंदर और कलापूर्ण रही होगी।

(४) इस प्रतिमा का केवल निम्न भाग और मस्तक अलग-अलग पड़े हैं। मेरे ख्याल से (३) वाले उपरि भाग का यह अंश निम्न अंश होना चाहिए। अनजान के लिए निम्न भाग को देखकर शंका हुए बिना नहीं रहती कि प्रस्तुत अंश का संबंध किस धर्म से है। बारीकी के साथ निरीक्षण करने से ज्ञात हुआ कि इसका सीधा संबंध श्रमण-संस्कृति की एक धारा जैन संस्कृति से है, कारण कि प्रतिमा के निम्न भाग पर जो आकृतियाँ हैं, वे निर्णय करने में बहुत बड़ी मदद देती हैं। दक्षिण निम्न भाग में गोमुख यक्ष और बायीं ओर चक्रेश्वरी की मूर्तियाँ हैं। मध्य में वृषभ का चिह्न अंकित है। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत अवशेष ऋषभदेव की प्रतिमा का है। इस पर अंकित धर्मचक्र के अभय भाग में मकर एवं तन्निम्न भाग में नवग्रहों की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। प्रस्तुत प्रतिमा का निर्माणकाल अंतिम गुप्तों का समय रहा होगा। इसकी चौड़ाई २३” है। अतः दोनों एक ही हैं।

उत्तराभिमुख बहुत से भिन्न-भिन्न खंडित अवशेष बिखरे पड़े हैं, जिनमें ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं।

संग्रहालय के पूर्व की ओर टीन का विशाल गोलाकार गृह बना हुआ है, जिनमें भूमरा के बहुसंख्यक सुंदर कलापूर्ण एवं अन्यत्र अनुपलब्ध अवशेष रखे गये हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास और शिल्प-स्थापत्य कला की दृष्टि में इनका बहुत बड़ा महत्व है।

अभी तक सांस्कृतिक दृष्टि से इन पर समुचित अध्ययन नहीं हो पाया है। इन सभी को सरसरी तौर पर देखने से प्रतीत हुआ कि इसमें भारतीय लोक-जीवन की विशिष्ट धाराओं के इतिहास की कड़ियाँ बिखरी पड़ी हैं, शैव संस्कृति के इतिहास पर उज्ज्वल प्रकाश डालनेवाली कलात्मक सामग्री भी पर्याप्त रूप में है। शिवजी के समस्त गण कई लाल प्रस्तरों में बंटे हैं। इसी गृह में प्राचीन मंदिरस्थ स्तंभ के टुकड़े पड़े हैं, जिन पर नर्तकियों की भावपूर्ण मुद्राएँ अंकित हैं। सचमुच इनकी भावभंगिमाएँ ऐसे ढंग से व्यक्त की गई हैं,



मानो उन दिनों का सुखी जन-जीवन ही जीवित हो उठा हो ।

महेश्वर, गणेश आदि अन्य अवशेषों का महत्व न केवल सौंदर्य की दृष्टि से ही है, अपितु आभूषण और मुद्राओं की दृष्टि से भी कम नहीं ।

जल-कूप के निकट विशाल टीन का छप्पर बना हुआ है । इसमें कौशाम्बी, खजुराहो और सारनाथ से लाये हुए, भारतीय संस्कृति की सभी धाराओं के अवशेष पड़े हुए हैं, उनमें अधिकांश मंदिरों के विभिन्न अंश हैं । कुछ शिल्प तो ऐसे सुंदर हैं कि जिनकी स्वाभाविकता और सौंदर्य को लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता । उदाहरणार्थ एक दो शिल्प ही पर्याप्त होंगे । एक प्रस्तर पर माता के उदर में रहे हुए दो बच्चों का जो उत्खनन कलाकार ने अपनी चिर साधित छैनी द्वारा, कल्पना को साकार रूप देकर किया है, वह अनुपम है । विशेषतः बच्चों की मुख-मुद्रा पर जो भाव प्रदर्शित है, उनको व्यक्त करना कम से कम मेरे लिए तो संभव नहीं है । एक ऐसा भी अवशेष है, जिस में बताया गया है कि गौ खड़ी हुई अपने बछड़े की पीठ को स्नेहवश चाट रही है । बच्चा पयःपान कर रहा है । गौ के मुख पर वात्सल्य रस झलक रहा है । एक शिल्प में दो स्त्रियाँ मथानी से विलोडन कर रही हैं । बालक अपनी भोली-भाली मुख मुद्रा लिये मक्खन के लिए याचना कर रहा है । कल्पना कर सकते हैं कि चित्र में कृष्ण की बाललीला के भाव हैं । इस मंडप की सामग्री साधारण पेशकों को तो संभवतः संतुष्ट न कर सके, परंतु पत्थरों की दुनिया में विचरण करनेवाले कोमल हृदय के कलाकारों को आश्चर्यान्वित किये बिना नहीं रहती ।

उपर्युक्त मंडल के पास ही लंबी पंक्ति में भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सती स्मारकों के अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें से बहुतों पर लेख भी हैं । इन स्मारकों का सामाजिक दृष्टि से थोड़ा बहुत महत्व है । इन पर अभी अधिक अन्वेषण अपेक्षित है । इन सती स्मारकों के सामने बहुत से टुकड़े स्थानाभाव के कारण इस प्रकार अस्त-व्यस्त पड़े हैं, मानो उनका कोई महत्व ही न हो । इनमें भी चार जैनमूर्तियों के खंडितांश पड़े हैं ।

जल-कूप के निकट एक दूसरा टीन का गृह और बना हुआ है । इसमें वे ही अवशेष संगृहीत हैं, जो खजुराहो से लाये गये थे । शिल्पकला से अपरिचित व्यक्तियों को भी यहाँ आनंद मिले बिना नहीं रह सकता । प्रवेशद्वार पर ही खजुराहो के एक प्रवेश द्वार का कुछ अंश रखा है । जिसमें नर्तकियों की विभिन्न भाव-भंगिमाओं से युक्त मूर्तियाँ, कलाकार को अभिनंदित करने को



बाध्य करती है। भारतीय नारी जीवन का आनंद स्वाभाविक रूपेण इन मूर्तियों के अंग-अंग पर चमक रहा है। अंग-विन्यास, उत्फुल्ल वदन, स्मित हास्य, संगीत के विभिन्न उपकरणों ने इनका महत्व और भी बढ़ा दिया है। इन सभी का महत्व शिल्प-कला की दृष्टि से समझा जा सकता है, हृदयंगम भी किया जा सकता है, परंतु वर्णमाला के सीमित अक्षरों में कैसे बाँधा जाय ! इन अवशेषों में कुछ जैन-अवशेष भी है जिनका परिचय इस प्रकार है। अवशेषों की संख्या अधिक है। कुछ तो श्याम पाषाण पर उत्कीर्णित है। मैंने मध्यप्रान्त में भी ऐसे ही श्याम पाषाण पर खुदी हुई मूर्तियाँ देखी है। बहुरीबंदवाली मूर्ति से यह पाषाण समानता रखता है। संभव है त्रिपुरी का जब उत्कर्ष काल रहा होगा, तब शिल्पकला के उपकरण के रूप में पाषाण भी बुंदेलखंड में कलाकारों द्वारा, मध्यप्रान्त से जाता रहा होगा। क्योंकि खजुराहो जबलपुर से बहुत दूर नहीं है।

एक जैनप्रतिमा का निम्न भाग पड़ा है। इस चरण को देखते ही कल्पना की जा सकती है कि प्रस्तुत प्रतिमा भी ६० इंच से क्या कम रही होगी, क्योंकि २२ इंच तक तो घुटने का ही भाग है। शिल्पकला के पारखी भली-भाँति परिचित है कि किसी भी विषय की संपूर्ण प्रतिमा के सौन्दर्य को समझने के लिए उसका एक अंग ही पर्याप्त होता है। इस दृष्टि से तो मुझे यही कहना पड़ेगा कि प्रस्तुत मूर्ति को शिल्पी ने गढ़ ही डाला है। उनके हाथ और छेनी ही काम कर रही थी। हृदय और मस्तिष्क शायद शून्यवाद में परिणत हो गये होंगे। सौभाग्य से संपूर्ण संग्रहालय में यही एक ऐसी जैन तीर्थंकर की प्रतिमा है, जिस पर निर्माणकाल सूचक लेख भी खुदा हुआ है, जिसमें **बलात्कारगण वीरनंदी और वर्धमान** के नाम पढ़े जाते हैं। १२१४ **फाल्गुन सुदी ९** बताया गया है। यदि इस संवत् को सही मानते हैं तो लिपि और निर्माणकाल में अंतर होने के कारण उस पर ऐतिहासिक और मूर्तिविज्ञान के विशेषज्ञ एकाएक विश्वास नहीं कर सकते। बाजू में ही २७४ नं. का एक टुकड़ा है, जो २७३ से संबंधित प्रतीत होता है। इन टुकड़ों के निम्न भाग में बहुत ही सुंदर और सूक्ष्म ७ नग्न प्रतिमाएँ खुदी है, इन अवशेषों से ही विदित होता है कि प्रतिमा बड़ी सौंदर्य-संपन्न रही होगी।

नं. ३०२ - यह प्रतिमा ऋषभदेव की है।

२३५ - यह प्रतिमा किसी मुख्य प्रतिमा के बायें भाग का एक अंश दिखती है। यद्यपि प्रतिमाविधान की दृष्टि से स्वतंत्र मूर्ति ही मानें तो हर्ज नहीं



है। इसका मस्तक किसी हृदयहीन व्यक्तिने जानबूझकर खंडित कर दिया है। पर किसी सहृदय व्यक्ति ने उसे सीमेण्ट से भदे रूप से चिपका दिया है।

४२-२३ इंच की मटमैली शिला पर प्रस्तुत जिन-प्रतिमा उत्कीर्ण है। इसका निर्माण सचमुच में कुशल कलाकार द्वारा हुआ है। भावमुद्रा और शिलोत्कीर्णित परिकर का गठन, सौन्दर्य के प्रतीक है, परंतु बायाँ घुटना जानबूझकर बुरी तरह से खंडित कर दिया है। मूल प्रतिमा पद्मासन में है। उभय ओर १८ इंच की दो खड्गासनस्थ प्रतिमाएं हैं। उनमें शांत रस का उद्दीपन स्पष्ट है। मुखमुद्रा में समत्व की भावना झलक रही है। दोनों के निम्न भाग में एक-एक पार्श्वद हैं। उपर्युक्त प्रतिमा का निम्न भाग स्वभावतः पाँच भागों में बंट गया है। दक्षिण प्रथम भाग में एक गृहस्थ हाथ जोड़े घुटना टेककर वंदना कर रहा है। बाजू में सुखासन में एक मूर्ति खुदी हुई है। शिल्पशास्त्र की दृष्टि से तो इस स्थान पर अधिष्ठाता गोमुख यक्ष की प्रतिमा होनी चाहिए, क्योंकि यह प्रतिमा ऋषभदेव स्वामी की है।

दिगम्बर और श्वेतांबर शिल्पशास्त्रों में वर्णित अधिष्ठाता का स्वरूप इस से सर्वथा भिन्न है। सबसे बड़ा भिन्नत्व यही पाया जाता है कि यक्ष के चार हाथ होने चाहिए जब कि यहाँ पर जो प्रतिमा खुदी है वह दो हाथोंवाली ही है। अतः इसे किस रूप में माना जाय ? मैं अपने अनुभवों के आधार पर दृढतापूर्वक कह सकूंगा, कि यह सुखासनस्थ विराजित प्रतिमा कुबेर की ही होनी चाहिए। कारण कि मुझे सिरपुर से नवम शताब्दी की एक ऋषभदेव स्वामी की धातु-प्रतिमा प्राप्त हुई थी, उसमें भी इसी स्थान पर कुबेर की प्रतिमा विराजमान थी और बायीं ओर द्विमुखी अंबिका की। प्रस्तुत प्रतिमा में भी बायीं ओर आम्रलुम्ब लिये और बायें हाथ से एक बच्चे को कटि पर थामें, अंबिका की मूर्ति दिखायी गयी है। बाजू में एक गृहस्थ स्त्री भक्ति पूर्वक वंदना करती हुई प्रतीत होती है। यद्यपि ऋषभदेव स्वामी की अधिष्ठातृदेवी गरुडवाहिनी चक्रेश्वरी है, अतः यहाँ पर उसीकी मूर्ति अपेक्षित थी, जब कि यहाँ अंबिका है। प्रायः बहुसंख्यक प्राचीन कई तीर्थंकरों की ऐसी प्रतिमाएँ देखने में आयी हैं, जिनकी अधिष्ठातृ देवी के स्थान पर अंबिका के ही दर्शन होते हैं, विशेषतः पार्श्वनाथ और ऋषभदेव आदि की मूर्तियों में। यों तो अंबिका भगवान् नेमिनाथ की अधिष्ठातृ है। जैन-मूर्ति-विधान शास्त्र में इसके दो रूप मिलते हैं, परंतु शिल्प स्थापत्यावशेषों में तो वह, अनेक ऐसे रूपों में व्यक्त हुई है कि उनके विभिन्न पहलुओं का पहचानना भी कहीं-कहीं कठिन



हो जाता है ।

जिन प्रतिमा की चर्चा यहाँ पर की जा रही है, उसके आसन का भाग इस रूप से बना हुआ है मानो कोई सुंदर चौकी ही हो, आसन के रूप में वस्त्राकृति है । जिस पर वृषभ का चिह्न है । और दो मकरों के बीच में खड़ा धर्मचक्र है । प्रतिमा के मुख के पश्चात् भाग में प्रभावली है, साधारण रेखाएँ भी है । उभय और पुष्पमाला लिये गगनविचरण करते हुए देववृन्द है, तदुपरि दंडयुक्त छत्र है । दायें भाग में एक हाथी का चिह्न है, बायीं ओर इन्द्र । छत्र के ऊपर का भाग बड़ा ही कलापूर्ण है । अशोक वृक्ष की पत्तियाँ और दो हस्त ढोल बजा रहे हैं । छत्र के दोनों भागों में पद्मासनस्थ दो जिनमूर्तियाँ भी अंकित हैं । इतने लंबे विवेचन के बाद भी एक प्रश्न रह ही जाता है कि इसका निर्माणकाल क्या हो सकता है ? कलाकार ने संवत् का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया, अतः केवल अनुमान से ही काम लेना पड़ रहा है । यह मूर्ति खजुराहो से लाई गई है, प्रस्तर भी वहाँ के अन्य अवशेषों से मिलता-जुलता है । इस प्रकार की अन्य प्रतिमाएँ देवगढ़ में पायी गई हैं, जिन पर संवत् भी है ।

खासकर अंबिका और कुबेर की प्रतिमाएँ इसके साथ संबंधित हैं, उनके अध्ययन के बाद कहा जा सकता है कि इसका रचनाकाल ९ से ११ वीं शती का मध्यभाग होना चाहिए, क्योंकि अलंकरणों का विकास जैसा इसमें हुआ है, वैसा उन दिनों खजुराहो और त्रिपुरी-तेवर की सभी धर्मावलंबियों की प्रतिमाओं में हुआ था । विशेषतः अंतर्गत मूर्तियों का उपरि भाग-जो मगध की स्मृति दिला रहा है-बुन्देलखंड के विष्णु और शाक्त प्रतिमाओं में पाया जाता है । ५ संख्यावाली उपर्युक्त प्रतिमा जहाँ पर सुरक्षित है, ठीक उसके पश्चात् भाग में ही एक और जैनमूर्ति है, जो मटमैले पाषाण पर खुदी हुई है । निःसंदेह मूर्ति का सौंदर्य और शारीरिक विकास स्पर्धा की वस्तु है, परंतु प्रश्न होता है कि क्या मूर्ति का स्वाभाविक अंग इतना ही था जितना आप चित्र में देख रहे हैं ? मुझे तो संदेह ही है, कारण कि दक्षिण भाग जितना स्पष्ट है, उतना ही वाम भाग अस्पष्ट । मेरा तो ध्यान है कि यह विशालकाय प्रतिमा के परिकर का एक अंगमात्र है । ऊपर जिस मूर्ति का चित्र आप देख रहे हैं, उसके दक्षिण भाग की ही आप कल्पना करें तो इन पंक्तियों का रहस्य स्वतः समझ में आ जायगा । यह त्रुटितांश एक बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि पूर्व प्रतिमा कितनी मनोहर रही होगी ।

इस छप्परवाले संग्रह में उत्थितासन कुछ जैन-मूर्तियाँ हैं, पर कला की



दृष्टि से उनका विशेष मूल्य न होने से उल्लेख ही पर्याप्त है ।

नगरसभा-संग्रहालय के मुख्य गृह के पश्चात् भाग में एक और टीन की मजबूत चादरों से ढका, एक छप्पर है, जो जालियों से घिरा हुआ है । इसमें उन्मुक्त भावनाओं के पोषक कलावशेष कैद है । परंतु बंदी जीवन-यापन करनेवालों में जो रसवृत्ति का स्थायी भाव देखा जाता है वह सात्विक मनोभावना का अद्भूत प्रतीक है । इस गृह को मैंने बन्दीखाना सकारण ही कहा है । जब हम लोगों ने इसमें प्रवेश किया तब इतना कूड़ा-कचरा भरा हुआ था मानो महीनों से सफाई ही न हुई हो, जहाँ सर ऊँचा किया कि जाले लगे । मूर्तियों पर तो इतनी धूल जम गई थी कि मुझे साफ करने में पूरा १॥ घंटा लगा । कलातीर्थ में भी इस प्रकार की घोर अव्यवस्था, किसी भी दृष्टि से क्षम्य नहीं । हमारे देश की संस्कृति के प्रतीकसम इन अवशेषों का संग्रह यदि दूसरे देश के किसी संग्रहालय में होता तो शायद इनसे तो अच्छी ही हालत में होता !

इस गृह में भरहूत, खजूराहो, नागौद और जसो आदि नगरों से लाये हुए अवशेषों का संग्रह किया गया है । इनमें कुछेक ऐसी ईंटें हैं, जिन पर लेख भी है । निःसंदेह यह संग्रह अनुपम है । एक मंदिर का मुख्य द्वार भी सुरक्षित है, जिसमें केवल कामसूत्र के आसन ही खुदे हुए हैं । यों तो प्राचीन शिल्पस्थापत्य-कला से संबंध रखनेवाली पर्याप्त साधन सामग्री इसमें है, परंतु जैन-मूर्तियों का भी सब से अच्छा और व्यवस्थित संग्रह भी इसी में है । सौभाग्य से ये साथ में एक ओर सजाकर रखी गयी है । इन सब की संख्या दो दर्जन से कम नहीं होगी । प्रतीत होता है कि किसी जैनमंदिर में खड़े हों !

बार्यों ओर से मैं इनमें से कुछ का परिचय प्रारंभ करता हूँ । प्रतिमाएँ ऊपर-नीचे दो पंक्तियों में हैं ।

एक अवशेष ३२" × १२" का है, जिसके उभय भाग में १५ जिन प्रतिमाएँ खड्गासन और पद्मासन में हैं । अवशिष्ट भाग को गौर से देखने से प्रतीत होता है कि यह किसी मंदिर के तोरण का अंश है या विशाल प्रतिमा का एक अंग, पत्थर लाल है । इसी टुकड़े के पास एक और वैसा ही खंडितांश ४० × १७ इंच का है, इसका विषय तो ऊपर से मिलता-जुलता है, पर कला-कौशल और सौंदर्य की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है । इसके मध्यभाग में शेर पर बैठी हुई अंबामाता की प्रतिमा है । इसके बायें घुटने पर बालक एवं दक्षिण हस्त में आम्रलुम्ब है । ऊपर के हिस्से में चार जिन-प्रतिमाएँ क्रमशः



उत्कीर्ण है। बायीं ओर ऋषभ और दायीं ओर पार्श्वनाथ तदुपरि देववृन्द विविध वादित्र लिये, स्वच्छंदता पूर्वक गगन-विचरण कर रहे हैं। भाव बड़ा ही सुंदर है। इसके समीप ही किसी स्तंभ का खंडितांश है। १३ X १० इंच। मध्यभाग में पद्मासन और उभय भाग में खड्गासनस्थ मूर्तियाँ हैं।

६८७ X ३५ किसी जैन-मंदिर का स्तंभ है। दो मूर्तियाँ हैं।

६८८ X ३४ स्तंभांश पर पार्श्व-प्रतिमा है। २२ X ११॥ इंच।

६१० यह एक खड्गासनस्थ प्रतिमा है। ३८ X २१ इंच। मस्तक पर सप्तकण स्पष्ट है। उभय और पार्श्वद है। बायाँ भाग खंडित है। लांछन के स्थान पर बहुत ही स्पष्ट रूप से शंख दृष्टिगोचर होता है। मूर्ति विलक्षण-सी जान पड़ती है और देखकर एकाएक भ्रम भी उत्पन्न हो जाता है, कारण कि मस्तक पर नागफन और शंख लांछन, ये दो परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। फन स्पष्ट होने के कारण इसे पार्श्वनाथ की मूर्ति मानना चाहिए, शंख का चिह्न भगवान नेमिनाथ का है। अतः मूर्ति नेमि जिन की भी मानी जा सकती है। ऐसी मान्यता के दो कारण हैं, एक तो शंख लांछन और दूसरा सबल प्रमाण है आम्र वृक्ष की लताएँ, जो भगवान के मस्तक के उपरी भाग के समस्त प्रदेश में झूम रही हैं। संभव है आम्रलताएँ अंबिका का प्रतीक हो, ऊपर पंक्तियों में प्रसंगतः उल्लेख हो चुका है कि अंबिका के हाथ में आम्रलुंब रहती है। मूल प्रतिमा के मस्तक के बायें भाग में एक ऐसी देवी का शिल्प अंकित है, जिसके बायें घुटने पर बालक बैठा है।

मन तो करता है कि इसे ही क्यों न अंबिका मान लें। ऐसा प्रतीत होता है, मानो आम्रवृक्ष की सुकुमार डालियों पर वह झूल रही हों, परंतु पुष्ट प्रमाण के अभाव में इसे अंबिका कैसे मान लें ? मैंने अपने जीवन में ऐसी एक भी जैन तीर्थंकर की प्रतिमा नहीं देखी, जिसके मस्तक के ऊपर के भाग में अधिष्ठाता या अधिष्ठातृ देवी के स्वरूप अंकित किये गये हों। हाँ, उभय के मस्तक पर जिन-मूर्ति तो शताधिक अवलोकन में आई हैं। मेरे लिए तो यह बड़े ही आश्चर्य का विषय था। कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ता था कि इसका निर्णय कैसे किया जाय।

मेरे परममित्र मुनि श्रीकनकविजयजी ने मेरा ध्यान पार्श्वनाथ भगवान के जलवृष्टिवाले उपसर्ग की ओर आकृष्ट करते हुए कहा कि यह संभवतः उसीका प्रतीक हो, परंतु वह भी मुझे नहीं जंचा। कारण कि यदि उपसर्ग का



प्रतीक होता तो धरणेन्द्र और पद्मावती भी अवश्य ही उपस्थित रहते । एक कल्पना और जोर मार रही है कि मानो शंख प्रक्षालनार्थ रखा गया हो, जैसा कि बौद्ध प्रतिमाओं में पाया जाता है, परंतु यहाँ यही उद्देश्य हो तो साथ में और भी पूजा के उपकरण चाहिए । यदि शंख, लांछन के स्थान पर न हो तब तो मेरी कल्पना काम आ जाती, क्योंकि प्राचीन पार्श्वनाथ भगवान की मूर्तियाँ ऐसी अवलोकन में आई है, जिनके पास अंबिका की प्रतिमा है । यहाँ पर भी माना जा सकता था, कि जो आम्रवृक्ष है, वही अंबिका का प्रतीक है और फनों के कारण मूर्ति पार्श्वनाथ की है । जब तक की प्राचीन शिल्प स्थापत्य के ग्रन्थों में इस प्रकार के स्वरूप का पता न चले और इस शैली की अन्य प्रतिमाएँ उपलब्ध नहीं हो जातीं, तब तक जैनमूर्ति विधान में रुचि रखनेवाले अभ्यासियों के सामने यह समस्या बनी रहेगी । एतद् विषयक गवेषकों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे अपने अनुभवों से इस समस्या पर प्रकाश डालें । यह मूर्ति खजुराहों से प्राप्त की गई है और निर्माण काल दशम शताब्दी प्रतीत होता है ।

६११-संख्यावाली प्रतिमा ३८" × ३०" इंच है, यह है तो बड़ी ही सुंदर पर दुर्भाग्य से उसका परिकर पूर्णतः खंडित है । जैसा कि आप चित्र में देख रहे हैं । जो भाग बच पाया है, वह इसकी विशालता का सूचक है । प्रधान प्रतिमा का मुखमंडल भरा हुआ है, ओजपूर्ण है । मस्तक पर केश गुच्छक है, जैसाकि और भी अनेक जैन-प्रतिमाओं में पाया जाता है । भामंडल भी कलापूर्ण है । प्रतिमा के स्कन्ध प्रदेश पर पड़ी हुई केशावली से अवगत होता है कि मूर्ति श्री ऋषभदेव की है । अधिष्ठातृ देवी के रूप में, इसमें भी अंबिका ही है । इस प्रतिमा के पृष्ठ भाग की ओर ध्यान देने से विदित होता है कि मूर्ति न जाने कितनी विशाल रही होगी । आश्चर्य नहीं चतुर्विंशतिका पट्ट भी हो । दक्षिण भाग में खंडित घुटनेवाली दो खड़ी जैन-मूर्तियाँ हैं और इनके भी ऊपर तीन खड़ी हुई हैं ।

खंडितांश से पता लगता है कि ऊपर के और भागों में भी मूर्तियाँ होंगी, क्योंकि प्रभामंडल आधे से अधिक खंडित है । इस अनुपात से तो कम-से-कम २॥ फुट से ऊपर की प्रस्तर पट्टिका चाहिए, जिसमें छत्र, देवांगना, अशोकवृक्ष आदि चिह्न रहे होंगे । बाँयी ओर भी दक्षिण के समान ही मूर्तियाँ होंगी । इस ओर का भाग अपेक्षाकृत अधिक खंडित है । मुझे तो लगता है कि यह जान-बूझकर किसी सांप्रदायिक मनोवृत्तिवाले ने तोड़ दिया



है। कारण कि खंडित करने का ढंग ही कह रहा है। आज भी ऐसा करते मैंने तो कइयों को देखा है। राजिम (C. P.) में एक कट्टर ब्राह्मण ने पार्श्वनाथ की मूर्ति को एक जैन के देखते-देखते ही लाठी से दो टुकड़े कर दिये।

प्रश्न होता है-इसका निर्माण-काल क्या रहा होगा ? पुरानी सभी जैन-प्रतिमाओं के लिए यही समस्या है। इसे अपने अनुभवों के आधार से ही सुलझाया जा सकता है। इस मूर्ति में तीन बातें ऐसी पायी जाती हैं जो काल निश्चित करने में थोड़ी बहुत मदद दे सकती हैं। (१) आसन के नीचे का भाग, (२) मस्तक पर केश गुच्छक, (३) भामंडल-प्रभावली। मथुरा की प्रतिमाओं से कुछेक के आसन प्लेन होते हैं या साधारण चौकी जैसा स्थान होता है। इस प्रकार की पद्धति के दर्शन मध्यकालीन जैन-मूर्तियों में होते हैं, पर कम। मकराकृतियाँ या कीर्तिमुख का भी अभाव इस प्रतिमा में है। (२) केश गुच्छक पुरानी मूर्तियों में और गुप्तकालीन महुडी की जैन मूर्तियों में दिखलाया गया है, पर वे सारे मस्तक को घेरे हुए हैं। जब ७ वीं शती के बाद वह केवल तलुआ तक ही सीमित रह गया है। इस प्रकार का केशगुच्छक मध्यकालीन प्रस्तर और धातु की मूर्तियों में दिखाई पड़ता है। ११ वीं शताब्दी तक इसका प्रचार रहा, बाद में परिवर्तन हुआ, (३) भामंडल प्रभावली की कमल पंखुडियाँ भी मध्यकालीन बौद्ध प्रभामंडल से मिलती हैं। इन तीनों कारणों से यह निश्चित होता है कि मूर्ति का रचनाकाल ९ वीं शती से ११ वीं शती के भीतर का भाग होना चाहिए। इसी काल की और भी मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। उनके तुलनात्मक अध्ययन से भी यही फलित होता है।

६१२-संख्यावाली प्रतिमा तत्र स्थित समस्त जैन-प्रतिमाओं में अत्यन्त विशाल है। लंबाई चौड़ाई ५१" × १८" है। कला की दृष्टि से और सौंदर्य की दृष्टि से इसका कुछ भी महत्व नहीं है क्योंकि शारीरिक गठन बड़ा मुद्दा है। चरणों को देखने से पता लगता है कि दो खंभे खड़े कर दिये हों। दोनों परिचारकों के साथ भक्त स्त्रियों के शिल्प अंकित है, जो उत्तरीय वस्त्र और कछौटा धारण किये हुए हैं। बायीं ओर मकर के बगल में कुबेर, एवं तदुपरि अंबिका, गोद में बच्चे लिये हैं। इसके ऊपर दो खड्गासनस्थ जैन-प्रतिमाएँ हैं। मस्तक के दोनों ओर देव-देवियाँ हैं। दक्षिण भाग के कटाव से प्रतीत होता है कि इस विशाल मूर्ति का परिकर काफी विस्तृत रहा होगा। संपूर्ण प्रतिमा को देखने से ऐसा लगता है कि यह किसी स्वतंत्र मंदिर से संबंधित न होकर किसी स्तंभ से जुड़ी हुई रही होगी। इसका प्रस्तर लाल है।



६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६८९M३५, ६९०M३५, ६९२M३५, ६९३M३०, ६९४M३९, ६९५M२२, इन संख्याओं वाली समस्त मूर्तियाँ जैन हैं। स्थानाभाव के कारण इनका कलात्मक विस्तृत परिचय दिया जाना संभव नहीं। उपर्युक्त प्रतिमाओं के और भी श्रमण-संस्कृति से संबंधित स्फुट अवशेष काफी तादाद में वहाँ पड़े हुए हैं। उनमें से एक ऐसे सुंदर अवशेष पर दृष्टि केन्द्रित हुई, जिसका उल्लेख किये बिना निबंध अधूरा ही रहेगी। मुझे यह अवशेष इसलिए बहुत पसंद आया कि इस प्रकार की आकृतियाँ अन्यत्र कम देखने को मिलती हैं। यह अवशेष एक दृष्टि से अपने आप में पूर्ण है, पर इसका स्वतंत्र अस्तित्व भी संभव नहीं।

चित्र में आप देखेंगे तो प्रधानतः तीन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होंगी, जिनके मस्तक पर सुंदर शिखर भी बने हुए हैं, जिनके अग्रभाग में एक-एक पद्मासनस्थ जैन-प्रतिमा उत्कीर्णित है। प्रधान तीनों प्रतिमाओं में उभय ओर सात एवं पांच फण युक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ हैं, मध्य में ऋषभदेव की। तीनों के उभय ओर दो-दो कायोत्सर्ग मुद्रा में प्रतिमाएँ खुदी हैं। तीनों मूर्तियों के मध्यवर्ती भाग में दायीं व बायीं क्रमशः अंबिका और चक्रेश्वरी अधिष्ठातृ देवियाँ, सायुध अवस्थित हैं। यहाँ पर आश्चर्य तो इस बात का है कि दोनों अधिष्ठातृ देवियों के निकट भाग में दो-दो कायोत्सर्ग मुद्रा की मूर्तियाँ हैं। अन्यत्र देवियों के पार्श्ववर्ती प्रदेश में जैन तीर्थंकर की मूर्तियाँ नहीं मिलती। यदि मिलती हैं तो वीतराग के परिकर में हीं।

उपर्युक्त दोनों शिखरों के मध्य भाग में दो हिस्से पड़ जाते हैं, जो दोनों देवियों के ऊपर हैं। इनमें भी तीन-तीन पद्मासनस्थ जैन मूर्तियाँ हैं। समस्त मूर्तियाँ यद्यपि वीतराग भावना का प्रतीक हैं, तथापि मुख मुद्रा में सामंजस्य नहीं पाया जाता। इस संपूर्ण पट्टिका में स्वतंत्र मंदिर का अनुभव होता है। अब इसे स्वतंत्र मंदिर मानें या किसी मंदिर के तोरण का उपरि अंश ? इसका निर्माणकाल ११ वीं शती के बाद का प्रतीत नहीं होता है।

अंबिका

नगर-सभा-संग्रहालय के उद्यान कूप के निकट छोटे से छप्पर में एक ६८ × ३९ इंच की रक्त प्रस्तर शिला पर विभिन्न आभूषण-युक्त कलात्मक प्रतिमा, सपरिकर, उत्कीर्णित है। इस प्रतिमा ने मुझे ऐसा प्रभावित किया कि जीवन पर्यन्त उसका विस्मरण मेरे लिए असंभव हो गया। बात यह है कि,

संपूर्ण भारत में इस प्रकार की प्रतिमा आज तक न मेरे देखने में आयी है और न कहीं होने की सूचना ही मिली है। मूर्ति अंबिका देवी की है। इसका परिकर न केवल जैन-शिल्प-स्थापत्य कला का समुज्ज्वल प्रतीक है, अपितु भारतीय देवी-मूर्ति-कला की दृष्टि से भी अनुपम है। स्पष्ट कहा जाय तो यह भारतीय शिल्प-स्थापत्य-कला में जैनों की मौलिक देन-सी है। यों तो अंबिका इतनी व्यापक देवी रही है कि प्राचीन कालीन प्रायः सभी जैन मूर्तियों में इसकी सफल अभिव्यक्ति हुई है। साथ ही साथ पश्चिम एवं उत्तरभारतीय कला की बहुत-सी धारा इसी पर बही है, जैसा कि तत्र प्राप्त अवशेषों से फलित होता है। इस मूर्ति का वैशिष्ट्य न केवल कला या वास्तु-शास्त्र की दृष्टि से ही है, अपितु आभूषण बाहुल्य के कारण सामाजिक दृष्टि से भी है। मूर्ति का संपूर्ण परिचय इस प्रकार है-

शिला के मध्यभाग में चतुर्मुखी अंबिका ४१ इंच में अंकित है। चारों हाथ खंडित है। कंठ में हंसुली प्रमुख बहुत-सी मालाएँ एवं हाथ में भी बाजू-बन्द आदि आभूषण है। नागावलि से हाथों का सौंदर्य बढ़ गया है। केश-विन्यास के अग्र भाग में भी आभूषण है। केश-विन्यास मस्तक पर त्रिवल्यात्मक है, जैसा कि ११ वीं शती की झांसी के पास देवगढ पर पायी जानेवाली देवमूर्तियों में एवं नर्तकियों के मस्तक पर पाया जाता है। कमल-पुष्प मस्तक की छवि में अभिवृद्धि करते हैं। नासिका खंडित होने के बावजूद भी मुख सौंदर्य में कमी नहीं आने पायी है। शान्ति ज्यों-की-त्यों बनी है। यद्यपि बदन इतना सुंदर और भावपूर्ण बना है, तथापि कलाकार चक्षु निर्माण में पश्चात्पाद रहा जान पड़ता है। कटि प्रदेश में नाना जाति की कटि मेखलाएँ एवं स्वर्ण कटि मेखला कई लडों की सुशोभित है। खुदाई इतनी स्पष्ट है कि एक-एक कडी पृथक्-पृथक् गिनी जा सकती है।

बुन्देलखंड में आज भी इस प्रकार की कटि-मेखलाएँ, कई लडों में व्यवहृत होती है। देवी के दोनों चरण सुंदर वस्त्र से आच्छादित है, जो सूक्ष्मता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, मानो कोई विविध बेलबूटों से छपा हुआ वस्त्र हो। चरण में नूपुर और तोडे बने हुए हैं। संपूर्ण प्रतिमा को एक दृष्टि से देखने के बाद हृदय पर बड़ा गहरा असर पड़ता है। प्रतिमा की दायी ओर एक बालक सिंह पर आरूढ है। बायीं ओर भी एक बालक खड़ा है। वह देवी का हाथ पकड़े हुए होगा। दोनों के निम्न भाग में क्रमशः स्त्री और पुरुष अंजलिबद्ध अंकित है। तन्निम्न भाग में कमल के दण्ड अपना सौंदर्य बिखेर रहे हैं। यह



तो हुआ प्रतिमा का शब्द चित्र । अब हमें इसके परिकर की ओर जाना चाहिए । जो इसकी सुंदरता को द्विगुणित कर देता है ।

परिकर मूल प्रतिमा के ड्योढे से अधिक भाग में है । दायीं प्रथम पंक्ति के निम्न भाग में सर्वप्रथम एक चतुर्भुजी देवी की खड़ी प्रतिमा अंकित है । खड्ग परशु आदि आयुधों के साथ है । इस प्रतिमा की ऊपर की पंक्ति में चार खड़ी जिन-मूर्तियाँ हैं । तदुपरि हाथी, अश्व और मकराकृतियाँ हैं । इनके ऊपर इस प्रकार के भाव उत्कीर्णित हैं, मानो कोई स्त्री पूजन की सामग्री लिये खड़ी हो । इसी प्रकार परिकर का बायाँ भाग भी बना हुआ है । दूसरी पंक्ति के दोनों भागों में नवग्रहों की प्रतिमाएँ अंकित हैं । तदुपरि दाहिनी एवं बायीं ओर यक्ष की प्रतिमाएँ हैं । हाथ में चक्र है । ऊपर के भाग में दायें बायें सात-सात देवियों की प्रतिमाएँ हैं, जिन पर क्रमशः काली, महाकाली, मानसी, गौरी, गाँधारी, अपराजिता, ज्वालामालिनी आदि नाम अंकित हैं । सभी देवियाँ अपने-अपने आयुधों से अंकित हैं । दायीं ओर की मूर्तियों का दायाँ पैर और बायीं ओर की मूर्तियों का बायाँ पैर इस प्रकार काटा गया है, जैसे एक ही क्षण में क्रमशः खंडित करते हुए कोई आगे निकल गया हो ।

उपर्युक्त वर्णित प्रत्येक प्रतिमा के दोनों ओर खास-खास स्तंभ बने हैं । प्रत्येक के नीचे तख्ती जैसा स्थान रिक्त है, जिस पर नाम उत्कीर्णित है । सभी मूर्तियों की भाव मुद्रा बड़ी प्रेक्षणीय एवं सहृदय कलाकार की कुशल कृति का सुस्मरण कराये बिना नहीं रहती । प्रधान प्रतिमा के ऊपरी भाग में पाँच खंडितांश दिखते हैं, जिनसे पता चलता है कि संभवतः वहाँ पर देवी के मस्तक का छत्र रहा होगा । तदुपरि मध्य भाग में एक देवी का प्रतीक अंकित है । ऊपर के भाग में दो-दो देवियाँ सब मिलाकर चार देवियाँ हैं । इनके ऊपरी भाग में खड़ी एवं बैठी दो-दो जिन-मूर्तियाँ हैं । दोनों ओर कमलोपरि विराजमान परिचारक-परिचारिकाएँ हैं । इनके ठीक मध्य भाग में देवी के मस्तक पर नेमिनाथ भगवान की प्रतिमा है, शंख का चिह्न स्पष्ट बना हुआ है । उपर्युक्त संपूर्ण परिकर में १३ जिन-प्रतिमाएँ, २३ अवांतर देवियों की जो नेमिनाथ-भिन्न तीर्थंकरों की अधिष्ठातृ देवियाँ हैं-मूर्तियाँ तथा मध्य में प्रधान प्रतिमा, सब मिलाकर २४ देवी-मूर्तियाँ हैं । प्रकृत मूर्ति के नीचे के भाग में एक पंक्ति का लेख खुदा हुआ है । यद्यपि शाम का समय हो जाने से मैं इसे पूरा पढ़ नहीं पाया, परंतु इससे इतना तो पता चल ही गया की **रामदास** नामक व्यक्ति ने इसका निर्माण करवाया था, वह **पद्मावती** का निवासी था ।



लंबे विवेचन के बाद यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि इस कलाकृति का निर्माण काल क्या हो सकता है ? कारण कि निर्माता का नाम है, पर सृजन काल की सूचना नहीं है। इससे निश्चित समय का भले ही पता न चले, पर अनुमित निर्णय तो हो ही सकता है। प्रतिमा के आभूषण, उनकी रचना शैली और लिपि इन तीनों में से मैंने इसका समय १२-१३ वीं शती का मध्य भाग माना है। कारण कि इस शैली की मूर्तियाँ और भी देवगढ़ तथा मध्यप्रान्त में पायी गयी है। उपर्युक्त कलाकृति को घंटों देखते रहिए, “पदे पदे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः” पंक्ति पुनः पुनः साकार होती जायगी। मनुष्य ऐसी कृतियों के सम्मुख अपने आपको खो बैठता है।

अंबिका की^१ एक और मूर्ति

प्रस्तुत संग्रहालय में ऐसी ही और भी आकर्षक मूर्तियाँ हैं, जो न केवल जैन-मूर्ति कला का ही मुख उज्ज्वल करती हैं, अपितु नवीन तथ्यों को भी लिये हुए हैं। इनके रहस्य से भारतीय पुरातत्त्व के अन्वेषक प्रायः वंचित हैं। यद्यपि ये सभी एक ही रूपक का अनुगमन करती हैं, तथापि रचना काल और ढंग भिन्न होने के कारण कला की दृष्टि से उनका अपना महत्व है। शब्द-चित्र इस प्रकार है-

एक वृक्ष की दो शाखाएँ विस्तृत रूप में फैली हुई हैं, इनकी पखुंडियों के छोर पर उभय भागों में पुष्पमाला धारण किये देवियाँ हैं। वृक्ष की छाया में दायीं ओर पुरुष और बायीं ओर स्त्री अवस्थित हैं। पुरुष के बायें घुटने पर एक बालक है। स्त्री के बायें घुटने पर भी बालक है, दाहिने हाथ में आम्रफल या बीजपूरक प्रतीत होता है। दोनों बालकों के हाथों में भी फल है। पुरुष का दाहिना हाथ खंडित है, अतः निश्चित नहीं कहा जा सकता कि उसमें क्या था। पुरुष के मस्तक पर नोकदार मुकुट पड़ा हुआ है। गला यज्ञोपवीत और आभूषणों से विभूषित है। दंपति स्वतंत्र दो आसन पर विराजमान हैं। निम्न भाग में सात और मूर्तियाँ हैं, जो आमने-सामने मुख किये हुए हैं। वृक्ष की दोनों पंक्तियों के बीच जिन भगवान की प्रतिमा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।”

इस प्रकार की प्रतिमा जब सब से पहले राजगृह स्थित पंचम पहाड के ध्वस्त जैन-मंदिर के अवशेषों में देखी थी, तभी से मेरे मन में कौतूहल उत्पन्न

१. सतीशचंद्र काला इसे ‘मानसी’ मानते हैं, यह उनका भ्रम है।



हो गया था। भारत के और भी कुछ भागों में इन्हीं भावोंवाली मूर्तियाँ मिलती हैं। जिन पर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अलग-अलग मत व्यक्त किये हैं। श्रीरायबहादुर दयाराम सहानी का अभिमत है कि वह वृक्ष कल्पद्रुम है। ये बच्चे अवसर्पिणी, सुषम-सुषम समय की प्रसन्न जोड़ियाँ हैं^१। श्रीमदनमोहन नागर ने इस प्रकार के शिल्प को “कल्पवृक्ष के नीचे बैठी हुई मातृकाओं की मूर्ति” माना है^२। श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल ने वृक्ष को कल्पवृक्ष माना है और निम्न अधिष्ठित दंपति युगल को यक्ष-यक्षिणि मानते हुए आशा प्रकट की है कि जैन-विद्वान् इस पर अधिक प्रकाश डालेंगे^३। जैन शिल्प-स्थापत्य तथा मूर्तिकला के विशिष्ट अभ्यासी श्रीसाराभाई नवाब से पूछने पर भी इस मूर्ति के रहस्य पर कुछ प्रकाश न पड सका। उपर्युक्त प्रथम दो विद्वानों की सम्मतियाँ ऐसी हैं जिन पर विश्वास करना प्रायः कठिन है।

जब भारत के विभिन्न भागों में इस शैली की मूर्तियाँ पायी जाती हैं, तब यह बात मन में अवश्य आती है कि इनका विशिष्ट महत्व अवश्य ही रहा होगा, परंतु जहाँ तक प्राचीन शिल्प-स्थापत्य कला-विषयक ग्रन्थों का प्रश्न है वे, प्रायः इस विषय पर मौन हैं। मेरी राय में तो यह अंबिका की ही मूर्ति रही होगी।

ऐसी स्थिति में यह समुचित जान पड़ता है कि यदि प्राचीनतम देवी-मूर्तियों का अध्ययन किया जाय तो संभव है इस उलझन के सुलझने का मार्ग निकल आये। यहाँ पर श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्य शिल्प शास्त्रीय ग्रन्थों में अंबिका के जो स्वरूप निर्दिष्ट हैं उनके उल्लेख का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। इन स्वरूपों से मेरी स्थापना को काफी बल मिल जाता है। यहाँ पर मैं एक बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि संप्रदाय मान्य शिल्पशास्त्र के जितने भी स्वतंत्र ग्रन्थ या एतद्विषयक उल्लेख एवं उद्धरण उपलब्ध होते हैं, वे इस शैली की मूर्तियों के निर्माण समय के काफी बाद के हैं। तथापि दोनों में आंशिक साम्य पाया जाता है एवं जिस काल में ग्रन्थों का प्रणयन हुआ उस काल की चित्रकला में भी-विशेषतः पश्चिम भारत की-अंबिका का वैसा ही रूप अभिव्यक्त हुआ है। अतः कोई कारण नहीं कि हम इन परवर्ती उल्लेखों पर अविश्वास करें। प्रासंगिक रूप से यह भी बतला देना

१. जैन-सिद्धांत-भास्कर-भाग ८, किरण २, पृष्ठ ७१।

२. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. २८३।

३. श्री जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ४, अंक १, पृष्ठ ८।



आवश्यक है कि शिल्प-शास्त्र जैसे व्यापक विषय में साम्प्रदायिक मतभेद को स्थान नहीं हो सकता । क्योंकि मैं अपने अनुभवों के आधार पर देवी-मूर्तियों के संबंध में तो अवश्य ही दृढतापूर्वक कह सकता हूं कि, प्राचीन-काल में देवी-मूर्ति के निर्माण में सांप्रदायिक आग्रह नहीं था । कारण कि शिल्पशास्त्रीय उल्लेखों के प्रकाश में देवी मूर्तियों को देखेंगे तो प्रतीत हुए बीना न रहेगा कि उभय संप्रदायों में परस्पर विरोधी भाववाली मूर्तियाँ भी बनीं । जैसे दिगम्बर-मान्य शिल्प ग्रन्थ के अनुसार जैसा रूप अंबिका का दिखता है । उसके अनुसार श्वेताम्बरों ने मूर्ति बनायी और श्वेताम्बर मान्य-रूप के अनुसार दिगम्बर जैनों ने । मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों संप्रदाय के नाम पर कदाग्रह बढ़ता गया, त्यों-त्यों अपने-अपने रूप भी स्वतंत्र निर्धारित होते गये । इसीके फलस्वरूप वास्तु-साहित्य-सृष्टि भी हुई । यदि प्राचीन मूर्तियों को छोड़कर, केवल शिल्प कलात्मक ग्रन्थों के उद्धरणों पर ही विश्वास कर बैठें तो, धोखा हुए बिना न रहेगा ।

श्वेताम्बर आचार्य रचित शिल्प ग्रन्थों में अंबिका का रूप इन शब्दों में वर्णित है-

“तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां कूष्मांडीं देवीं कनकवर्णां सिंहवाहनां चतुर्भुजां मातुर्लिंगपाश-युक्त-दक्षिणकरां पुत्राङ्कुशान्वितवामकरां चेति ।”

उन्हीं के तीर्थों में कूष्माण्ड (अंबिका) नामक देवी है, वह सुवर्ण वर्णवाली, सिंहवाहिनी और चार हाथवाली है । उसके दक्षिण उभय हस्त में बीजपूरक और पाश है । बायें दो हाथों में पुत्र और अंकुश है । कुछ ग्रन्थों में दायें हाथ में आम्रलुम्ब या फल रहने के उल्लेख भी दृष्टि में आये हैं ।

दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार अंबिका का स्वरूप इस प्रकार है-

**सव्येकद्युपगप्रियंकरसुतं प्रीत्यै करे बिभ्रतीं,
दिव्याम्रस्तवकं शुभंकरकरश्लिष्टान्यहस्तांगुलीम् ।
सिंहे भर्तृचरे स्थितां हरितमामाम्रद्रुमच्छागयां
वन्यारुं दशकार्मुकोच्छ्रयजिनं देवीमिहाम्रां यजे ॥**

दस धनुष के देहवाले श्रीनेमिनाथ भगवान की आम्रा (कूष्माण्डिनी) देवी है । वह हरितवर्णा, सिंह पर आरूढ होनेवाली, आम्र छाया में निवास करनेवाली और द्वयभुजी है । बायें हाथ में प्रियंकर नामक पुत्र स्नेहार्द्र आम्रडाल को तथा दायें हाथ में दूसरे पुत्र शुभंकर को धारण करनेवाली है ।



उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित अंबिका के दोनों स्वरूप सामयिक परिवर्तन के साथ प्राचीन काल से ही भारतीय मूर्तिकला में विकसित रहे हैं। परंतु इस मौलिक स्वरूप की रक्षा करते हुए, कलाकारों ने समय की मांग को देखकर या सामाजिक परिवर्तनों एवं शिल्पकला में आनेवाले नवीन उपकरणों को अपना लिया है, जैसा कि प्रत्येक शताब्दी की विभिन्नतम प्रतिमाओं के अवलोकन से ज्ञात होता है। यों तो प्राप्त अंबिका की प्रतिमाओं के आधार पर उनके शिल्प-कलात्मक क्रमिक विकास पर सर्वांगपूर्ण प्रकाश डाला जाय तो केवल अंबिका की मूर्तियों पर एक अच्छा-सा स्वतंत्र ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा सकता है, क्योंकि वह देवी अन्य तीर्थकरों की अधिष्ठातृ देवियों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध एवं व्यापक रूप से सम्मानित स्थान पर रही है जैसा कि “रूप-मंडन” से प्रतीत होता है।

२ नंबरवाले चित्र में जो आकृति प्रदर्शित है उसे मैं सकारण सयक्ष अंबिका की मूर्ति ही मानता हूँ। कारण कि उभय संप्रदाय मान्य उद्धरण भी इसके समर्थन में ही है, उसे डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल आदि ने कल्पवृक्ष माना है। परंतु मैं इसे आम्रवृक्ष मानता हूँ। पत्तियों का आकार बिलकुल आम्र-पत्र के सदृश है। दोनों पत्तियों के नुकीले भाग पर देवियों की पुष्पमाला लिये आकृति है, वह एक प्रकार से परिकर का अंग है। वृक्ष के मध्यभाग में जो जिनमूर्ति दिखलाई पड़ती है वह नेमिनाथ भगवान की ही होनी चाहिए, कारण कि अंबिका की उपर्युक्त संग्रहालय में जो मूर्ति है, उस पर भी नेमिजिन अंकित है। प्रभास-पाटन^१, खंभात^२ आदि कुछ नगरों में १२ वीं शती की ऐसी अंबिका की मूर्तियाँ सपरिकर उपलब्ध हुई हैं जिनके मस्तक पर नेमिनाथ भगवान की मूर्तियाँ हैं। जो स्त्री वृक्ष के दायीं ओर अवस्थित है वह निस्संदेह अंबिका ही होनी चाहिए। जो पुरुष दिखलायी पड़ता है उसे यदि गोमेध यक्ष मान लें तो सारी शंकाएं दूर की जा सकती हैं। अंबिका की कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ पाई जाती हैं जो आम्र वृक्ष की छाया में अकेली ही बैठी हैं।

राजगृह की अंबिका

राजगृह में वैभारगिरि पर्वत पर गुप्तोत्तरकालीन कुछ खंडहर हैं उनमें एक मानव-कद की प्रतिमा है, जो आम्र वृक्ष की छाया में कमलासन पर बैठी

१. “भारतना जैन तीर्थो अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य, चित्र” ८७।

२. श्री जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ७, अंक १, पृ. १८५।



स्त्री की है। जनता इस स्त्री को महाश्रमण महावीर की माता मानती है। वस्तुतः यह अंबिका ही है। कारण कि लुम्ब सहित आम्रवृक्ष अति स्पष्ट है। तदुपरि दोनों पार्श्वों के बीच अर्थात् देवी के मस्तक पर भगवान नेमिनाथ की प्रतिमा अवस्थित है। वृक्ष की छाया में अंबिका बैठी है। शारीरिक विन्यास बहुत ही सुंदर और स्वाभाविक है। इस प्रकार की यह एक प्रतिमा बिहार में उपलब्ध हुई है। स्त्री मूर्ति विधान शास्त्र की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है।

एलोरा की अंबिका

इसी प्रकार की एक मानव-कद की प्रतिमा एलोरा की गुफा में भी अंकित है। जिसका निर्माण-काल १०वीं शती के आसपास है। आम्र-वृक्ष की सघन छाया है। राजगृह की प्रतिमा में केवल आम्र वृक्ष की एक डाल अंकित करके ही कलाकार ने संतोष कर लिया है, जब कि प्रस्तुत प्रतिमा के मस्तक पर तो संपूर्ण सघन आम्र-वृक्ष अंकित है। इस देवी की मुख्य प्रतिमा के ठीक मस्तक पर छोटी-सी पद्मासनस्थ प्रतिमा है, जिसे भगवान नेमिनाथ की कह सकते हैं। यों तो शिल्पी ने इस मूर्ति के निर्माण में प्रकृति से इतना सामंजस्य कर दिखाया है, जैसा अन्यत्र कम मिलेगा। विशेषता यह है कि आम्रवृक्ष के दोनों ओर मयूर-मयूरियां अंकित हैं। आम्र के टिकोरे-से उसके फल हैं। वृक्ष पर कहीं-कहीं कोयल भी दिखाई पड़ती हैं। तात्पर्य कि कलाकार ने वसन्तागमन के भाव अंकित किये हैं। इसी प्रकार की एक और प्रतिमा **कलोल स्टेशन** से चार मील दूर शेरीसा के श्वेताम्बर जैन मंदिर में विद्यमान है। उपर्युक्त वर्णित प्रतिमा सिंहासन पर विराजमान है। ऐसी ही प्रतिमा आबू में भी पाई जाती है परंतु यहाँ स्थानाभाव से उनका विस्तृत उल्लेख संभव नहीं है।

प्राचीन तालपत्रीय जैन चित्रों में अंबिका के जो रूप मिलते हैं वे उपर्युक्त रूपों से कुछ भिन्न हैं। ऐसा पता चलता है कि ११वीं १३वीं शती में गुजरात में अंबिका की मान्यता व्यापक रूप में थी। आरासुर और गिरनार में तो अंबिका के स्वतंत्र तीर्थ ही हैं। विमलशा के आबूवाले लेख में इनकी स्तुति भी की गई है। (श्लो. ९)

इतने लंबे विवेचन के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि राजगृह, रीवाँ, लखनऊ, मथुरा और प्रयाग आदि प्राचीन संग्रहालयों में आम्रवृक्ष के निम्न भाग में, सिंहासन पर बैठी हुई, द्वय बालक युक्त, जितनी भी प्रतिमाएँ हैं



वे भगवान नेमिनाथ की अधिष्ठातृ अंबिका की ही है ।

अतिरिक्त सामग्री

उपर्युक्त पंक्तियों में जैनसंस्कृति के मुख को उज्ज्वल करनेवाले महत्वपूर्ण कलात्मक अवशेषों का यथामति परिचय दिया गया है, अतः पाठक यह न समझ बैठें कि वहाँ पर इतनी ही सामग्री है, अपितु वहाँ पर ऐसी अनेक जिनमूर्तियाँ हैं, जिनका महत्व मूर्तिकला के क्रमिक विकास की दृष्टि से अत्यधिक है । समय अत्यंत अल्प रहने से मैं उनका सिंहावलोकन न कर सका । विशेषतः मैं उन वस्तुओं का भी अवलोकन न कर सका, जिनके लिए वहाँ का संग्रहालय विशेष रूप से प्रसिद्ध रहा है । मेरा संकेत वहाँ के 'टेराकोटा' मृण्मूर्तियों से है । कारण कि यहाँ का संग्रह इस विषय में अनुपम माना जाता है । अधिकतर मृण्मूर्तियाँ कौशाम्बी से प्राप्त की गई हैं । कौशाम्बी एक समय श्रमण-संस्कृति की एक धारा जैन-संस्कृति का केन्द्र रही है ।

भारतीय लोक-जीवन का सर्वांगीण प्रतिबिम्ब, वहाँ के कलाकारों द्वारा मृण्मूर्तियों में अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है । जीवन के साधारण से साधारण उपकरण पर भी कलाकारों ने ध्यान देकर उन्हें अमरता प्रदान की है । जैन तथा उनके विषयों को भी मृण्मूर्तियों द्वारा प्रकाशित करने का श्रेय कौशाम्बी के कलाकारों को ही मिलना चाहिए । प्रयाग-नगर-सभा-संग्रहालय में बहुसंख्यक मृण्मूर्तियाँ हैं, जिनका विषय जैन-कथाएँ हैं, परंतु जैन-कथा साहित्य की सार्वत्रिक प्रसिद्धि न होने से या एतद्विषयक साधन, प्रान्तीय भाषाओं में अनूदित न होने के कारण, विद्वान् लोग इन "मृण्मूर्तियों" को देखकर भी न समझ पाते हैं, न चेष्टा ही करते हैं । अच्छा हो कोई दृष्टिसंपन्न जैन विद्वान्, इन विषयों का अध्ययन कर, तथ्य को प्रकाश में लावें । इनकी उपयोगिता केवल श्रमणसंस्कृति की दृष्टि से ही नहीं है अपितु भारतीय मानव के समाज के क्रमिक विकास को समझाने के लिए भी है ।

पुरातत्त्व की विस्तृत व्याख्या में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की उपेक्षा नहीं की जा सकती । वहाँ प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ भी दस हजार से कम संगृहीत नहीं हैं । इनमें एक हजार से अधिक जैन-ग्रन्थ भी हैं । परंतु इन समस्त ग्रन्थों के विवरणात्मक सूचीपत्र के अभाव में मैं समुचित रूप से, ग्रन्थावलोकन न कर सका और न मेरे पास उस समय उतना अवकाश ही था, कि एक-एक पोथी को देख सकता । कुछ एक जैन चित्र भी चित्रशाला में लगे



है। जिनका संबंध कल्पसूत्र और कालक कथा से है। कला की दृष्टि से इनका कोई खास महत्व नहीं है। हाँ, मुगल एवं कांगडा शैली के तथा तिब्बतीय बौद्ध चित्रकला के कुछ अच्छे नमूने अवश्य सुरक्षित हैं।

अवशेष उपलब्धि-स्थान

इतने लम्बे विवेचन के बाद प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन अवशेषों की उपलब्धि कहाँ से हुई। पुरातत्त्व का इतिहास जितना रोचक और स्फूर्तिदायक होता है वहीं उससे अधिक और प्रेरणाप्रद इतिहास पुरातत्त्व विषयक साधनों की प्राप्ति का होता है। यहाँ पर जो कलात्मक प्रतीक अवशिष्ट हैं, वे कहीं से भी एक ही साथ नहीं लाये गये हैं। समय और परिस्थिति के अनुसार सारनाथ, कौशाम्बी आदि नगरों से एवं विशेष भाग बुंदेलखंड से संगृहीत किये गये हैं। एक-एक अवशेष अपनी रोचक कहानी लिये हुए है। **पं. ब्रजमोहनजी व्यास** इन अवशेषों की कहानियाँ बड़े रोचक ढंग से सुनाया करते हैं। बुंदेलखंड सचमुच एक समय कला का बहुत बड़ा केन्द्र था। प्राचीन काल से ही बुंदेलखंड ने कलाकारों को आश्रय देकर, भारतीय संस्कृति की समस्त धाराओं और सुकुमार भावों की रक्षा, कठोर पथरों द्वारा की है।

कलाकारों का सन्मान न केवल साम्राज्यवादी शासक ही करते थे, अपितु नागरिकों ने भी बहु-संख्यक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों को, हृदय और मस्तिष्क के अनुकूल वायुमंडल बनाकर, प्रोत्साहन दिया-खरीदा नहीं। जैन-पुरातत्त्व के इतिहास की दृष्टि में बुंदेलखंड का स्थान अति महत्वपूर्ण रहा है। जैन शिल्प-स्थापत्य कला के उच्चतम प्रतीक एवं विशेषतः जैन मूर्ति-निर्माण-कला तथा उसके विभिन्न अंग-प्रत्यंगों के विकास में यहाँ के कलाकारों ने, जो दक्षता प्रदर्शित की है, वह रस और सौंदर्य की दृष्टि से अनुपम है। खजुराहो और देवगढ़ की एक बार कलातीर्थ के रूप में यात्रा की जाय, तो अनुभव हुए बिना न रहेगा कि, उन दिनों के जैनों का जीवन कला और सौंदर्य के रसिक तत्वों से कितना ओतप्रोत था। जहाँ पर एक से एक सुंदर भावमय और उत्प्रेरक शिल्प कृतियाँ दृष्टिगोचर होगी, जिन्हें देखकर मन सहसा कलाकार का अभिनंदन करने को विवश हो जायेगा। खजुराहो का वह शैव मंदिरवाला शिखर आज बुंदेलखंड में विकसित कला का सर्वोच्च प्रतीक माना जाता है। इसके कलात्मक महत्व के पीछे, प्रचारात्मक भावना का बल अधिक है। यद्यपि इनके भी सुंदर कलापूर्ण जैन मंदिरों के शिखर, स्तंभ और



तोरण आदि कई शिल्पकला के अलंकरण उपलब्ध होते हैं, परंतु वे जैन होने के कारण ही आज तक कलाकारों और समीक्षकों द्वारा उपेक्षित रखे गये हैं। कलाकारों की दुनिया में रहनेवाला और सौंदर्य के तत्त्वों को आत्मसात् करनेवाला निरीक्षक यदि कला जैसे अति व्यापक विषय में पक्षपात की नीति से काम ले, तो इससे बढ़कर और अनर्थ हो ही क्या सकता है ?

बुन्देलखंड के देहातों में भी जैन अवशेष बिखरे पड़े हैं। इनको देखकर हृदय रो पड़ता है और सहसा कल्पना हो आती है कि हमारे पूर्वपुरुषों ने तो विशाल धनराशि व्यय कर, कलात्मक प्रतीकों का सृजन किया और उन्हीं की सन्तान आज ऐसी अयोग्य निकली की एतद्विषयक नवनिर्माण तो करना दूर रहा, परंतु जीवन में स्फूर्ति देनेवाले बचे-खुचे कलावशेषों की रक्षा करना तक, असंभव हो रहा है। इस वेदना का अनुभव तो वही कर सकता है, जो भुक्त-भोगी हो। हमारी असावधानी से, हमारे पैरों तले हमारे पूर्वजों के कीर्तिस्तंभ रौंदे जाते हैं। कहीं अशिक्षित और कहीं सुशिक्षित जनता द्वारा पुरातत्त्व की बहुत बड़ी और मौलिक सामग्री बुरी तरह क्षत-विक्षत की जा रही है। माननीय व्यासजी से, यह सुनकर मुझे अत्यंत ही आश्चर्य हुआ कि बुन्देलखंड के कुछ ग्रामों में जैन और बौद्ध मूर्तियों के मस्तकों (अन्य देवों की अपेक्षा इनके मस्तक कुछ बड़े भी होते हैं) को धड़ से पृथक् कर उसे खरादकर कुण्डियाँ (पथरी) बनाई जाती हैं। उफ !

उपसंहार

यहाँ पर एक बात कहने का लोभ संवरण नहीं कर सकता, वह यह कि भारतीय शिल्प और स्थापत्य कला का मुसलमानों ने नाश किया है—इस बात को सभी कलाकारों ने माना है, परंतु यदि सच कहना अपराध न माना जाय तो, मैं कहूँगा कि जितना नाश मुसलमान न कर सके, उससे कई गुना अधिक हमारी साम्प्रदायिकता ने किया है। मुसलमानों ने तो केवल मंदिरों को मस्जिदों में परिवर्तित किया और कहीं मूर्तियाँ खंडित कीं, परंतु पारस्परिक साम्प्रदायिक कालुष्य ने तो जैन व बौद्ध आदि मूर्तियाँ एवं उपांगों को निर्दयतापूर्वक क्षत-विक्षत किया। इन पंक्तियों का आधार सुनी-सुनाई बातें नहीं, परंतु जीवन का अनुभव है। पटना, प्रयाग, नालन्दा, आदि कुछ संग्रहालयों में श्रमण-संस्कृति से संबंधित कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिलीं जिनकी नाक जानबूझकर आरियों से तराश दी गई है। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।



यहाँ पर मैं नगर सभा-संग्रहालय के कार्यकर्ताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि वे पुरातन अवशेषों को अधिक से अधिक सुरक्षित रखने के उपाय काम में लावें। जिन सभ्यता के प्रतिनिधि-सम खंडित प्रतीकों को पृथ्वी माता ने शताब्दियों तक अपनी सुकुमार गोद में यथास्थित संभालकर रखा, उन्हें हम विवेकशील मनुष्य अपने ऊपर रक्षा का भार लेकर, अरक्षित छोड़ नष्ट न होने दें। इन पंक्तियों को मैं विशेषकर इसलिए लिख रहा हूँ कि वहाँ पर जो अवशेष, जिस रूप से रखे गये हैं, वे न तो कलाभिरुचि के द्योतक हैं और न सुरक्षा की दृष्टि से ही समीचीन। स्थान की सफाई पर ध्यान देना भी आवश्यक है। इतने सुंदर कलात्मक अवशेषों को पाकर भी कार्यवाहक-मंडल इन्हें कलातीर्थ का रूप न दे सका, तो दोष उनका ही होगा। बिखरे हुए कलात्मक अवशेषों को एकत्र करना कठिन तो है ही, परंतु इससे भी कठिनतर काम है उनको संभालकर सुरक्षित रखने का। यह भी तो एक जीवित कला ही है।

भारतीय स्थापत्य कला के अनन्य उपासक रायबहादुर **श्री ब्रजमोहनजी व्यास** को धन्यवाद दिये बिना मेरा कार्य अधूरा ही रह जाता है। कारण, इस संग्रहालय को समृद्ध बनाने में व्यासजी ने जितना रक्तशोषक श्रम किया है, वह शायद ही दूसरा कोई कर सके। आज भी आप में वही उत्साह और पुरातत्त्व के पीछे पागल रहनेवाली लगन के साथ, औदार्य भी है। आप संस्कृत साहित्य के गहरे अभ्यासी हैं। वैदिक संस्कृति के परम उपासक होते हुए भी जैन पुरातत्त्व और साहित्य पर आपका आज भी इतना स्नेह है कि जहाँ कहीं भी कोई चीज मिलने की संभावना हो, आप दौड़ पड़ते हैं। वे मुझे बता रहे थे कि आज भी बुंदेलखंड से दो बैगन भरकर जैन मूर्तियाँ मिल सकती हैं^१। मुझे आपने जिस आत्मीयता से तत्रस्थ जैन मूर्तियों के अध्ययन में सुविधाएं दी; उनको मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ? इस संबंध में प्रकाशित कुछ चित्र भी उन्हीं के द्वारा मुझे प्राप्त हुए हैं। **श्रीसंगमलालजी अग्रवाल** के पुत्र ने अपना समय निकालकर अवशेषों की फोटो आदि में सहायता दी थी, एतदर्थ मैं उनका भी अमारी हूँ।

- २५ अगस्त, १९४९

१. बाद में १९५० में मैंने स्वयं उनके बताये हुए स्थानों पर भ्रमण कर खंडहरों का साक्षात्कार किया जिसका विवरण आगे दिया जा रहा है।



विन्ध्याचल का जैन पुरातत्त्व



यह स्थान मिर्जापुर के निकट गंगा-तीर पर अवस्थित है। विन्ध्याचल कस्बे में अष्टभुजा का एक मंदिर व समीप की पहाड़ी पर विन्ध्यवासिनी का मंदिर बना हुआ है। तांत्रिक व पौराणिक साहित्य में जो उल्लेख आये हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि यह स्थान शक्ति के सुप्रसिद्ध ५२ पीठों में से एक है। **कथासरित्सागर** से फलित होता है कि किसी समय यह तीर्थ-यात्रा का बहुत बड़ा स्थान था। इसे तांत्रिक पीठ कब से माना जाने लगा? इसका पूर्व रूप क्या था? ये दो प्रश्न जिज्ञासु के मन में उठे बिना न रहेंगे। इनका उत्तर आगे दिया जा रहा है।

तांत्रिकों का और शक्तिपूजा में विश्वास करनेवालों का यह तीर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से भी बहुत महत्व रखता है। **स्व. डॉ. काशीप्रसादजी जायसवाल** का मन्तव्य है कि “अंधकार युगीन भारत” की कंति का अस्तित्व यहीं पर था। वे लिखते हैं “बघेलखंडवाली” सड़क से जो यात्री गंगा की ओर चलते हैं, वे कंति के उस पुराने किले के पास आकर पहुँचते हैं जो मिर्जापुर और विन्ध्याचल कस्बों के बीच में है। जान पड़ता है कि यह कंति वहीं है, जिसे विष्णु की “कान्तिपुरी” कहा गया है। इस किले के पत्थर के खंभे के एक टुकड़े पर मैंने एक बार आधुनिक देवनागरी में “कान्ति” लिखा हुआ देखा था। यह गंगा के किनारे एक बहुत बड़ा और प्रायः एक मील लंबा मिट्टी का किला है, जिस में एक बड़ी सीढ़ीनुमा दीवार है और जिस में कई जगह गुप्तकाल की बनी पत्थर की मूर्तियाँ या उनके टुकड़े आदि पाये जाते हैं। यह किला आजकल कंति के राजाओं की जमींदारी में है। जो कन्नोज और बनारस के गहड़वाल राजाओं के वंशज हैं। मुसलमानों के समय में यह किला नष्ट कर दिया गया था और तब यहाँ के राजा उठकर पास की पहाड़ियों के ‘विजयगढ़’ और ‘मांडा’ नामक स्थानों में चले गये थे, जहाँ अब तक दो शाखाएँ रहती हैं। कंति के लोग कहा करते हैं कि गहड़वालों से पहिले यह किला भर राजाओं

१. आ. स. ई. २१, पृष्ठ १०८ की पादटीप्पणी।

२. यहां प्रायः ७ फुट लम्बी सूर्य की मूर्ति है जो स्पष्ट रूप से गुप्तकाल की जान पड़ती है। आजकल यह किले के फाटक के रक्षक भैरव के रूप में पूजी जाती है।

का था। ऐसा जान पड़ता है कि यह 'भर' शब्द उसी भार-शिव शब्द का अपभ्रंश है और इसका मतलब उस भर जाति से नहीं है, जिसके मिरजापुर और विन्ध्याचल में शासन होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता^१।

“कंति^२ है भी ऐसे स्थान पर बसा हुआ कि भार-शिवों के इतिहास के साथ उसका संबंध बहुत ही उपयुक्त रूप से बैठ जाता है, क्योंकि भार-शिव राजा बघेलखंड से चलकर गंगा-तट पर पहुँचे^३ थे।” जायसवालजी के दोनों उद्धरण इसलिए उद्धृत किये हैं कि विन्ध्याचल की भूमि की प्राचीनता व ऐतिहासिकता समझ में आ सके।

शिवपुराण और देवीभागवत तथा अन्य, इस स्थान से संबंधित जितने भी तांत्रिक व पौराणिक उल्लेख उपलब्ध होते हैं, वे सब एक स्वर से इस विन्ध्याचल को हिंदू तीर्थ घोषित करते हैं। **स्व. जायसवालजी** द्वारा उपर्युक्त पंक्तियों में मूर्तियों की चर्चा की है वे भी हिंदू-धर्माश्रित शिल्प-कृतियाँ हैं। आज भी विन्ध्याचल का तांत्रिक महत्व उतना ही है, जितना कि कुछ शताब्दियों पूर्व था।

दिसंबर १९५० में हमें परम पूज्य उपाध्याय **मुनिवर श्रीसुखसागरजी व मुनि श्रीमंगलसागरजी महाराज** के साथ कुछ दिन मिर्जापुर में रहकर वर्णित तीर्थस्थान व निकटवर्ती ग्रामों, पहाडियों एवं खंडहरों में पाये जानेवाले शिल्पावशेषों का अन्वेषणात्मक दृष्टि से निरीक्षण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

यहाँ पर जो खंडित अवशेष पाये जाते हैं, उनमें से अधिकतर शैव सम्प्रदाय से संबद्ध है, पर कला की दृष्टि से बहुत प्राचीन नहीं जान पड़ते। बहुत कम लोग जानते हैं कि तांत्रिक शक्ति-पीठ के पूर्व का विन्ध्याचल पुनीत जैन-तीर्थ के रूप में विख्यात था। अतः जैन संस्कृति की दृष्टि से इसका बहुत बड़ा महत्व है। वहाँ पर जैन पुरातत्त्व के अवशेष इतस्ततः पाये जाते हैं। साथ ही तत्समीपवर्ती छह मील इर्द-गिर्द भू-भाग पर भी जैनाश्रित शिल्पकृतियाँ छाई हुई हैं। उन सभी से और भी स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकाल और गहड़वाल

१. काशीप्रसाद जायसवाल-अंधकार युगीन भारत, पृ. ६०-६१।

२. यूल का मत है कि टालेमी ने जिसे किंडिया कहा है, वह आज-कल का मिरजापुर ही है। देखो मैक् किंडल का (Ptolemy), पृ. १३४।

३. अंधकार युगीन भारत, पृ. ६३।

तक निश्चित रूप से यहाँ जैन-यात्रियों का आवागमन जारी था ।

ता. १२-१२-१९४९ को मुनि श्रीमंगलसागरजी महाराज और बाबू घेवरचंदजी जैन और बिहारीलाल (आजमगढ) के साथ मैंने मिर्जापुर से विन्ध्याचल की ओर प्रस्थान किया । मिर्जापुर से यह स्थान ४ मील के फासले पर है । पक्का मार्ग बना हुआ है । तीर्थ की सीमा में पैर रखते ही पंडे लोग आ घेरते हैं । हमारे साथ सरकारी व्यवस्था होने से हम लोग तो इन लोगों से बचे रहे । मार्गदर्शक के रूप में एक मुख्य पंडा बिना किसी स्वार्थ के हमारे साथ हो लिया और उसने लाखों वर्षों का इतिहास कहना आरंभ किया । हम लोगों ने भी श्रद्धा न होते हुए भी कर्णद्वार को खुला ही रखा । यद्यपि पहिले विन्ध्यवासिनी का मंदिर पडता है, परंतु हम लोग सीधे पहाड की ओर चले गये । मार्ग में हनुमानजी का एक मंदिर पडता है । इसके आगे बहुत-सी कला-कृतियों के भग्नावशेष पडे थे, मुख्यतः वे जैन प्रतिमाएँ ही थीं । जब हम लोगों ने इस पर गौर करना शुरु किया तो पंडाने कहा, “आप लोग इन नंगे देवों की मूर्ति में ही उलझ गये, इन्हें तो हम लोगों ने तोडताड के पुराने मंदिरों से अलग कर दिया है ।” उस समय हमने भी उसकी बात मान ली और मनमें सोचा कि पंडा हमको जैन नहीं समझ रहा है । कारण कि पंडों को यदि पता लग जाता कि हम भी जैन हैं तो संभवतः वहाँ की प्रेक्षणीय वस्तुओं का दर्शन भी न कर पाते ।

लोग जानते हैं कि जैनों का किसी समय आधिपत्य था । पंडा ने बाद में हमें बहुत-सी बातें बताई, जिनमें एक यह भी थी कि जैनी लोग तो बडे हत्यारे होते हैं, गौ-हत्या तक करते हैं । यदि गौ न मिले तो आटे की बनाकर समाप्त करते हैं । हम लोग मन ही मन उसके इस अन्वेषण पर हंस रहे थे, पर उस समय हंसी ओठों पर कैसे ला सकते थे । विचार करने की बात है कि सांस्कृतिक विद्वेष की विषाक्त भावनाएँ किस प्रकार इन लोगों के मन में बैठा दी गई है । उसका यह एक उदाहरण है । अस्तु !

जैन गुफा - मध्याह्न में हम लोग मुख्य मंदिर में गये, कुछ सीढियों को पार कर जाना पडता है । यहाँ से प्राकृतिक सौंदर्य का आनंद भी लिया जा सकता है । सौभाग्य से उस दिन आकाश में काले बादल मंडरा रहे थे, अतः सूर्य का प्रभाव नहींवत् था । देवी का मंदिर बाहर से गुफा के समान प्रतीत होता है । दो द्वार जाने के हैं । भीतर काफी अंधकार है । तैल के दीपक अंधकार को दूर करने में असमर्थ थे । हम यहाँ पर श्रद्धा के कारण दर्शनार्थ



तो गये नहीं थे, हमें तो सुनी-सुनाई बातों का साक्षात्कार करना था। अतः साथवाले बाबू घेवरचंद ने प्रकाशदंड का उपयोग किया, तब कहीं दीवार में उत्कीर्णित अष्टप्रतिहार्ययुक्त वीतराग परमात्मा की प्रतिमा पद्मासनस्थ दृष्टिगोचर हुई। प्रतिमा बड़ी सुंदर और भावपूर्ण है। प्रतिदिन के तैलस्नान से चमक भी काफी थी, यह अच्छा हुआ कि सिंदूर से विलेपित नहीं की गई थी। मुख्य देवी की प्रतिमा को देखने से ज्ञात हुआ कि वस्तुतः यह कोई मौलिक रूप से देवी की मूर्ति नहीं है, पर किसी प्राचीन मूर्ति में कुछ परिवर्तन करके देवी का रूप दिया गया है। यद्यपि वस्त्राच्छादित होने से स्पष्ट कहना कठिन है कि भीतर का स्वरूप कैसा रहा होगा। पुजारी किवाड बंद करके प्रक्षालन करता है, अतः उसे देखना भी संभव नहीं। हम लोगों ने नीचे का वस्त्र हटाकर देखने की कोशिश की, परंतु असफल रहे। हमें ऐसा लगा कि जिनमूर्ति जो दायें भाग में है, विस्तृत परिकर का उपांग है। ऊपर नीचे के अलंकरण प्रायः नष्ट हो चुके हैं। इससे इतना तो सिद्ध ही है कि किसी समय यह जैन गुफा-मंदिर रहे होंगे।

सीताकुंड की ओर

अष्टभुजा के मंदिर से हम लोग सीढियां उतरकर सीताकुंड की ओर चले। सीढियों के पास ही छोटा-सा गड्ढा है, जो शायद कूप रहा होगा। इसके किनारे जैन-शैली के चरणपादुका अवस्थित हैं, जो उपेक्षित-से पड़े हैं। इतना ही अच्छा है किसी ऋषि के नाम से बंधे नहीं हैं। १०० कदम चलने पर एक मंदिर दिखलाई पड़ता है, जो मार्ग से पर्याप्त नीचे है। सामने हनुमानजी की मूर्ति है। इसी के निकट छोटे-छोटे अवशेषों के टुकड़े बिखरे पड़े हैं। शायद किसी मंदिर के स्तंभ के रहे होंगे। मंदिर के आगे एक अच्छा-सा चौक है। मंदिर के आजू-बाजू दो कमरे हैं। लगता है पूर्वकाल में शिवलिंग रहे होंगे। मध्यभाग के कमरे में एक खंडित प्रतिमा है, तथापि अवशिष्ट अंश निर्णय करने में सहायता देता है। मूर्ति का वाहन बिल्कुल अस्पष्ट है। प्रतिमा चतुर्भुजी है। दाँये ऊपरवाले हाथ में कमल पुष्प है। कमल को थामने में अंगुलिकाओं का मुड़ाव स्वाभाविक है। निम्न हस्त खंडित है। बाँये ऊपरवाले हाथ में पुस्तिका चिह्नित है, निम्न हाथ में जो चिह्न है उसे नरमुंड मान लिया गया था। परंतु वस्तुतः वह कमल पुष्प का गुच्छा है। मस्तक पर नागफनं है, मध्यभाग का कटाव आकर्षक है। देव-देवियाँ जैन-परिकरों के समान हैं। केश-विन्यास प्रतिस्पर्द्धा की वस्तु है। कर्ण में केयूर, मुख पर सौम्य भावों का



अंकन, ओठों पर स्मित हास्य, कंठ हंसु ली, माला से विभूषित है। कटिप्रदेश तो बहुत ही स्वाभाविक है। नागावली की सिकुडन सौंदर्य में और भी अभिवृद्धि करती है। साथवाले पंडे से ज्ञात हुआ कि यह पद्मादेवी है। यद्यपि उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित लक्षण पद्मा-पद्मावती पर लागू नहीं होते। परंतु वह पार्श्वनाथजी की अधिष्ठातृ होने के कारण उसका इस स्थान से संबंध स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस गुफा समान मंदिर के पार्श्व में भी एक छोटी-सी गुफा है, जिसमें एक व्यक्ति भी कठिनता से लेट सकता है। सीताकुंड इसीके ऊपर है। स्वाभाविक पानी का स्रोत है, नाम दे रखा है **सीताकुंड**।

कालीखोह - यहीं से बहुत-सी सीढियाँ चढ़कर ऊपर की ओर जाना पड़ता है, वह मार्ग 'कालिकुंड' की ओर जाता है। मार्ग में आवास और छोटे-मोटे मंदिर भी पड़ते हैं। गेरुआ तालाब भी इस बीच पड़ता है। आम जनता का ख्याल है कि इसके इर्द-गिर्द कुछ फासले पर महात्माओं की कुटियाँ हैं, जिनमें वे गुप्त रूप से तप करते हैं। इधर से कुछ दूर जाने पर मार्ग में व्यवस्थित जमाये हुए पत्थरों का ढेर दिखा। कोई भी यात्री यहाँ से गुजरता है तो वह पाषाण का गृह बनाकर चल देता है। कहा जाता है कि यहाँ पर जो गृहनिर्माण करता है, उसे अगले जन्म में यहीं पर-माता के चरणों में रहने की सुविधा हो जाती है।

सीताकुंड से हमें काफी ऊँचे चढ़ना पड़ा था। अब यहाँ उतरना पड़ा। हम लोग रूखे पहाड़ प्रदेश को छोड़कर हरे-भरे वृक्ष और लताओं से आवेष्टित प्रदेश में पहुँच गये। इस स्थान को लोग **कालीखोह** कहते हैं। सचमुच में वह 'खोह' ही है। बड़ी गहरी भूमि है। नीचे भैरों का स्थान है जहाँ पर एक छिद्र है। भूतों को लोग इसी छिद्र में छोड़ जाते हैं। यहीं पर एक पत्थर का गड्ढा है जिस पर **कालीखोह** लिखा है। भैरोंजी के निकट से एक पगदंडी जाती है- कालीखोह की ओर। आधा फर्लांग चलना पड़ता है। मार्ग बड़ा संकरा है। सघन वृक्ष भी पर्याप्त है। प्रकृति का सौंदर्य एक-एक लता पर बिखरा पड़ा है। यहाँ पर भी पाषाण-शिला से एक-एक बूंद जल गिरता है। कृत्रिम कुंड भी है। यही स्थान भगवान पार्श्वनाथजी के नाम से संबंधित होना चाहिए। **कलिकुंड तीर्थ** की स्थापना और वनहस्ती द्वारा उपसर्ग की जो घटना आती है, वह इसी पर्वत पर घटित होनी चाहिए। नाम में भले ही बाह्य विभिन्नता लगती हो, पर अर्थ पर ध्यान देने से मूल बात-स्थान में अंतर नहीं पड़ता है। "**कालीखोह**" अभी कहते हैं। संभव है कालान्तर से कलिका



कालीखोह हो गया हो, कुंडस्वरूप झरना तो आज भी है ही । और 'खोह' पहाडियों के गहरे स्थानों को कहते हैं । आज भी चारों ओर ४-५ फर्लांग भयंकर झाड़ी है । यहाँ पर यद्यपि प्राचीन स्थान नहीं दिखलाई पड़ता । केवल कालिका का मंदिरमात्र है । इसी से 'कलिकुंड' का 'कालिकुंड' या 'कालीखोह' नाम बन गया है । वस्तुतः जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथ भगवान का स्मृति स्वरूप यह स्थान होना चाहिए । इसके आर्जू-बाजू और भी गंभीरता के साथ अन्वेषण किया जाना चाहिए ।

शाम को भैरोंकुंड देखने को गये, जहाँ पानी का झरना है और कतिपय बंगाली तांत्रिक वहाँ रहते थे । दूसरे दिन पहाड से चलकर अष्टभुजा का मंदिर देखा । मंदिर में प्रवेश करते ही सड़े-गले मांस की दुर्गंध से मन उद्विग्न हो जाता है, नाट फटने लगती है । आश्चर्य होता है उन उपासकों पर, जो मानवता का बलिदान देकर पाशविक वृत्ति से उत्प्रेरित होकर देवी की पूजा करते हैं, मंदिर के सामनेवाले मंदिरों में एक हजार वर्ष की खंडित मूर्तियाँ रखी हुई है । देवी के मुख्यमंदिर में बड़ा ही अन्धकार छाया हुआ था । एक पंडा अखंड ज्योति के नाम पर एक दीपक लिये खड़ा था । इससे केवल देवी के मुखमात्र का हल्का आभास होता था । हम लोगों ने दीपकों के सहारे मूर्ति के अंगोपांग व लक्षण देखने का प्रयास किया, तो सब पंडे बिगड़ पड़े और कहने लगे कि देवी के इस मुख्य मंदिर में अखंड-ज्योति को छोड़कर दूसरा दीपक कभी-भी नहीं जलाया जा सकता । पंडो को विदित हो चुका था कि हम लोग जैन मुनि हैं, पर अखीर में वहाँ के पुलिस इन्स्पेक्टर **श्री राणाजंगबहादुर** के हस्तक्षेप करने पर केवल ५ मिनट के लिए घृत के एक दीपक से निरीक्षण करने दिया, पर देवी का शरीर वस्त्रावृत होने से जो हमें जानना था न जान सके । केवल इतना ही ज्ञात हो सका कि देवी के मस्तक पर पद्मासनस्थ ध्वस्त आकृति है । इससे इनका जैनत्व सिद्ध है ।

उपर्युक्त मंदिर के पास से एक मार्ग गंगाघाट की ओर जाता है । मार्ग में कहीं-कहीं पुरातन अवशेषों के साथ जैन-मूर्तियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं । घाट के निकट ही, बाईं ओर एक व्यायामशाला के सामने तीन विशाल जिन मूर्तियाँ औंधी रखी हुई थीं । जब शिला को हटवाकर देखा तो खड्गासन युक्त तीन-जिन प्रतिमाएँ ज्ञात हुईं । यद्यपि निर्माण-कालसूचक कोई लेख तो खुदा न था, पर मूर्तियों की भव्य आकर्षक मुखमुद्रा, घुंघराले बाल, कानों तक खिंची हुई भाँहें व कमललोचन, तीक्ष्ण नासिका आदि लक्षणों से इसे गुप्तकाल में,



रखने में हमें संकोच नहीं होता । मूर्तियों की प्रभावली हमारी उपर्युक्त कल्पना को और भी पुष्ट करती है । प्रभावली में विविध जाति के बेलबूटों का अंकन, विशेषतः गुप्तकालीन मूर्तियों में ही देखा जाता है । घाट पर पीपल वृक्ष के निम्नभाग में बहुसंख्यक प्रस्तरावशेष पड़े हैं । कुछ-एक को तो वृक्ष-मूल ने दृढ़ता के साथ ऐसा जकड़ रखा है कि, बिना वृक्षमूल को समाप्त किये उनकी उपलब्धि असंभव है । यहाँ पर हमें अपने जीवन में प्रथम बार ही जैन-मूर्ति के विशाल परिकर में बाहुबली स्वामी की मूर्ति का अंकन देखने को मिला और बाद में विन्ध्यप्रदेश व उसके निकटवर्ती महाकोसल से प्राप्त जिन-मूर्तियों में ।

स्वर्गस्थ काशीप्रसादजी जायसवाल ने जिस मिट्टी के दुर्ग का उल्लेख किया है और उसमें प्राचीन मूर्तिएं होना बतलाया है, इस उल्लेख के आधार पर हम लोग वहाँ गये, पर हमें विशेष सफलता न मिली । किले के निम्न भाग में बहुत बड़ा पत्थरों का ढेर दिखा । पर वह ऐसे खतरनाक स्थान पर था कि बिना नौका का सहारा लिये, वहाँ पहुँचना असंभव था ।

डॉक्टर फुहरर के वृत्तान्त से विदित हुआ कि विन्ध्याचल से लगभग ३ मील दूर शिवपुर ग्राम है । वहाँ के रामेश्वरनाथ मंदिर में खंडित मूर्तियाँ हैं । उनमें एक श्री त्रिपालदेवी और भगवान महावीर की भी मूर्ति है । एक स्त्री के शरीराकार पूर्ण मूर्ति एक सिंहासन पर पुत्र को गोद में लिये बैठी है—५ फुट २ इंच ऊँची व ३ फुट ८ इंच तक चौड़ी है, व ६ फुट ८ इंच मोटी है । दाहिनी भुजा खंडित है । बाईं भुजा में पुत्र है । सिंहासन के नीचे सिंह और उसके हरएक ओर सात मुसाहिब हैं—२ उड़ते हुए पांच खड़े हुए हैं—पीछे बड़ा वृक्ष है । यहाँ के लोग इसको शंकटा देवी कहते हैं ।”

उपर्युक्त वर्णित शंकटादेवी जैनों की अंबिका ही होना चाहिए । डॉक्टर साहब ने जो वर्णन किया है वह पूर्णतया अंबिका पर ही चरितार्थ होता है । सिंह, अंबिका का वाहन है । गोद में बैठे बालक उसके पुत्र है । पीछे के ओर का वृक्ष आम का ही होना चाहिए । क्योंकि इस प्रकार की मूर्तियों का प्रचलन युक्त प्रान्त में, कुशाण-काल में भी था । जैसा कि मथुरा और कौशाम्बी की

१. संयुक्तप्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक, पृ. ५९-६० ।

सिवनी (मध्यप्रदेश) से १० मील 'पुसेरा' में नाककटी एक जैन मूर्ति हैं, जिसे लोग “नकटीदेवी” मानते हैं । अन्यत्र भी पुरातन अवशेष गलत ढंग से पूजे जाते हैं ।

खुदाई से प्राप्त मूर्तियों से सिद्ध है । यह परंपरा विन्ध्यप्रदेश होते हुए महाकोसल तक फैली और तेरहवीं शताब्दी तक इसका अस्तित्व मिलता है ।

विन्ध्याचल के निकटवर्ती ग्राम एवं पहाडियों में भ्रमण करते हुए कई जिन-मूर्तियाँ, अन्य अवशेषों के साथ दृष्टिगोचर हुई; पर साधनों के अभाव में हम उनके नोट न ले सके ।

इतने विवेचन के बाद यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि किसी समय विन्ध्याचल जैन-संस्कृति का प्रधान स्थान अवश्य ही रहा होगा । इसके क्रमिक इतिहास पर प्रकाश डाल सके, ऐसे ग्रन्थस्थ उल्लेख व शिलोत्कीर्ण लिपियाँ आज हमारे सम्मुख नहीं हैं, पर जो कुछ ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त होते हैं और वहाँ जैन-संस्कृति से संबद्ध जो कला-कृतियाँ पायी जाती हैं, उनसे हमारा मार्ग आंशिक रूप में स्पष्ट हो जाता है ।

जैनसाहित्य में भगवान पार्श्वनाथ की जीवन-घटना के साथ 'कलिकुंड तीर्थ' की स्थापना का उल्लेख जुड़ा हुआ है । आचार्य श्री जिनप्रभसूरिजी इस तीर्थ की घटना का स्थान अंग जनपदान्तर्गत चम्पा के निकट कादम्बरी अटवी मानते हैं । वहाँ 'कली' नामक पर्वत और उसके अधोभाग में 'कुंड' नामक सरोवर था । वहीं यूथाधिपति महिधर हाथी हुआ, आदि आदि^१ ।

डॉ. हीरालालजी जैन का मतव्य है कि कलिकुंड तीर्थ दक्षिण में होना चाहिए । इसके समर्थन में वे हरिषेनाचार्यकृत कथाकोष व करकंडुचारित्र के उल्लेख उपस्थित करते हैं^२ ।

परंतु हमारा अनुमान है कि विन्ध्याचल पर जो स्थान कालीखोह के नाम से विख्यात है, वह कलिकुंड का ही अपभ्रंश रूप होना चाहिए; क्योंकि वहाँ पर निर्मित काली का मंदिर बहुत प्राचीन नहीं है । पर वह आज भी ऐसा एकान्त स्थान है कि (जबकि उन दिनों तो यह स्थान सापेक्षतः और भी गुप्त समझा जाता रहा होगा ।) तांत्रिकों को सहज ही आकृष्ट कर सकता है । हुआ भी ऐसा ही जान पड़ता है । 'कलिकुंड' से 'कालिकुंड' हो जाना

१. अंगजणवए करकंडुनिवपालिज्जमाणाए चंपानमरीए नाइदूरे कायंवरी-नामअडंवी हुत्या । तत्यांकलीनामपव्वओ । तस्स अहो भूमीए कुंडं नाम सरवरं । तत्थ जूहाहिवई महिहरो नाम हत्थी हुत्या ।

- विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ २६ ।

२. जैन-सिद्धांत-भास्कर, वर्ष ६, किरण १, पृष्ठ ६२-६३ ।



अष्टभुजा गुफा के पृष्ठ भाग में जिस चरण का उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियों में हुआ है वह जैन शैली के ही है और वह नवीन भी नहीं जान पड़ते। बहुत संभव है कि वह विन्ध्याचल के ही किसी मंदिर में रहे होंगे और परिवर्तन की धुनि में उस स्थान पर साम्प्रदायिक चिह्न स्थापित कर इसे उपेक्षित रूप से कूप के ऊपर रख दिया हो तो आश्चर्य नहीं।

भारतीय तांत्रिक परंपरा के क्रमिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में तांत्रिक-परंपरा विकसित हो चुकी थी। तदुत्तरवर्ती संस्कृत-साहित्य के नाटक व कथात्मक ग्रन्थों में कापालिकों का वर्णन आता है। संभव है तांत्रिकों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण जैनी अपने इस स्थान को खो चुके हों। परंतु विन्ध्यप्रदेश के इतिहास को देखने से तो ऐसा लगता है कि आठवीं शती में वहाँ तंत्र परंपरा की वाम-साधना होती थी। यह प्रवाह उत्तर ही से दक्षिण की ओर बहा होगा। इसमें विन्ध्याचल का भी अन्तर्भाव हो जाता है। परंतु जैन इतिहास के साधनों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि चौदहवीं शताब्दी तक तो वह जैन-तीर्थ के रूप में अवश्य ही प्रसिद्ध था।

आचार्य श्रीजिनप्रभसूरिजी के 'विविधतीर्थकल्प' में विन्ध्याचल विषयक जो उल्लेख आये हैं वे इस प्रकार हैं —

“विन्ध्याद्रौ मलयगिरौ च श्रीश्रेयांसः”^१ “विन्ध्याद्रौ श्रीगुप्तः ।”^२

उपर्युक्त उल्लेख से सिद्ध है कि विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में वहाँ श्रेयांशनाथ का मंदिर या बिम्ब रहा होगा। इसी काल का जैन स्तुति-स्तोत्र विषयक साहित्य में विन्ध्याचल का नाम लेकर वहाँ के जिन-बिम्बों को नमस्कार किया गया है, पर उत्तरवर्ती साहित्य में न तो विन्ध्याचल का उल्लेख है एवं न सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी की तीर्थमालाओं में ही विन्ध्याचल का उल्लेख है। मुझे तो उनमें उल्लेख न होने का यही कारण दिखता है कि जैन-मुनियों का आवागमन अधिकतर आगरा की ओर से ही होता रहा। महाकोसल और विन्ध्य प्रदेश में विचरते हुए यदि मगध के लिए जैन-मुनि प्रयाण करते, तो मिरजापुर बीच में पड़ता और विन्ध्याचल का प्रासंगिक उल्लेख हो जाता। आज के सुविधाप्राप्त युग में भी उपर्युक्त मार्ग बड़ा कठिन है, तब उस युग की बात ही क्या कही जाय।

चौदहवीं शताब्दी के बाद ही जैनों के अधिकार से विन्ध्याचल निकल गया जान पड़ता है; क्योंकि सूचित समय बाद के ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में मैंने जिन अनुमानों का उल्लेख किया है, आशा है विज्ञान इस पर अधिक प्रकाश डाल, एक विलुप्त तीर्थ को प्रकाश में लावेंगे।

यहाँ पर बिखरे हुए अवशेषों को, कोई भी, कभी भी ले जा सकता था। संभव है इस डकैती के शिकार जैन-अवशेष भी हुए हों। कुछ वर्ष पूर्व **मौलाना आजाद**, स्वास्थ्य लाभार्थ विन्ध्याचल रहे थे, उन्होंने ने सांस्कृतिक तस्करों की दृष्टि से बचाने के लिए कुछ अवशेषों को मिट्टी में दबा दिया था। उन दिनों के **आजाद साहब** का कला-प्रेम सराहनीय है; पर जब वे भारतीय शासन में शिक्षा-विभाग के सिंहासन पर बैठे, तब तो यह प्रेम और भी पल्लवित-पुष्पित होना चाहिए था, पर बड़े ही परिताप के साथ लिखना पड़ रहा है कि आज **मौलाना साहब** के विभाग के अतर्गत पुरातत्त्व विभाग की ओर से प्राचीन कलात्मक सांस्कृतिक कृतियों की घोर उपेक्षा हो रही है।

१. विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ८५।

२. विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ८६।



मिर्जापुर में उभय संप्रदायों के मंदिर व उपाश्रय बहुत ही सुंदर हैं। हम लोग “बूढामहादेव” मोहल्ले के उपाश्रय में ठहरे थे, यद्यपि यह स्थान कोई बहुत उपयुक्त तो नहीं है पर मैं इसे नहीं भूल सकता। प्रत्येक जैन मंदिर व उपाश्रय में पुरातन हस्तलिखित प्रतियों का संग्रह प्रायः पाया जाता है। मिर्जापुर में किसी समय बहुत अच्छा संग्रह था। पर गृहस्थों की इस ओर रुचि न रहने के कारण, बहुसंख्यक ग्रन्थ नष्ट हो गये। मुझे यहाँ कुछ १७ शती की राजस्थानी बातों की प्रतियाँ प्राप्त हुईं, जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व है। कुछ चित्र भी प्राप्त हुए, जो वर्षों तक सर्दी में रहकर भी अपनी रेखा व रंगों को सुरक्षित रख सके थे। मुझे ज्ञात हुआ कि शुरु से मिर्जापुर **खरतरगच्छीय** यतियों का केन्द्र रहा है। उनके द्वारा निर्मित अत्यंत विशाल “**दादावाडी**” आज भी उस युग का सुस्मरण करा रही है।

विन्ध्य प्रदेश का भूभाग प्राचीन काल से ही भारतीय शिल्प-स्थापत्य कला से सम्पन्न रहा है। भारत एवं विदेशी संग्रहालयों में बहुसंख्यक प्रतीक इसी भूभाग से गये हैं, तो भी आज वहाँ की भूमि सौन्दर्यविहीन नहीं है। भरहूत स्तूप जैसी विश्वविख्यात कलाकृति का संबंध इसी से है, जो आज कलकत्ता और प्रयाग-संग्रहालय की शोमा है। संसारप्रसिद्ध खजुराहो इसी रत्नगर्भा का एक ज्योति-खंड है, शिल्प-सौंदर्य का अन्यतम प्रतीक है। एक समय था, जब यहाँ उत्कृष्ट कलाकारों का-स्थपतियों का-समादर होता था, शासक एवं शासित दोनों कला के परम उपासक थे। यहाँ की जनता एवं कलाकारों ने अपनी उत्कृष्ट सौंदर्यसम्पन्न कलाकृतियों से, न केवल इस भूभाग को ही मंडित किया, अपितु भारतीय-शिल्पकला के क्रमिक विकास की मौलिक सामग्री प्रस्तुत कर, भारत का सांस्कृतिक गौरव द्विगुणित बढ़ा दिया। आज भी भारत इस पर गर्व कर सकता है।

पार्थिव सौन्दर्य के तत्त्वों की परंपरा को यहाँ की जनताने सुंदर रूप से संभाल रखा। शुंग, वाकाटक, गुप्त एवं तदुत्तरवर्ती शासकों के समय यहाँ का सांस्कृतिक धरातल प्रतिस्पर्धा की वस्तु था। ग्राम-ग्राम और पहाडियों पर इतस्ततः फैली हुई प्राचीन मूर्तियाँ, मंदिर एवं तथाकथित शिल्पावशेष, आज भी अपनी गौरव गरिमा का मौन परिचय दे रहे हैं। विन्ध्यभूमि के अवशेष कलाकारों की उदात्त भावधारा, व्यापक चिंतन एवं गंभीरता के परिचायक हैं। यहाँ के कलाकार कोरे भावुक न थे, एवं न आध्यात्मिक कृतियों के सृजन तक ही सीमित थे, अपितु उनने तात्कालिक लोकजीवन के विशिष्ट अंगों को पत्थर



पर कुशल करें द्वारा उत्खनन कर, समाज की विकासात्मक परंपरा को अक्षुण्ण रखा। कल्पना के बल पर उन्होंने एक प्रकार से जनता का नैतिक इतिहास, छैनी से, मौन रेखाओं द्वारा खचित किया।

शताब्दियों तक सांस्कृतिक विचारधारा को अपनी दीर्घ साधना से सुरक्षित रखा। उनकी कल्पना शक्ति, शिल्पवैविध्य, सुललित अंकन, शारीरिक गठन एवं उत्प्रेरक तत्त्व आज भी टूटी-फूटी कलाकृतियों में परिलक्षित होते हैं। अतः निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि भारतीय शिल्प-कला का अध्ययन तब ही पूर्ण हो सकेगा, जब यहाँ के अवशेषों पर, जो आज भी अपेक्षाकृत पर्याप्त उपेक्षित हैं, गंभीर दृष्टि डाली जाय। विन्ध्य-भूमि के कलावशेष मौनवाणी से कह रहे हैं कि कला कला के लिए ही नहीं अपितु जीवन के लिए भी है। यहाँ प्राकृतिक स्थानों की बहुलता होने से संस्कृति-प्रकृति और कला, त्रिवेणी की कल्पना साकार हो उठती है।

जैन पुरातत्त्व

विवक्षित भूभाग का प्राचीन कलावैभव भरहुत स्तूप में परिलक्षित होता है। यही स्तूप प्रान्त का सर्वप्राचीन कलादीप है। घटनासूचक लेख होने से इसका महत्व कला के साथ इतिहास की दृष्टि से भी है। भारतीय लोककला का यह उच्चतम प्रतीक है। शुंगवंश के बाद भारशिव, जो परम शैव थे, शासक हुए। भूमरा जाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। वहाँ के अवशेष और नागौद राज्य से पाये गये प्रतीक उपर्युक्त पंक्ति की सार्थकता सिद्ध करते हैं। इस प्रसंग में नचना और लखुरबाग भी उपेक्षणीय नहीं, जहाँ शैव संस्कृति के ढेर अवशेष आज भी प्राप्त किये जा सकते हैं। ये स्थान भयंकर जंगल और पहाडियों पर हैं। दिन को भी वनचरों का भय बना रहता है। गुप्तों के समय में शिवपूजा का प्रचार काफी रहा। बाद में जैन पुरातत्त्व का स्थान आता है। प्रमाणों के अभाव में निश्चित नहीं कहा जा सकता कि अमुक संवत् में जैन संस्कृति का इस ओर प्रचार प्रारंभ हुआ, परंतु प्राप्त जैनमूर्तियों और देवगढ के मंदिरों पर से इतनी कल्पना तो की ही जा सकती है कि गुप्तों के समय में जैनों का आगमन इस ओर हो गया था। जैनाचार्य हरिगुप्त, जो तोरमाण के गुरु थे, इसी प्रान्त के निवासी थे। प्राकृत साहित्य की कुछेक कथाएँ भी इसका समर्थन करती हैं।

आज विन्ध्यप्रदेश में जहाँ कहीं पर भी खंडहरों में जाकर देखें तो, वहाँ

जैन अवशेष अवश्य ही दृष्टिगोचर होंगे, भले ही वहाँ जैनी न बसते हों। गत वर्ष मैंने स्वयं भ्रमण कर, अनुभव किया है। नदी तीर, जलाशय, कूप एवं वापिकाओं तक में जैनमूर्तियाँ उपेक्षित-सी पड़ी हैं। मकानों की दीवारों में तो मूर्तियों का रहना आंशिक रूप से क्षम्य हो भी सकता है, पर मैंने दर्जनो मूर्तियाँ सीढियों और पाखानों में से निकलवाई है। यह साम्प्रदायिक दूषित मनोभावों का प्रदर्शन मात्र है। पचासों स्थान पर जैन मूर्तियाँ “खैरमाई” के रूप में पूजी जाती हैं। **जसो, मैहर, उचहरा और रीवां** में मैंने स्वयं इस प्रकार उन्हें अर्चित देखा है।

आज प्रयाग-संग्रहालय में जितनी भी जैन प्रतिमाएँ हैं, उनमें से बहुत बड़ा भाग विन्ध्यप्रान्त से प्राप्त किया गया है। जसों में तालाब के किनारे एक हाथी मर गया, जहाँ उसे गाड़ा गया, वहाँ कुछ गढ़ा रिक्त रह गया, तब जैन मूर्तियों से उसकी पूर्ति की गई। जसो जैन मूर्तियों का नगर है। जहाँ खोदें वहीं मूर्ति। यह हाल सारे प्रान्त का है। कई सुंदर जैन मंदिर भी अवश्य ही रहे होंगे, कारण कि तोरणद्वार के जैन अवशेष और मानस्तंभ तो मिलते ही हैं। मंदिर न मिलने का केवल यही कारण पर्याप्त नहीं है कि वे गिर पड़े, परंतु मुझे तो ऐसा लगता है, जहाँ जैन थे वहाँ तो मंदिर सुरक्षित रहे, जहाँ न थे वहाँ मूर्ति बाहर फेंक दी और ये अजैनों के अधिकृत हो गये। एक दर्जन स्थान मैंने स्वयं ऐसे देखे हैं। वहाँ की जनता भी स्वयं स्वीकार करती है।

यहाँ पर मैं एक बात का स्पष्टीकरण कर दूँ कि मैं सम्पूर्ण विन्ध्यप्रान्त में नहीं घूमा हूँ, अतः जिन अवशेषों को मैंने स्वयं देखा, समझा उन्हीं के आधार पर विचार उपस्थित कर रहा हूँ। हाँ, इतनी सामग्री से मेरा विश्वास अवश्य मजबूत हो गया है कि यदि केवल कलात्मक अवशेषों की गवेषणा के लिए ही विन्ध्यप्रान्त का भ्रमण किया जाय तो निःस्सन्देह जैन शिल्पस्थापत्य कला के अनेक अश्रुतपूर्व भव्य प्रतीक प्राप्त किये जा सकते हैं। बहुत स्थानों से मुझे सूचनाएँ मिली थी कि वहाँ बहुत कुछ जैन सामग्री है। पर पैदल चलनेवाला आखिर मैं इतने विस्तृत भूभाग पर कहाँ तक चक्कर काट सकता है, वह भी सीमित समय में। मैंने तो केवल **सतना और रीवां** जिले के स्थान ही देखे हैं, जो मेरे मार्ग में थे। **देवतलाव, मऊ, प्योहारी, गुर्गी, नागौद, जसो, लखुरबाग, नचना, उचहरा, मैहर** आदि प्रधान स्थान एवं तत्सन्निकटवर्ती स्थानों के अवशेष इस बात की साक्षी दे रहे हैं, कि एक समय उपर्युक्त भूभाग जैनों के बड़े केन्द्र रहे होंगे। १२-१२ हाथ की दर्जनों बड़ी मूर्तियों का मिलना,



मेरा विषय यहाँ पर अत्यन्त सीमित है, यानी रीवाँ, रामवन, जसो, उचहरा, मैहर आदि स्थानों के जैन अवशेषों का परिचय कराना । परंतु इतः पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि विन्ध्यप्रान्तीय जैन पुरातत्त्व की अपनी मौलिक विशेषताएं क्या-क्या है ? किस काल से कितना जैन कलाकारों ने लिया ? एवं चलती आई परंपरा को निर्वाह करते हुए सामयिक परिवर्तन कौन-कौन से और कैसे किये ? मैं मानता हूं कि-जैन मूर्तियों की मुद्रा निर्द्धारित है, उसमें सामयिक परिवर्तन कैसा ? परंतु यह देखा गया है कि कलाकार हमेशा प्रगति का साथी होता है, युग की शक्ति को देखकर उसे मोडता है, तभी उसकी कृतियाँ प्राचीन होते हुए, आज भी हमें नूतन लगती है । सामयिक उचित परिवर्तन सर्वत्र अपेक्षित है

ऊपर सूचित भूभाग की जितनी भी जैन मूर्तियाँ स्वतंत्र या तोरणद्वारा में पाई जाती है, प्रायः सभी अष्टप्रातिहार्य युक्त ही होती हैं, भले ही वे कितनी ही लघुतम क्यों न हों । प्रत्येक प्रतिमा में दाई-बाई क्रमशः यक्ष-यक्षिणी एवं श्रावक-श्राविका का अंकन अवश्य ही होगा, जब कि अन्य प्रान्त की बहुत-सी ऐसी प्रतिमाएँ मिलेंगी, जिनमें यक्ष-यक्षिणी का अभाव पाया जायगा । विन्ध्य के कलाकार इस बात में बहुत सजाग थे । ३०० से अधिक मूर्तियाँ मैंने देखीं, सभी में उक्त नियम स्पष्ट परिलक्षित होता आया है ।

[illegible]

पर मूर्ति दृष्टिगोचर होंगी, ऐसा आसन महाकोसल और विन्ध्यप्रदेश को छोड़कर अन्यत्र न मिलेगा। तीसरी विशेषता यह भी दृष्टिगोचर हुई, जिसका उल्लेख शिल्प या वास्तुग्रंथों में नहीं है, पर कलाकारों ने प्रभाव में आकर अंकन कर दिया प्रतीत होता है जो स्वाभाविक भी जान पड़ता है। यद्यपि वह विशेषता उतनी व्यापक नहीं है। नागौद और जसों में मैंने १२ प्रतिमाएँ ऐसी देखीं जिनका परिकर उनके जीवन के विशिष्ट प्रसंगों से भरा पड़ा है। भगवान ऋषभदेव के पुत्रों का राज्यविभाजन, दीक्षाप्रसंग, भरत-बाहुबली युद्ध आदि। महावीर स्वामी की प्रतिमा में कुछेक पूर्वभव और दीक्षा-प्रसंग अंकित हैं। ये दोनों अपने ढंग का अन्यतम एवं अश्रुतपूर्व हैं।

दशावतारी विष्णु और शिवजी की ऐसी प्रतिमाएँ मिलती हैं। कलाकार ने इनका अनुसरण किया ज्ञात होता है। अन्यत्र आबू आदि जैन मंदिरों में तो तीर्थंकरों के पूर्वजीवन के वैराग्योत्प्रेरक भावों का अंकन पाया जाता है, पर परिकर में कहीं सुना नहीं गया। इस ओर की अधिकतर प्रतिमाएँ ऐसी मिलेंगी, जिन पर संपूर्ण शिखर की आकृति बनी रहती है। जगती से लगाकर कलश तक सकल अलंकृत रहता है। तोरणद्वारोंवाली आकृतियाँ भी इन से मेल खाती हैं। शिखर नागर शैली के मिलते हैं, यह शैली भारशिवों द्वारा आविष्कृत हुई है।

यक्षिणी का व्यापक रूप

शासनदेवियों में पद्मावती, अंबिका और चक्रेश्वरी की मान्यता सर्वत्र प्रधान रूप से प्रसृत है। पर इस ओर तो सभी तीर्थंकर की यक्षिणी का स्वतंत्र अंकन साधारण बात थी। अंबिका और चक्रेश्वरी के यहाँ की मूर्तिकला में कई रूप मिलते हैं, चक्रेश्वरी की बैठी और खड़ी कई प्रकार की स्वतंत्र मूर्तियाँ मिलती हैं। स्वतंत्र मंदिर तो इसी ओर की देन हैं। अंबिका का व्यापक व्यक्तित्व जितना यहाँ के कलाकार चित्रित कर सके हैं, शायद अन्यत्र न मिले। एक ही अंबिका के ३-४ रूप मिलते हैं। प्रथम तो सामान्य रूप जैसा परिकर में उत्कीर्णित रहता है। दूसरा प्रकार शृंगकालीन कला का स्मरण दिलाता है। मथुरा के अवशेषों में इसकी अभिव्यक्ति का पता लगाया जा सकता है।

आम्रवृक्ष की छाया में गोमेधयक्ष और यक्षिणी अंबिका बालकों को लिये क्रमशः दायीं बायीं ओर अवस्थित हैं। वृक्ष पर भगवान नेमिनाथ



पद्मासन में है। निम्न भाग में राजुल भी प्रभु के प्रशस्त पथ का अनुकरण करती हुई बताई है। जसो से प्राप्त प्रतिमा में भी एक नग्न स्त्री वृक्ष पर चढ़ने का प्रयास करती हुई बताई है, उनका मुख ऊपरवाली मूर्ति की ओर है, सतृष्ण नेत्रों से देख रही है, मानो प्रभु के चरणों में जाने को उत्सुक हो। इस प्रकार की मूर्तियाँ विन्ध्यभूमि के अतिरिक्त तन्निकटवर्ती महाकोसल के **त्रिपुरी, गढा, पनागर, बिलहरी और कारीतराई** आदि स्थानों में भी मिलती है। इस शैली का प्रादुर्भाव कुषाणकाल में हो चुका था, जैसा कि **मथुरा और कौशाम्बी** के जैन अवशेषों से सिद्ध होता है। विन्ध्य-कलाकारों ने इसमें सामयिक परिवर्तन किये। अंबिका का तृतीय रूप प्रस्तुत निबंध में ही वर्णित है। उच्चकल्प-उचहरा के खंडहरों में एक रूप और देखा जो विचित्रता को लिये हुए है। ४० × २६ इंच की शिला पर एक सघन फल सहित आम्रवृक्ष उत्कीर्णित है। देवी अंबिका इस की डाल पर बैठी है। निम्न स्थान में पूँछ, फटकारता हुआ सिंह, तनकर खड़ा है। सर्वोच्च भाग में भगवान नेमिनाथ पद्मासन में है। दोनों ओर एक-एक खड्गासन भी है। केवल अंबिका, पद्मावती या चक्रेश्वरी के मस्तक पर क्रमशः नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, और युगादिदेव तो प्रायः सर्वत्र ही मिलते हैं।

पाठक देखेंगे कलाकार जैन वास्तुशास्त्र की रक्षा करते हुए, सामयिक परिवर्तन करते गये हैं।

शैवप्रभाव

यक्ष और यक्षिणियों की प्रतिमाओं पर शैवकलाकृतियों का आंशिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यहाँ शुंगकाल से ही उनका प्रचार था, बाद में उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। भारशिवों के समय में तो वह मध्याह्न में था, अतः कलात्मक परंपरा का प्रभाव कलाकारों पर कैसे नहीं पड़ता? शिवजी के जटा-जूट का अंकन यहाँ के यक्षों के मस्तक पर भी पड़ा। जितनी यक्ष मूर्तियाँ (परिकरान्तर्गत) हैं उनके मस्तक की जटा और गुंथा हुआ रूप इसका द्योतक है। भगवान ऋषभदेव की जटा यहाँ की प्रतिमाओं में और ढंग की मिलती है—पूरा मस्तक जटा से आच्छादित रहता है, कुछ भाग उठा हुआ भी मिलता है। मुकुट भी इसका विस्तृत कलात्मक संस्करण है। यह शैव संस्कृति की देन है। इस विषय पर मैं अन्यत्र काफी लिख चुका हूँ।

तोरणद्वार

मूर्तियों के अतिरिक्त इस ओर तोरणद्वार भी काफी परिमाण में मिलते



है। खजुराहो, नचना, अजयगढ़, गुर्गी, रीवाँ, जसो और उच्चकल्प उचहरा में अनेकों कलापूर्ण, विविध रेखाओं से अंकित जैनतोरण मिले हैं। इनमें तीन प्रतिमाएँ “जिन” की होती हैं और शेष भाग में कीर्तिमुख आदि रेखाएँ। किसी-किसी में जैन तीर्थकरों के अभिषेक के दृश्य भी देखने में आये। कुछेक में गोमटस्वामी की प्रतिमा भी। मुख्यतः इसमें यक्षिणियाँ ही रहती हैं। प्रयाग-संग्रहालय में भी एक दो तोरण हैं, जो विन्ध्य-भूमि से ही गये थे।

मानस्तंभ

अन्य जैनकलावशेषों के साथ मानस्तंभ भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। रीवाँ में मानस्तम्भ का उपरिमभाग अवस्थित है, जिसका शब्द-चित्र इसी निबंध में आगे दिया गया है। कुछेक मानस्तम्भ जसो में मुसलमानों की बस्ती में पड़े हुए है। इस ऊपर के भाग में सशिखर चतुर्मुख जिन रहते हैं। लाट के अग्र भाग पर विविध रेखाएँ उत्कीर्णित रहती हैं।

उचहरावाले स्तंभ पर तो विस्तृत लेख भी खुदा है। पर देहातियों द्वारा शस्त्र पनारने से यह घिस गया है। परिश्रम से केवल “सरस्वतीगच्छ” “कुन्दकुन्दान्वये” और “आशधर” यही शब्द पढ़े गये। हाँ, लिपि से अनुमान होता है, इसकी आयु ७०० वर्ष की होगी। यह आशधर यदि आशाधर हों तो उनका आगमन इस ओर भी प्रमाणित हो जायगा। गुर्गी और प्यौहारी के निर्जन स्थानों में जैन स्तंभ प्रचुर-मात्रा में मिल सकते हैं, जैसा कि श्री अयाजअली सा. के कथन से ज्ञात होता है। ये रीवाँ पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष हैं।

रीवाँ के जैन अवशेष

रीवाँ, विन्ध्यभूमि की वर्तमान राजधानी है। पुरातव शिल्पावशेषों की भी इतनी प्रचुरता है कि २० लारियाँ एक दिन में भरी जा सकती हैं। पर यहां उनका कुछ भी मूल्य नहीं है, तभी तो अत्युच्च कलात्मक प्रतीक यों ही दैनन्दिन नष्ट हुए जा रहे हैं। रीवाँ के बाजार से किले की ओर जानेवाले मार्ग पर बहुत कम ऐसे गृह मिलेंगे जिन पर पुरातत्त्व के अवशेष न जड़े हों, या मार्ग में न पड़े हों। राजमहल में भी कुछ अवशेष हैं। तात्कालिक शिक्षा-सचिव श्रीयुत तनखा साहब का ध्यान मैंने इस ओर आकृष्ट किया था, पर अधिक सफलता न मिल सकी, कारण कि उन दिनों रीवाँ पर राजनैतिक बादल मंडरा रहे थे।



(१) रीवाँ

राज्य में इतने पुरातव अवशेष उपलब्ध हुए हैं कि उनसे कई नये मंदिर बन गये । **रीवाँ का लक्ष्मणबागवाला** नूतन मंदिर इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है । वहाँ के महन्त ने **गुर्गी** से कलापूर्ण अवशेषों को मंगवाकर, आवश्यकतानुसार तुडवाकर, स्वतंत्र मंदिर अभी ही बना लिया है । इनमें जैन अवशेषों की सामग्री भी मैंने प्रत्यक्ष देखी । प्राचीन कला का इतना व्यापक ध्वंस होने के बावजूद भी, भारत सरकार का पुरातत्त्व विभाग मौन सेवन कर रहा है । **रीवाँ-राज्य** के बचे-खुचे अवशेष मौलवी **अयाजअली** द्वारा **“व्यंकट विद्यासदन”** में पहुँच गये हैं और सापेक्षातः सुरक्षित भी हैं । उपर्युक्त सदन साधारणतः पुरातन अवशेषों का केन्द्र बन गया है । इसमें कई ताम्रपत्र, शिलोत्कीर्णित लेख, प्राचीन मूर्तियाँ, कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ एवं शास्त्रास्त्रों का अच्छा संग्रह है । जैन मूर्तियों की संख्या भी पर्याप्त है । अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण सभी पर जो लेबिल लगे हैं, वे इन्हें बौद्ध ही घोषित करते हैं । स्वतंत्र भारत के अजायबघर में ऐसे क्यूरेटर न होने चाहिए जो स्वयं वहाँ के योग्य न हों । उन्होंने मेरे कहने से परिवर्तन तो कर दिया पर अजैन सैकड़ों अवशेषों पर गलत नाम लगे हैं । उदाहरण स्वरूप नृसिंहावतार को **“सिंहेश्वर देव”** फण्युक्त पार्श्वनाथ को **“सर्पेश्वर देव”** आदि ।

रीवाँ संग्रहालय के जैन अवशेष इस प्रकार हैं —

संख्या ४-की मूर्ति २७ इंच लम्बी २६ इंच चौड़ी प्रस्तर की शिला पर भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा अर्द्धपद्मासनस्थ अंकित है, मस्तक पर घुँघुरवाले जैसी आकृति कलाकार ने बतलाई है । लम्बे कर्णा, गले की रेखाएँ प्रेक्षक को आकृष्ट कर लेती हैं, छाती पर छोटी-मोटी टाँकी की मार दिखाई पड़ती है । मुख पूर्णतः खंडित तो नहीं है, पर इस प्रकार से जर्जरित हो गया है कि किसी भी प्रकार के भावों की कल्पना नहीं की जा सकती है । हाथों की कुछ उँगलियाँ भी खंडित व दक्षिण चरण भी खंडित है । आकृति से अनुमान यही होता है कि खुदाई करते समय टूट गये होंगे । प्रतिमा के मस्तक पर सप्तफण युक्त नाग है । फणें सभी टूट गई हैं । कलाकार ने सर्पाकृति को बैठक के नीचे से शुरु की है, क्योंकि लांछन के स्थान पर पूँछ का भाग बहुत ही स्पष्ट है । जिस आसन पर प्रतिमा विराजमान है, वह चौकी का स्मरण कराता है, उभय भाग में पार्श्वद है, जिनके मुख खंडित हैं । उभय भाग पार्श्वद कमल एवं लम्बे चम्मर लिये खड़े हैं । तदुपरि दोनों ओर देव-देवी पुष्पमाला लिये एवं



नमस्कारात्मक मुद्रा में बतलाये गये हैं। तदुपरि दोनों हस्ती इस प्रकार से शूंड मिलाये खड़े हैं, मानो इन्हीं की शूंडो पर मध्य भाग का छत्र आधृत हो। निम्न भाग में उभय ओर ग्राह ऐसे बताये हैं कि उनके मस्तक पर ही सारी प्रतिमा का भार लदा है। दोनों ग्राहों के बीच पद्मावती की छोटी मूर्ति अंकित है। प्रतिमा का निर्माण काल १२वीं शताब्दी के पूर्व तथा १३वीं शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता। पत्थर साधारण है। प्रस्तुत प्रतिमा पर परिचयपत्र है, जिसमें यह बुद्ध भगवान की प्रतिमा कही गई है।

संख्या ५-लम्बी ५६ इंच चौड़ी २६ इंच है। यह प्रतिमा जैन मूर्ति-कला का सुंदर प्रतीक है। अन्य मूर्तियों की अपेक्षा भिन्न भी है। कम से कम मेरी दृष्टि में ऐसी मूर्ति आज तक नहीं आई। कला की दृष्टि से तो अनुपम है ही, साथ ही साथ प्रतिमा विधान की दृष्टि से भी विलक्षण है। शब्द चित्र इस प्रकार है —

ऊपर सूचित विस्तृत पत्थर शिला के मध्य भाग में जिन प्रतिमा उत्कीर्णित है। मस्तक पर के बाल आदि चिह्न संख्या ४ वाली मूर्ति के अनुरूप होते हुए भी पोलिस होने के कारण वह सुंदर जान पड़ती है। पार्श्वद कलात्मक ढंग से खड़े किये गये हैं, उनका मस्तक पर का केश विन्यास प्रेक्षणीय है। और तीर्थकरों की प्रतिमाओं में पार्श्वद जिस प्रकार खड़े किये जाते हैं, उनमें और इनमें थोड़ा अंतर है। इस परिवर्तन में पार्श्वद बिलकुल तीर्थकर के सामने इस प्रकार मुखमुद्रा बनाये हुए खड़े हैं, मानो वे सेवा के लिए तत्पर हों। भाव भंगिमा भक्ति के अनुरूप है। पार्श्वद के पिछले हिस्से में बैठा हुआ हस्ती आवेश में आकर, इस प्रकार अपनी शूंड ऊंची किये हुए है और ग्राह के पूँछ को दबाये हुए है, मानो शूंड के बल पर ही वह खड़ा है। खास करके शेर का शारीरिक चित्र इस प्रकार खींचा है, कि मानो वह हाथी शूंड शिथिल होते ही गिर पड़ेगा। मूर्ति अर्द्धपद्मासनस्थ है। हाथ और चरण का कुछ भाग खंडित है। इस मूर्ति का आसन भी कुछ अनोखेपन को लिये है और जितनी भी प्रतिमाएँ मैंने देखीं उन सभी का आसन उतना चौड़ा है जितने में वह पलथी मारकर बैठ सके, परंतु इसका आसन ऐसा बना है मानो वह टिकने के स्थान से, अतिरिक्त स्थान चाहती ही न हो। अर्थात् दोनों ओर के घुटने आसन से काफी आगे निकले हुए हैं। आसन की बनावट भी और प्रतिमाओं से अधिक सौन्दर्यसम्पन्न है।

इसके निर्माण में कलाकार ने तीन भाव बताये हैं। प्रथम - एक चौकी



निम्न भाग के विशाल ग्राह के सर पर आधृत बताई है, साथ ही साथ ग्राह की गर्दन के पास दो छोटे स्तम्भ भी बना दिये गये हैं, जो ऊपर की चौकी को थामे हुए हैं। चौकी के अगले भाग पर साधारण रेखाएँ हैं। इसके ऊपर एक वस्त्र छिपा हुआ है, जिसका अग्र भाग दो स्तंभों के बीच सुशोभित है। वस्त्र की उठी हुई विभिन्न रेखाएँ इस बात की कल्पना कराती हैं कि जरी या किसी से भरा हुआ है। मध्य में शंख का चिह्न स्पष्ट है। इसी वस्त्र के ऊपर दो इंच मोटी गद्दी जैसा आकार बना है इसी पर मूल प्रतिमा विराजमान है। इस प्रकार के आसन की कल्पना बहुत कम दृष्टिगोचर होती है।

अब प्रतिमा के दोनों ओर जो विचित्र मूर्तियाँ उत्कीर्णित हैं, उन्हें भी देखें। दाईं ओर निम्नभाग में एक महिला हाथ जोड़े वन्दना कर रही है। महिला का मुख बहुत चपटा बनाकर कलाकार ने न्याय नहीं किया। बाजू-बन्द आदि आभूषणों के साथ सुंदर नागावली बनी हुई है। केश-विन्यास १३ वीं शताब्दी के अन्यावशेषों से मिलता-जुलता है। इस मूर्ति के ऊपर एक खंडित प्रतिमा अवस्थित है। इसका पेट आवश्यकता से अधिक फूला हुआ है। गलें में आभूषण, कटिप्रदेश में संकल एवं बाएँ हाथ में सर्प दिखलाई पडते हैं। मस्तक का पूर्ण भाग तथा दाएँ हाथ और पैर का भाग खंडित है। यह मूर्ति निःसंदेह कुबेर की ही होनी चाहिए। कारण कि कुबेर की इस प्रकार की प्रतिमाएँ अन्य जैन मूर्तियों में दिखाई पडती हैं।

मूल नेमिनाथ भगवान की प्रतिमा में दोनों स्कन्धप्रदेशों के निकटवर्ती भाग में आकाश में उमडते हुए गन्धर्व पुष्पमाला लिये उठे हुए बतलाये गये हैं। तदुपरि दोनों ओर अन्य मूर्तियों के अनुसार हाथी खडे हुए हैं, जो मध्यवर्ती छत्र को थामे हुए होंगे। छत्र का भाग खंडित है, केवल दंड दिखलाई पडता है। दोनों हाथियों के पीछे करीब ६, ६ इंच की खड्गासन में जिनप्रतिमा खुदी हुई है। दायीं ओर तो किसी तीर्थंकर की मूर्ति लगती है, परंतु इस प्रकार की बायीं ओर जो मूर्ति है, वह आकृति में कुछ अधिक लम्बी है, हाथ घुटने तक लगे हैं। प्रतिमा के शरीर के उभय भाग में दो रेखाएँ एवं हाथों में कुछ रेखाएँ दिखलाई पडती हैं। जहाँ तक मेरा अनुमान है, यह मूर्ति बाहुबली^१ स्वामी की ही होनी

१. महाकोसल में भी दर्जनों ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें गोम्मत स्वामी का अंकन पाया जाता है। उन दिनों यात्रा की कठिनाइयों के कारण भक्तगण अपनी भक्ति के निमित्त किसी भी तीर्थंकर की प्रतिमा के परिकर में बाहुबली स्वामी का प्रतीक खुदवा लेते होंगे।



चाहिए। कारण कि दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में इसका स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। दूसरा यह भी कारण दिखलाई पड़ता है, कि उपर्युक्त मूर्ति तीर्थंकर की तो हो ही नहीं सकती, कारण २४ ही के हिसाब से भी वह अलग पड़ जाती है। जैसे कि नेमिनाथ भगवान को छोड़कर अतिरिक्त २३ जिन-मूर्तियाँ और खुदी है। हाथी और छत्र के ऊपर के भाग में पंक्तियों में पद्मासनस्थ जैन-मूर्तियाँ हैं। छत्र के उभय ओर ३, ३ और ऊपर की दो पंक्तियाँ ८, ८ मूल प्रतिमा के मस्तक के पश्चात् भाग में प्रभावली के स्थान पर सुंदर खुदाई का काम पाया जाता है। अब हम बाह्य भाग की पार्श्वस्थ मूर्ति को भी देख लें। निम्न भाग से मूल प्रतिमा के घुटने तक १६॥ इंच की एक स्त्रीमूर्ति खुदी है। यह मूर्ति, मूर्तिविधान की दृष्टि से बहुत ही सुडौल और आकर्षक बनी है। मस्तक पर एक वृक्ष बताकर कलाकार ने यह साबित करने की कोशिश की है कि प्रतिमा किसी वृक्ष की छाया में खड़ी है। वृक्ष का बायाँ भाग एवं मूर्ति का बायाँ भाग खंडित है। स्त्री-मूर्ति का केशविन्यास मस्तक पर बंधा हुआ है। गले में मालाएँ एवं कटिप्रदेश विभिन्न अलंकरणों से अलंकृत है। नाभिप्रदेश बहुत स्पष्ट है।

कलाकार ने इस प्रतिमा का निर्माण ऐसे मनोयोग से किया है कि वह साक्षात् स्त्री ही का आभास कराती है। प्रतिमा का खड़े रहने का ढंग, ऊँचे से कमर तक सीधा, बायाँ पैर आगे और कटिप्रदेश बाईं ओर झुकने के कारण स्तन एवं कटिप्रदेश के मध्यभाग में रेखाएँ पड़ गई हैं। मूर्ति के दाहिने हाथ में आम्रलुम्ब है, परंतु बायें हाथ में क्या था, यह नहीं कहा जा सकता। दायें चरण के निम्नभाग में एक बालक हाथ में मोदक लिये बैठा है। बायें चरण के पास भी एक आकृति ऐसी दिखाई पड़ती है, जो बालक की प्रतिमा ज्ञात होती है, क्योंकि बालक के कटिप्रदेश का पृष्ठभाग बहुत स्पष्ट है। मालूम पड़ता है, वह माँ से खेल रहा हो, इस मूर्ति के निम्न भाग में आवेशयुक्त मुद्रा में शेर पूँछ उठाकर बैठा है, और एक स्त्री सामने हाथ जोड़े नमस्कार कर रही है, यद्यपि शेर के सामनेवाला भाग बहुत छोटा-सा और कुछ अस्पष्ट है, परंतु केश विन्यास और स्तनप्रदेश बहुत स्पष्ट है। इन पंक्तियों से पाठक समझ ही गये होंगे कि उपर्युक्त वृक्ष की छाया में खड़ी हुई मूर्ति अंबिका की ही है। वृक्ष आम्र का है, आम्रलुम्ब स्पष्ट है। दो बालक और सिंह, ये समस्त उपकरण अंबिका को ही सिद्ध करते हैं।

अंबिका की मूर्तियाँ स्वतंत्र और परिकरों में बहुत-सी दृष्टिगोचर हुई हैं,



परंतु इस प्रकार की प्रतिमा अद्यावधि मेरे अवलोकन में नहीं आई । संपूर्ण प्रतिमा शिल्पकला की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, साथ ही साथ जैनमूर्ति विधान की दृष्टि से भी विविधता को लिये हुए है । इतने विवेचन के बाद प्रश्न रह जाता है कि इस मूर्ति का निर्माणकाल क्या हो सकता है ? क्योंकि निर्माता और निर्मापक ने इसके निर्माणकाल के संबंध में कुछ भी सूचित नहीं किया, तथापि अन्यान्य साधन और उपकरणों से इसका काल १२वीं सदी के पूर्व और १३वीं सदी के बाद का नहीं मालूम पड़ता, प्रथम कारण तो यह है कि मूर्ति का आसन एवं विभिन्न देव गन्धर्व आदि जो आभूषण पहने हुए हैं, वे सभी उपर्युक्त सूचित समय के अन्य अवशेषों में दिखलाई पड़ते हैं । उसके केशविन्यास भी लगभग इसी समय के हैं, और दूसरा कारण यह कि इसमें कुबेर की मूर्ति दिखलाई गई है, यह १३वीं शताब्दी तक की जैन मूर्तियों में पाई जाती है, बाद की बहुत कम ऐसी मूर्तियाँ मिलेंगी, जिनमें कुबेर का अस्तित्व हों । अंबिका का जैसा रूप इस मूर्ति में व्यक्त हुआ है, वैसा अन्यत्र भी जैसे खजुराहो, देवगढ़ आदि की मूर्तियों में पाया जाता है । उन मूर्तियों में इस टाइप की अंबिकावाली मूर्तियों का काल १२ से १३वीं शताब्दी का मध्य भाग पड़ता है । यह अंबिका का रूप दिगम्बर जैन शिल्पग्रन्थों के अनुसार ही है । मूर्ति में व्यवहृत पाषाण भी १२, १३वीं सदी की शिल्पकृतियों का है । मूर्ति के आसन के निम्न भाग में दो स्तम्भ दिखाई पड़ते हैं, वे भी काल निर्णय में बहुत सहायता करते हैं ।

१२वीं से १४वीं सदी के बुन्देल और बघेलखंड के मंदिरों के स्तम्भ जिन्होंने देखे होंगे, वे कह सकते हैं कि इस प्रतिमा में व्यपहत स्तम्भ भी हमारे ही काल के सूचक हैं । पाषाण भी कुछ ललाई को लिये हुए है, जैसा कि खजुराहो, देवगढ़ आदि के शिल्प में पाया जाता है ।

संख्या ६-की जैन प्रतिमा की संपूर्ण आकृति देखने से ज्ञात होता है कि वह किसी जैन मंदिर के गवाक्ष में रही होगी क्योंकि दोनों ओर खम्भे, तत् पश्चात् पार्श्वद, मध्य में खड़ी नग्न जैन मूर्ति, दाईं ओर पुष्पमाला लिये गन्धर्व, बायाँ भाग काफी खंडित है । समय १५वीं सदी का ज्ञात होता है । यह मूर्ति मस्तकविहीन है । लंबाई १५ इंच चौड़ाई ११। इंच है ।

संख्या ३२-लंबाई १३। चौड़ाई १७, यह किसी जैन मूर्ति का परिकर प्रतीत होता है । आजू बाजू पार्श्वद और दोनों ओर ३, ४ मूर्तियाँ खड्गासन पद्मासन । दायाँ ऊपर का कुछ भाग खंडित है । कला की दृष्टि से अति



साधारण है ।

संख्या ८८-प्रस्तुत अवशेष किसी जैन मंदिर के तोरण का है, मध्य भाग में तीर्थंकर की मूर्ति ४॥ इंच की है, आजू बाजू परिचारिकाएँ चामर के लिए अवस्थित है ।

संख्या १२७-२६ × १६॥ इंच । प्रस्तुत प्रतिमा संयुक्त है । एक वृक्ष की छाया में दाईं ओर यक्ष और बाईं ओर दाईं गोद में बच्चा लिये एक यक्षिणी अवस्थित है, दोनों के चरणों में स्त्री-पुरुष बैठे हैं । यक्ष एवं यक्षिणियों के आभूषण और वस्त्र इतने स्पष्ट हैं कि तादृश वस्तुस्थिति उत्पन्न कर देते हैं । यक्ष के मुख का कुछ भाग और मुकुट अजन्ता के चित्रकला का सुस्मरण कराता है । दोनों के दायें-बायें स्कन्धप्रदेश के पास कमलासन पर स्त्रियाँ हाथ जोड़े बैठी हैं । वृक्ष के मध्य भाग में जिनमूर्ति अवस्थित है, यह गोमेध यक्ष अंबिका और नेमिनाथ क्रमशः है । मूर्ति का निर्माणकाल १२वीं सदी के बाद का नहीं हो सकता, क्योंकि पालकालीन शिल्पकला मूर्ति के अंग-अंग पर विकसित हो रही है । उपर्युक्त मूर्ति के समान ही कुछ परिवर्तन के साथ १२७ वाली मूर्ति से मेल खाती है । दोनों की एक ही संख्या है ।

संख्या ६९-की प्रतिमा एक देवी की है, जो आम्रवृक्ष के नीचे सिंह पर सवारी किये हुए, बायीं गोद में एक बच्चा लिये बैठी है । दायीं ओर एक बालक खड़ा है । मानों आम्र पंक्तियों के बीच तीर्थंकर की मूर्ति है ।

संख्या ४२-की प्रतिमा ५२ इंच लम्बी और २२ इंच चौड़ी है । भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा खड्गासनस्थ है । दोनों हाथ एवं दायाँ पैर अधिक और कुछ बायाँ खंडित है । दोनों ओर चरण के पास श्रावक, श्राविका, पार्श्वद तदुपरि दोनों ओर पद्मासनस्थ दो-दो जैन मूर्तियाँ हैं । ऊपर के भाग में सप्तकरण के चिह्न बने हुए हैं, निम्न भाग में दायीं बायीं ओर क्रमशः यक्ष, यक्षिणी, धरणेन्द्र पद्मावती विद्यमान हैं ।

संख्या ९०-यह भी किसी जैन मंदिर के तोरण का अंश है, मूर्ति प्रायः खंडित है । अशोक वृक्ष की छाया में अवस्थित है ।

संख्या ९५-यह भी है तो किसी तोरण का अंश ही, पर उपर्युक्त अवशेषों से प्राचीन है । मध्यभाग में तीर्थंकर की मूर्ति, बाजू के ऊपरी भाग में चतुर्भुजादेवी मनुष्य पर सवारी किये हुए अवस्थित है । समय अनुमानतः १३ वीं सदी है ।

संख्या ४४-की प्रतिमा की लम्बाई २९ इंच, चौड़ाई १५॥ इंच है । शिला पर स्त्रीमूर्ति चतुर्मुखी खुदी हुई है । दायां हाथ आशीर्वाद स्वरूप, ऊपर का गदा लिये और बायें निम्न हाथ में शंख और ऊपर के हाथ में चक्र इस प्रकार चारों हाथ स्पष्ट है । मूर्ति का वाहन कोई स्त्री का है । क्योंकि पिछले भाग में केशविन्यास स्पष्ट दिखाई देता है । वाहन के दोनों ओर श्रावक-श्राविकाएँ वन्दना कर रही हैं । मूल देवी की प्रतिमा हँसली, माला, जनेऊ धारण किये हुए हैं, परंतु सभी में नागावली ने मूर्ति का सौंदर्य बहुत अंशों में बढ़ा दिया है । देवी के मस्तक पर पद्मासनस्थ तीर्थंकरप्रतिमा दिखलाई पड़ती है । दोनों ओर गन्धर्व पुष्पमाला लिये हुए खड़े हैं । इस प्रतिमा में व्यवहृत पाषाण **शंकरगढ़** की तरफ का है । ऐसा सुपरिण्टेण्डेंट ऑफ म्यूजियम के कहने से ज्ञात हुआ है । निर्माण काल १२ वीं सदी का ज्ञात होता है । काल की दृष्टि से यह मूर्ति अनुपम है ।

संख्या ४७-की मूर्ति सर्वथा ४२ के अनुरूप ही है, बहुत संभव है कि किसी मन्दिर के तीर्थंकर के पार्श्ववर्ती रही हो । इसके ऊर्ध्व भाग में उभय ओर हाथी के चित्र स्पष्ट रूप से अंकित हैं ।

संख्या ४९-लंबाई ५२ इंच चौड़ाई २९ इंच की प्रस्तर शिलाकर अष्टप्रातिहार्य युक्त जिनप्रतिमा खुदी हुई है । इसके दायें बायें घुटने एवं हाथों की उँगलियों का कुछ भाग खंडित है । मस्तक पर सप्तफण दृष्टिगोचर होते हैं । कलाकार ने बायीं ओर सर्पपुच्छ, दायीं ओर एक चक्कर लगवाकर इस प्रकार मस्तक के ऊपर चढ़ा दी है, मानो सर्प के ऊपर ही गोलाकार आसन पर मूर्ति अवस्थित हो । उभय ओर के पार्श्वद लम्बे बालवाले चमर लिये खड़े हैं । पार्श्वद बुरी तरह से खंडित हो गये हैं । नहीं कहा जा सकता कि उनके अन्य हाथों में क्या था । पार्श्वद के दायें और बायें हाथों के पास क्रमशः स्त्री की आकृतियाँ अंकित हैं, वे इतनी अस्पष्ट हैं कि निश्चित कल्पना नहीं की जा सकती कि वे किससे संबंधित हैं । तदुपरि दक्षिण भाग पर एक कमलपत्रासनोपरि दो बालक एक ही स्थान पर एक ही आकृति के हैं । इन

१. यह शंकरगढ़ यही होना चाहिये, जो उचहरा से कुछ मील पर अवस्थित है । और यहां पर भी जैन पुरातत्त्व के अतिरिक्त और भी कलात्मक साधन-सामग्री प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती है । एक शंकरगढ़ प्रयाग से २८ मील पर है । यहां पर भी पुरातन मूर्तियाँ एवं एक मंदिर है । परंतु यहां उल्लिखित शंकरगढ़ यह प्रतीत नहीं होता ।



दोनों के बायें हाथ अभय-मुद्रा सूचक और दायें हाथ में कुछ फल लिये हुए हैं, ठीक ऐसी ही आकृति बायीं ओर भी पायी जाती है। नहीं कहा जा सकता कि दोनों ओर इन चार मूर्तियों का क्या अर्थ है। उपर्युक्त प्रतिमाओं के ऊपर की ओर फण के दोनों ओर युगल गन्धर्व पुष्पमाला लिये एवं किन्नरियाँ हाथ जोड़े उड़ती हुईं नजर आती हैं। दोनों के मस्तक खंडित हैं। इनके ऊपर छोटी-सी चौकियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिन पर आमने-सामने दो हाथ परस्पर शुण्ड मिलाये खड़े हैं। अन्य प्रतिमाओं के अनुसार इसमें भी छत्र को अपनी शुण्डों के बल पर थामे हुए हैं। अन्य मूर्तियों में जो हस्ती पाये जाते हैं, वे प्रायः निर्जन होते हैं। परंतु प्रस्तुत प्रतिमा में जो हाथी हैं, उन पर एक-एक मनुष्य आरूढ़ हैं। यद्यपि उन दोनों के धड खंडित कर दिये गये हैं, तथापि चरण भाग स्पष्ट है। दोनों हाथियों के पृष्ठभाग में १, १ स्त्री का मस्तक दिखलाई पड़ता है।

अब प्रतिमा के निम्न स्थान को भी देख लें। ऊपर ही सूचित किया जा चुका है कि कलाकार ने सर्पासन बना दिया है, परंतु वह सर्प भी गोलाकृति एक चौकी जैसे स्थान पर बना हुआ है, जिसको दोनों ग्राह थामे हुए हैं। दायें भाग के ग्राह के निम्न भाग में एक भक्त करबद्ध अंजलि किये हुए अवस्थित है। बायीं ओर भी स्त्री या पुरुष की जैसी ही आकृति रही होगी, जैसा कि अन्य प्रतिमाओं में देखा जाता है, परंतु यहाँ तो वह स्थान ही खंडित कर दिया गया है। मध्य प्रतिमा के निम्न भाग में चतुर्भुज देवी उत्कीर्णित है। इनके दाहिने हाथ में चक्र या कमल दिखाई पड़ता है, स्थान बहुत घिस जाने के कारण निश्चित नहीं कहा जा सकता कि क्या है। दाहिना दूसरा हाथ वरद मुद्रा को सूचित करता है। बायाँ हाथ सर्वथा खंडित होने से नहीं कहा जा सकता है कि उसमें क्या था। स्त्री की इस प्रतिमा को पद्मावती ही मान लेना चाहिए। कारण कि वही पार्श्वनाथ की अधिष्ठाता देवी है। इसके बायीं ओर हाथ जोड़े एक भक्त दिखलाई पड़ता है, इसके ऊपर भी तीन नागफण दृष्टिगोचर होते हैं। बायीं ओर अधिकतर भाग खंडित हो गया है। परंतु घुटने का जितना हिस्सा दिखता है, उस पर से कल्पना की जा सकती है कि दायीं ओर जैसी ही बायीं ओर भी रही होगी। इस प्रतिमा का कला की दृष्टि से विशेष महत्व न होते हुए भी विधान वैविध्य की दृष्टि से कुछ महत्व तो है ही। निर्माणकाल १४ वीं शताब्दी के बाद का ही प्रतीत होता है।

अजायब घर प्रवेश करते ही बायीं ओर ४ अवशेष रखे हुए हैं जिनमें



खुदी है जो चतुर्मुखी है। चक्रेश्वरी के दायें ऊपरवाले हाथ में एवं नीचेवाला हाथ वरद मुद्रा में है, बाँया हाथ खंडित होनो के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें क्या था ? चक्रेश्वरी का वाहन स्त्रीमुखी ही है। इसमें भी बायीं ओर भक्त विराजमान है। उसके अतिरिक्त चारों मूर्तियाँ अष्टप्रातिहार्य युक्त है। चारों के भी भामंडल बहुत सुंदर बने हुए है। किसी किसी में प्रभा भी साफ है। एवं बिन्दु पंक्तियाँ दिखलाई पडती है। इस प्रकार के प्रभामंडल अंतिम गुप्तों के समय में बना करते थे। यद्यपि प्रस्तुत चतुर्भुजा मूर्ति प्राचीन तो नहीं जान पडती, परंतु लगता ऐसा है कि कलाकारने किसी प्राचीन जैन मूर्ति का अनुकरण किया है। मूर्ति के चारों ओर के निम्न भाग में ग्राह बने हुए है। मध्य में अर्द्ध चक्राकार धर्मचक्र के समान कुछ रेखाओं को लिये हुए है। पार्श्वदों के खडे रहने के कमलपुष्प सभी ओर एकसे है। चारों ओर चार स्तंभ भी बने है, जिनके सहारे पार्श्वद टिके हुए है। चौमुखों का ऊपरी भाग शिखर का है, जिसको पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग को घेरकर चारों ओर पंक्तियों के मध्यभाग में ४, ४, इस प्रकार २० पद्मासनस्थ प्रतिमाएँ दिखलाई पडती है, तदुपरि आमलक है।

यद्यपि प्रस्तुत अवशेष पूर्णतः अखंडित नहीं, क्योंकि कुछ एक स्थान तो स्वाभाविक रूप से पृथ्वी के गर्भ में रहने के कारण नष्ट हो गये है। एवं कुछ एक छैनी के शिकार भी बन गये है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह चौमुखी प्रतिमा किसी स्वतंत्र मंदिर में की है या बाह्य भाग की ? मेरे विनम्र मतानुसार तो उपर्युक्त अवशेष किसी मानस्तम्भ के ऊपर का हिस्सा लगता है, कारण कि दिगम्बर जैन संप्रदाय में जैन मंदिर के अग्रभाग में एवं विशेषतः तीर्थ स्थानों में मानस्तंभ निर्माण करवाने की प्रथा, मध्य काल में विशेष रूप से रही है। यदि वह मानस्तंभ का ऊपर के भाग का न होता तो, शिखरों एवं आमलक बनाने की आवश्यकता न पडती। ऊपर के भाग में मूर्तियाँ इसलिए बनाई जाती थी कि शूद्र दूर से दर्शन कर सकें। यह कल्पना क्लिष्ट-सी जान पडती है। इसका निर्माणकाल स्पष्ट निर्देशित नहीं है, एवं न पार्श्वद आदि गन्धर्व के आभूषण ही बच पाये है, जिनसे समय का निर्णय किया जा सके। अनुमान तो यही लगाया जा सकता है कि यह १४ वीं या १५ वीं शताब्दी की कृति होगी।

संख्या ३- लंबाई १०६ इंच, चौड़ाई ४६ इंच।

विस्तृत मटमैली शिला पर परिकर युक्त खड्गासन जिन-प्रतिमा

उत्कीर्णित है। कलाकार ने पार्श्वद एवं अन्य किन्नर किन्नरियों के प्रति कला की दृष्टि से जितना न्याय किया है, उतना मुख्य प्रतिमा में नहीं। प्रतिमा का मुख बुरी तरह से घिस डाला गया है। तथापि कुछ सौन्दर्य तो है ही, दोनों हाथ मूलतः खंडित हैं, मूर्ति के पैर विचित्र बने हैं, जैसे दो खम्भें खड़े कर दिये गये हों। शारीरिक विन्यास बिलकुल भद्दा है। मूर्ति की छाती में करीब ९ इंच लंबा ५ इंच चौड़ा चिकना गड्ढा पड़ गया है, ऐसा ही छोटा-सा गड्ढा दायाँ जाँघ में भी पाया जाता है। ज्ञात होता है कि उन दिनों लोग इस पर शस्त्र पनारते रहे होंगे, क्योंकि यह पत्थर भी उसके उपर्युक्त है। प्रतिमा के दोनों ओर पार्श्वद एवं ३३ किन्नरियाँ ध्वस्त दशा में विद्यमान हैं। बिलकुल निम्न भाग में दायाँ और बायाँ ओर क्रमशः स्त्री पुरुष दायीं घुटना खड़े किये, बाँया घुटना नवाये हुए, नमस्कार कर रहे हैं। पार्श्वद के मस्तक पर दोनों ओर खड़ी और बैठी इस प्रकार दो दो प्रतिमाएँ हैं। ऊपर दोनों ओर ५, ५ मूर्तियाँ हैं ३, ३ पद्मासनस्थ और दो दो खड्गासनस्थ, इसके बाजूपर हाथी दो पैर टिकाये एक एक अश्व दोनों ओर खड़े हुए हैं, जिसपर एक एक मनुष्य आरुढ़ हैं। अश्व भी सर्वथा स्वाभाविक मुद्रा में स्थित हैं। प्रतिमा के स्कन्ध प्रदेश की दोनों मकराकृतियाँ मुख में कमल दंड दबाये हुए हैं। बाजू में दोनों ओर पद्मासनस्थ मूर्ति है, इनकी बायाँ ओर दो खड्गासन एवं बायाँ ओर दो खड्गासन के बीच पद्मासनस्थ जिनमूर्ति है। भामंडल के निकटवर्ती का भाग खंडित हो गया है। इसके ऊपर एकाधिक किन्नर किन्नरियाँ पुष्पमाला लिये खड़े हैं। सभी के मस्तक खंडित हैं, अन्य मूर्तियों में जिस प्रकार छत्र थामें हस्ती बताये गये हैं, उस प्रकार इसमें भी रहे होंगे। निम्न भाग में दोनों ग्राह के बीच मकराकृति पायी जाती है, दायाँ ओर चतुर्भुजी देवी एवं बायाँ ओर यक्ष खड्ग लिये अवस्थित हैं। यह प्रतिमा किसी मंदिर की मुख्य रही होगी। कारण कि निर्माण विधान की दृष्टि से पर्याप्त वैविध्य है। यह प्रतिमा **महू तहसील प्योहारी** से लाई गई है। पार्श्वदों के हाथ के चामर प्रायः लंबे हैं।

संख्या १०३-ललाई लिये हुए पाषाण पर भगवान की मूर्ति उत्थितासन में उत्कीर्णित है, दोनों ओर पार्श्वद एवं निकटवर्ती खड्गासनस्थ मूर्तियाँ निम्नभाग में यक्ष-यक्षिणि अष्टप्रातिहार्य हैं।

संख्या ५७-की प्रतिमा पार्श्वनाथ भगवान की है।

व्यंकट सदन के अतिरिक्त गाँव में कई मकानों में जिन-मूर्तियाँ लगी हुई हैं। घोघर नदी के किनारे धर्मशाला के समीप पीपल वृक्ष के नीचे दो



सुंदर जिन-मूर्ति पडी है। लोगों ने इसे खैरमाई मान रखा है। 'बडी दइया' के जलस्रोत पर भी भगवान नेमिनाथजी की वरयात्रा का सुंदर प्रतीक पडा है। लोग इस पर वस्त्र धोते है। किले के गुर्गी तोरणद्वार वाले मार्ग पर भी जैन मंदिर के अत्यन्त कलापूर्ण स्तंभ, शौचालय बने है। कुंभ कलश के साथ स्पष्टतः प्रतिमा का भी अंकन है।

इस ओर जैनों के प्रति जनता का स्वाभाविक रोष भी है।

रीवाँ के मुख्य जैन मंदिर में भी विशालकाय जिन-प्रतिमा है। चित्र के लिए कोशिश करने के बावजूद भी सफल न हो सका। रीवाँ के समीप यदि गवेषणा की जाय तो और भी जैन अवशेष पर्याप्त मिल सकते है।

(२) रामवन

भारतप्रसिद्ध 'भरहूत' पहाड की तराई में उपर्युक्त आश्रम, प्रकृति के मुक्त वायु-मंडल में बना हुआ है। सतना से रीवाँ जानेवाले मार्ग में दंसवें मील पर पडता है। पुरातन शिल्प कला के अनन्य प्रेमी बाबू शारदाप्रसादजी ने ही इसे बसाया है। एक प्रकार से यह आश्रम प्राचीन परंपरा का प्रतीक है। यहाँ भारतीय मूर्तिकला पर नूतन प्रकाश डालनेवाली पुरातत्त्व की मौलिक सामग्री, पर्याप्त परिमाण में विद्यमान है। इसमें अधिकांश भाग वाकाटक तथा गुप्तकालीन है। इस संग्रह में कुछ प्रतिमाएँ जैनधर्म से संबद्ध भी है, जो मध्यकालीन जान पडती है। सौभाग्य से कुछ मूर्तियाँ सर्वथा अखंडित है। इन कलात्मक प्रतिमाओं का शब्द-चित्र इस प्रकार है :-

(१) २३" × २३" की रक्त प्रस्तर की शिला पर मस्तक पर फन धारण किये हुए, लंबशरीरी भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। मूर्ति निर्माण एवं वैविध्य दृष्ट्या मूल्यवान न होते हुए भी इसका शारीरिक विन्यास सापेक्षतः आकर्षक है। पार्श्वद को छोडकर परिकर आडम्बर शून्य है। इसका निर्माणकाल इतिहास के अनुसार मध्ययुग का अंतिम चरण होना चाहिए, क्योंकि मूर्ति-निर्माण कला का ह्रास इस से पूर्व शुरू हो गया था।

(२) २४" × १५" मटमैली शिला पर भगवान मल्लिनाथ का प्रतिबिम्ब खुदा हुआ है। जैसा कि निम्नोक्त कलश के चिह्न से स्पष्ट है। मूर्ति का मुख जितना सौम्य एवं सौन्दर्य की दृष्टि से उत्कृष्ट है, उतना ही शारीरिक गढन निम्नकोटि का है। कलाकार ने अपना कौशल न जाने मुखमण्डल तक



ही क्यों सीमित रखा। अष्टप्रातिहार्य एवं परिकर का अन्य भाग विन्ध्यप्रान्त में प्रचलित रचनाशैली के अनुसार है।

(३) २१" × १२" शिला पर केवल बारह प्रतिमाएँ खड्गासनस्थ दृष्टिगोचर होती है। इनमें ऋषभदेव का महान व्यक्तित्व अलग ही झलक उठता है। इस खंडित अवशेष से कल्पना की जा सकती है कि ऊपर के भाग में भी बारह मूर्तियाँ रही होंगी। कारण कि ऋषभदेव प्रधान चौबीसी एक ही शिलापट्ट पर खुदी हुई अन्यत्र भी उपलब्ध होती है। मूर्ति के निम्न भाग में गौमुख, यक्ष एवं चक्रेश्वरी की प्रतिमाएँ बनी हुई है। इसका प्रस्तर जसो में पाई जानेवाली कलाकृतियों से मिलता-जुलता है।

उपर्युक्त प्रतिमाओं के अतिरिक्त खण्डितप्रायः जैनावशेष वहाँ पर संगृहीत है, परंतु वे इतने ध्वस्त हो चुके हैं कि उन पर कुछ भी लिखा जाना संभव नहीं।

लखुरबाग और नचना की बची कुची सामग्री यहाँ पर संगृहीत है।

(३) जसो

अन्धकारयुगीन भारत के इतिहास पर प्रकाश डालनेवाली आंशिक सामग्री को सुरक्षित रखने का श्रेय इस भूभाग को भी मिलना चाहिए। वाकाटक वंश का एक महत्वपूर्ण लेख इसी के अंचल में है। **कनिंघम साहब** ने इस भू-भाग के स्थान को 'दरेदा' के नाम से संबोधित किया है, पर इसका वास्तविक स्थान 'दुरेहा' है जो जसो के निकट है। **खोह, नचना और भूभरा** यहीं से नजदीक पड़ते हैं। वाकाटक, भारशिव एवं गुप्तकाल में विकसित उत्कृष्ट शिल्प स्थापत्य एवं मूर्तिकला के उज्ज्वल प्रतीक आज भी भीषण अटवी में विद्यमान है। भारतीय इतिहास पुरातत्त्व एवं शिल्पकला की दृष्टि से इस भू-भाग का, बहुत प्राचीनकाल से ही, बड़ा महत्व रहा है।

जसो को यदि जैन मूर्तियों का नगर कहा जाय तो अनुचित न होगा। कारण कि आवश्यक कार्य के लिए प्रस्तर प्राप्त्यर्थ जहाँ कहीं भी जनता द्वारा खनन होता है, वहाँ जैन मूर्तियाँ अवश्य ही भूगर्भ से निकल पड़ती हैं। इन पंक्तियों का आधार केवल दन्तकथा नहीं है, परंतु मैंने स्वयं ही अनुभव किया है। गत जनवरी का तीसरा सप्ताह मैंने खोज के लिए जसों में ही व्यतीत किया था। उन दिनों खेतों की मेड़ पर लोग मिट्टी जमा रहे थे। आठ खेतों में



मैंने स्वयं देखा कि दो दर्जन से अधिक मूर्तियाँ दो दिन में ही जमीन से पाई गयीं। यहाँ न केवल जैन प्रतिमा ही उपलब्ध होती है, अपितु जैन मंदिरों के तोरण, नन्द्यावर्त, स्वस्तिक, अष्टमांगलिक एवं जैन शास्त्रों में वर्णित स्वप्नों के अतिरिक्त अनेक जैन कला के विभिन्न उपकरण भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि आज जसो में एक भी जैन का निवास नहीं है। परंतु इन उपलब्ध कलाकृतियों से सिद्ध है कि किसी समय यह जैनसंस्कृति एवं जैनाश्रित शिल्पस्थापत्य कला का प्रधान केन्द्र था। यहाँ से सैकड़ों जैन मूर्तियाँ युक्त प्रान्त एवं भारत के अन्यान्य संग्रहालयों में चली गयीं, और चली जा भी रही है। तथापि एक संग्रहालय-जितनी सामग्री आज भी वहाँ पर बिखरी पड़ी है। वहाँ की जनता मूर्तियाँ बाहर ले जाने में इसलिए कुछ नहीं कहती, कि उन्हें विश्वास है कि जब चाहें, जमीन से मूर्तियाँ निकाल लेंगे। मूर्ति बाहुल्य के कारण, जितना दुरुपयोग वहाँ की जनता द्वारा हुआ या स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो भारतीय मूर्तिकला का जितना नाश, अज्ञानतावश यहाँ की जनता ने किया, उतना दुस्साहस अन्यत्र संभवतः न हुआ हो। आँखों से देख एवं कानों से सुनकर असह्य परिताप होता है।

किसानों के शौचालय से एक दर्जन से अधिक जैन मूर्तियाँ मैंने उठवाई होंगी। नालों पर कपड़े धोने की शिला के रूप में एवं सीढियों में, जैन मूर्तियों का प्रयोग आज भी हो रहा है। जसो की गली-गली में भ्रमणकर मैंने अनुभव किया कि प्रायः प्रत्येक गृह के निर्माण में किसी न किसी रूप में प्राचीन कला-कृतियों का ऐच्छिक उपयोग हुआ है। इनमें अधिकांश जैनाश्रित कला के ही प्रतीक हैं। दर्जनों जैन मूर्तियाँ 'खैरमाई' के रूप में पूजी जाती हैं। कई गृहों में 'प्रहरी' का कार्य जैन मूर्तियों को सौंपा गया है। सबसे बड़ा अत्याचार वहाँ की जैन कलाकृतियों पर तब हुआ था जब जसो के कथित महाराज जीवित थे। जसो से 'दुरेहा' जानेवाले मार्ग पर समीप ही विशाल स्वच्छ जलाशय है। इसके किनारे पर आज से करीबन पंद्रह वर्ष पूर्व एक हाथी की मृत्यु हो गयी थी। वहीं पर विशाल गर्त खोदकर हाथी को गडवाया गया, और गढे की पूर्ति के रूप में जसो की बिखरी हुई प्राचीन कलाकृतियाँ, जिनका उन दिनों के शासक की दृष्टि में पत्थरों से अधिक मूल्य न था, डाल दी गई। इनमें अधिकांशतः जैन मूर्तियाँ ही थीं, जैसा कि 'नागौद' के भूतपूर्व दीवान तथा पुरातत्त्व प्रेमी श्री भार्गवेन्द्रसिंहजी 'लाल साहब' के कहने से ज्ञात होता है। लाल साहब नागौद एवं जसों की एक-एक इंच भूमि से परिचित हैं एवं



पुरातत्त्व की, कहाँ पर कौन सी सामग्री है ? आपको भलीभाँति मालूम है । मेरी भी आपने बड़ी मदद की थी ।

जसों में यों तो अनेकों जैन प्रतिमाएँ होने का उल्लेख ऊपर आ चुका है, परंतु उन सभी का अलग-अलग उल्लेख न कर केवल उन्हीं प्रतिमाओं की चर्चा करना उपयुक्त होगा, जो सामूहिक रूप से एक ही स्थान पर एकत्र है ।

कुछ जैन मूर्तियाँ

राज-भवन के निकट “जालपादेवी” का एक मंदिर है । इसके हाते में बहुसंख्यक जैन प्रतिमाओं के अतिरिक्त मानस्तंभ और मंदिरों के अवशेष पड़े हुए हैं । प्रायः सभी कथई रंग के पत्थरों पर उत्कीर्णित हैं । मंदिर की दीवाल के पीछे तथा बाजार की ओर भी कुछ मूर्तियाँ सजाकर रख छोड़ी हैं । परंतु सभी मूर्तियाँ जिस रूप में खंडित दीख पड़ती हैं, उससे तो यही ज्ञात होता है कि समझपूर्वक इनका सौन्दर्य विकृत कर दिया गया है । कुछेक पर सिन्दूर भी पोत दिया गया है । इन मूर्तियों में अधिकतर भगवान आदिनाथ और पार्श्वनाथ की हैं । कुछ पद्मासन हैं, कुछ खड्गासन । भगवान आदिनाथ और श्रमणभगवान महावीर की दो अद्भुत एवं अन्यत्र अनुपलब्ध प्रतिमाएँ इसी समूह में हैं । इनकी विशेषता निबंध की भूमिका में आ चुकी है । अतः पिष्टपेषण व्यर्थ ही है ।

मंदिर से लगा हुआ छोटा-सा मकान है । इसमें संस्कृत पाठशाला के छात्र रहते हैं । इसकी दीवाल में अत्यंत कलापूर्ण ६ जैन मूर्तियाँ लगी हुई हैं । कुछेक मूर्ति-विधान की दृष्टि से अनुपम एवं सर्वथा नवीन भी हैं । प्रति वर्ष इन पर चूना पोता जाता है । ०.५ इंच से ऊपर चूने की पपडियाँ तो मैंने स्वयं उतारी थी । वहाँ के एक मुसलमान कारीगर से ज्ञात हुआ कि ऐसी कई मूर्तियाँ तो हमने गृह-निर्माण में लगा दी हैं । और इनके मस्तकवाले भाग की पथरियाँ अच्छी बनती हैं, अतः हम लोगों को ऐसी गढ़ी गढ़ाई सामग्री काफी मिल जाती है ।

जालपादेवी के मंदिर में प्रवेश करते ही, सामनेवाले चार अवशेष दृष्टि आकृष्ट कर लेते हैं । इनमें तीन तो जैन हैं, एक वैदिक । मुझे ऐसा लगता है कि तीनों अवशेष भिन्न न होकर एक ही भाव के तीन पृथक् अंश हैं । इसमें जो भाव बतलाये हैं, वे अन्यत्र मिलते तो हैं, पाषाण पर नहीं परंतु चित्रकला में । तीर्थंकर महाराज की यात्रा का भाव परिलक्षित होता है । सर्वप्रथम



बहुलता है। नालों पर भी तीन छोटी-सी मूर्तियाँ, लोगों के आराध्य देवता माने जाते हैं। प्रति दिन काफी लोग जल चढ़ाने के लिए आते हैं। जनता का विश्वास है कि बिना इनको प्रसन्न रखे कोई काम की सिद्धि नहीं होती। इतनी गनीमत है कि ये देवता सिंदुर से अलंकृत नहीं हुए, पर वस्त्रों से तो भूषित कर ही दिये गये हैं। ये तीनों मूर्तियाँ क्रमशः शान्तिनाथ, मल्लिनाथ और नेमिनाथ की हैं।

यहाँ से हमलोग तालाब की ओर जाना चाहते थे, इतने में किसी काछी ने सूचित किया कि मेरे बगीचे में भी पुरानी प्रतिमाएँ हैं, चाहें तो आप लोग पूजा के लिए ले जा सकते हैं। इस बगीचे में चारों ओर घने वृक्षों में किसी मंदिर के स्तंभों की किचक आकृतियाँ हैं। ये ४॥ फुट से कम लंबे-चौड़े न होंगे, परंतु न जाने कितनी शताब्दियों से यहाँ पर हैं, कारण कि ३ अंश तो वृक्षों की जड़ों में इस प्रकार गुँथ गये हैं, कि उनको सरकाना तक असंभव है।

राम मंदिर

जसो में प्रवेश करते ही प्रथम राममंदिर आता है। इसके प्रवेश द्वार पर ही सयक्षदम्पती नेमिनाथ भगवान की मूर्ति अधिष्ठित है। इसके दोनों ओर खड्गासन भी है। रक्तप्रस्तर पर उत्कीर्णित है। प्रतिमा सर्वथा अखण्डित है। गत वर्ष किसी ठाकुर के मकान से यह प्रतिमा उपलब्ध हुई थी और बाबाजी ने यहाँ लगवा दी। मंदिर के निकट एक नाला पडता है। इस पर भी पार्श्वनाथ खड्गासन में है।

कुमारमठ

गाँव से कुछ दूर कुहडाडामठ नामक एक विशाल मंदिर है, संभवतः यह कुमारमठ ही होना चाहिए। यहाँ पर विस्तृत फैली अमराई है। सघन जंगल का बोध होता है। यहाँ पीपल के नीचे बहुत से अवशेष सुरक्षित हैं, इसमें जैन प्रतिमाएँ भी प्रयाप्त हैं। यह मंदिर नागर शैली का है। कहा जाता है कि इसमें कोई शिलोत्कीर्णित लेख भी है। पर मुझे तो दृष्टिगोचर हुआ। मठ में कुछ टीले हैं। संभव है खुदाई करने पर कुछ और भी पुरातत्त्व की सामग्री मिले। मठ के पास एक वृक्ष के निम्न भाग में भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा पड़ी हुई है। इसे 'खैरमाई' करके लोग पूजते हैं। कोई भी व्यक्ति इसे स्पर्श नहीं कर सकता, दूर से ही पुष्पादि चढ़ा देते हैं। पूर्व तो यहाँ पर बलि तक चढ़ाई

राजमंदिर के पास से एक मार्ग नाले पर जाता है, वहाँ सुनार के गृह के अग्रभाग में जैन प्रतिमाओं का समूह विद्यमान है। आगे चलने पर पुरानी दीवाल के चिह्न मिलते हैं। इंट भी गुप्तकालीन-सी जँचती है। इसी पर बस्ती बस गई है।

जसों में इतनी विस्तृत जैन कलात्मक सामग्री बिखरी पड़ी है, यदि यहाँ पर पुरातत्त्व विभाग द्वारा खुदाई कराई जाय तो और भी पुरातनावशेष निकलने की पूर्ण संभावना है। जैन पुरातत्त्व के प्रधान केन्द्र के रूप में जसो कब तक विख्यात रहा, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परंतु अवशेषों से इतना तो कहा ही जा सकता है कि १५-१६ शती तक तो रहा ही होगा। कारण कि १२ शती से लगाकर १६ शती तक के जैनावशेष उपलब्ध होते हैं। यहाँ की अधिकतर सामग्री “एन्थ्रॉप मोन्यूमेन्ट प्रिजर्वेशन एक्ट” द्वारा अधिकृत नहीं की गई है, यदि कला प्रेमी इनकी समुचित व्यवस्था करें तो आज भी अवशिष्ट सामग्री चिरकाल तक सुरक्षित रह सकती है। वर्ना अवशिष्ट अवशेषों से भी हाथ धोना पड़ेगा। कारण कि जिसे आवश्यकता होती है, वह उनका उपयोग आज भी कर लेता है। जसों से १५ मील पर ‘लखुरबारा’ नामक स्थान पहाड़ों की गोद में है। जहाँ पर गुप्तकालीन अवशेष पर्याप्त संख्या में मौजूद है। दुरेहा में भी जैन मंदिरों के अवशेष हैं। **नागौद के लाल साहब** से मुझे ज्ञात हुआ था कि लखुरबाग और नचना के जंगलों में बड़ी विशाल जैन प्रतिमाएँ काफी संख्या में पड़ी हुई हैं। वहाँ पर जैन मंदिरों के अवशेष भी मिलते हैं।

प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय इतिहास में इसका स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है। एक समय यह राजधानी के रूप में भी था। वाकाटक और गुप्तकालीन शिलालेखों में इस नगर का उल्लेख “उच्चकल्प” नाम से हुआ है।

संन्यासी ही यहाँ के शासक थे । नगर में परिभ्रमण करने पर प्राचीनता के प्रमाण स्वरूप अनकों अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं । यहाँ के काफी अवशेष (कलकत्ता के) **इन्डियनम्यूजियम** में हैं । शेष अवशेषों को जनता ने स्थान-स्थान पर एकत्रकर, सिंदुर से पोतकर खैरमाई या खैरदईया के स्थान बना रखे हैं । अब यहाँ से अनावश्यक था आवश्यक एक कंकड भी हटाना संभव नहीं । जहाँ पर जैन अवशेष भी काफी तादाद में मिलते हैं, वे मध्यकाल के हैं ।

यहाँ के एक शैव मंदिर में खंडित चतुर्विंशतिकापट्ट तथा फुटकर जैन मूर्तियाँ हैं । नाले पर भी एक दिवाल में कई देवताओं के साथ जैन प्रतिमाएँ हैं । नाले के ऊपर एक टीला है, उस पर विशेषतः शैव संस्कृति के अवशेषों में जैन मंदिरों के तोरण, द्वार स्तंभ एवं कृतियाँ सुरक्षित हैं । कुछेक जैन प्रतिमाएँ, अन्य स्थानों के समान, यहाँ पर खैरमाई के रूप में पूजी जाती हैं ।

यहाँ पर सब से अधिक और आकर्षक संग्रह है सती-स्मारकों का । एक स्थान इस लिए स्वतंत्र ही बना हुआ है । यहाँ सैकड़ों सती के चौतरे हैं । कुछेक पर लेख भी हैं ।

बार-बार यहाँ से सामग्री ढोने के बाद अब ऐतिहासिक एवं शिल्पकला की दृष्टि से कुछ भी मूल्य रखनेवाली सामग्री शेष नहीं रही ।

(५) मैहर

शारदामाई के कारण मैहर विन्ध्य प्रदेश में काफी ख्याति प्राप्त कर चुका है । प्रतिदिन कई यात्री यात्रार्थ आते हैं । इनके संबंध में यहाँ पर कई प्रकार की किंवदंतियाँ भी प्रचलित हैं । इस पर विशेष जानने के लिए **“विन्ध्यभूमि के दो कलातीर्थ”** नामक मेरा निबंध देखना चाहिए ।

स्थानीय राजमहल के पीछे देवी का मंदिर है । इसमें तीन खंडित जैन-मूर्तियाँ पड़ी हुई हैं । वहाँ पर एक स्त्री से पूछने पर ज्ञात हुआ कि यह हमारी देवीजी के रक्षक हैं, इसलिए इन्हें द्वार पर ही रहने दिया गया है । परम वीतराग परमात्मा की प्रतिमाओं का उपयोग, अज्ञानवश किस प्रकार किया जाता है, इसका यह एक उदाहरण है । इस मंदिर के दो फर्लांग पीछे जाने पर अत्यन्त सुंदर कलापूर्ण और सर्वथा अखंडित शैव मंदिर आता है । इस मंदिर के चबूतरे के पास ही खड्गासनस्थ जिन-मूर्तियाँ हैं । इस मंदिर से तीन फर्लांग और चलने पर एक नाला आता है । उस पर जैन मंदिर का चौखट



और कलश, स्वस्तिक और नन्द्यावर्त अंकित स्तंभ दृष्टिगोचर होते हैं। इन अवशेषों से ज्ञात होता है कि इसके निकट कहीं पर जिनमंदिर रहा होगा। वर्ना स्तंभ और चौखट की प्राप्ति यहाँ क्योंकि होती ?

मैहर से कटनी की ओर जो मार्ग जाता है उस पर 'पौड़ी' ग्राम पडता है। इसमें अतीव सुंदर जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई। इसकी संख्या १४ से कम न होगी, और खंडित प्रतिमाओं का तो ढेर लगा हुआ है। प्रायः अखंडित मूर्तियाँ कला की दृष्टि से सर्वांग सुंदर हैं। सौभाग्य से एक पर ११५७ का लेख भी उपलब्ध होता है, यह मूर्ति सपरिकर है। इस लेख का बहुत-सा भाग तो शस्त्र पनारनेवालों ने समाप्त ही कर डाला है, जो शेष रह गया है, वह मूर्तियों के समय निर्धारण के लिए उपयोगी है। एक ही इस लेख से इस शैली की अनेकों मूर्तियों का समय निश्चित हो जायगा। मूर्तियों की रक्षा अत्यावश्यक है। जनता का ध्यान भी इस ओर नहीं के बराबर है।

उपसंहार

उपर्युक्त पंक्तियों में विन्ध्यभूभाग के केवल उन्हीं जैनावशेषों का उल्लेख किया गया है, जिनको मैंने स्वयं देखा है। अभी अंदर के भाग में अनेक ऐसे नगर हैं, जहाँ के खंडहरों में जैन शिल्पकला की काफी सामग्री अस्तव्यस्त पड़ी हुई है। मुझे सूचना मिली थी कि **पन्ना, अजयगढ़, खजुराहो, देवगढ़, कालिंजर और छतरपुर** के पास के खंडहर भी इस दृष्टि से विशेष रूप से प्रेक्षणीय हैं। इन स्थानों पर जैन दृष्टि से आजतक समुचित अध्ययन नहीं हुआ, बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो संपूर्ण पुरातत्त्व की दृष्टि से अभी इस भूभाग को कम लोगों ने छुआ है। तलस्पर्शी अध्ययन की तो बात ही अलग है। जैन एवं अजैन विद्वानों के सद्प्रयत्नों से कहीं-कहीं सुरक्षा की व्यवस्था की गई है, पर सापेक्षतः नहीं के समान है।

विन्ध्यप्रदेश में पाई जानेवाली जैन पुरातत्त्व की सामग्री में अन्य-प्रान्तों की अपेक्षा वैविध्य है, यहाँ पर जैन प्रतिमा एवं मंदिरों के साथ-साथ जैन धर्म के कुछ प्रविष्ट प्रसंगों का भी सफल आलेखन हुआ है। इन अवशेषों से जैनों का व्यापक कला-प्रेम झलकता है। मध्यकालीन कलावशेषों में जैनाकृतियों को यदि अलग कर दिया जाय तो यहाँ की कलात्मक सामग्री सौन्दर्यविहीन जचेगी। महान परिताप का विषय है कि जैनों की अच्छी संख्या होते हुए भी इस ओर उनकी उदासीनता है। भारतीय पुरातत्त्व विभाग इस प्रदेश की ओर

एक प्रकार से मौनावलम्बन किये हुए हैं। मूर्तियों का कलाकृतियों का मनमाना उपयोग जनता द्वारा हो रहा है। नूतन भवन की नींवें इन अवशेषों से भरी जाती हैं। नवीन गुहों में ये लोग मूर्तियों का बेधडक उपयोग करते हैं, पर जब कोई कलाकार वहां पहुँचकर साधना करता है तब पुरातत्त्व विभाग इसे अपनी संपत्ति घोषित करता है।

प्रान्त में मैं तात्कालिक प्रधानमंत्री श्रीयुत श्रीनाथजी मेहता आई.सी.एस. को धन्यवाद देना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। इन्होंने मेरी यात्रा का प्रबन्ध राज्य की ओर से करवाया था।



नालंदा का जैन पुरातत्त्व

जैन साहित्य में मगध का उल्लेख बड़े गौरव से हुआ है। मगध में ही श्रमण-संस्कृति पल्लवित हुई। श्रमण-संस्कृति के सार्वभौम प्रभाव के कारण ही काशी देशवालों को कहना पड़ा था कि मगध में जो मरेगा, वह गधा होगा। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का यह एक उदाहरण है। **नालंदा, राजगृह और पाटलिपुत्र** श्रमणों के केन्द्र थे। भगवान महावीर^१ और बुद्धदेव के जीवन का अधिक भाग यहीं पर व्यतीत हुआ था।

नालन्दा में जिस प्रकार बुद्धदेवने चातुर्मास बिताये थे, उसी प्रकार भगवान महावीर ने भी १४ वर्षावास किये थे। उन दिनों नालंदा स्वतंत्र नगर न होकर राजगृह का ही उपनगर था। सूत्र-कृतांग में नालंदा का विशद वर्णन है। महावीर के प्रधान गणधर इन्द्रभूति यहीं के-गुब्बर गाँव के निवासी थे आज का बडगाँव वही पुराना गुब्बर गाँव है। ये वैदिक परंपरा के प्रकांड पंडित और कुशल अध्यापक भी थे। इनका परिवार इतना विशाल था कि तीनों भाइयों के पास १५०० छात्र विद्याध्ययन करते थे। यहीं बाद में भगवान महावीर के समवशरण में जाकर दीक्षित हुए थे। इन्होंने द्वादशांगी की रचना कर भगवान महावीर की कल्याणकारिणी सैद्धांतिक विचारधारा को दर्शन का पुट देकर साहित्यिक रूप दिया।

इन्द्रभूति गौतम स्वामी की विद्वत्ता के परिचायक ग्रंथ या उनके मौलिक विचार सुरक्षित नहीं हैं। जैन-आगमों से संतोष करना पड़ता है। आज भी नालंदा में इन्द्रभूति के गोत्र के सैकड़ों घर विद्यमान हैं, परंतु जैन-समाज ने सांस्कृतिक महापुरुष की स्मृति रक्षार्थ कुछ भी नहीं किया।

१. नालंदाकृते यत्र वर्षारात्रांश्चतुर्दश

अवतस्थे प्रभुर्वीरस्तत्कथं नास्तु पावनम् ॥ २५ ॥

यस्यां नैकानि तीर्थानि नालंदा नायनश्रियाम्

भव्यानां जनितानन्दा नालंदा नः पुनातु सा ॥ २६ ॥

- विविधतीर्थकल्प, पृ. २२।



श्रमण भगवान महावीर से लगाकर १३वीं तक नालंदा की जैन-दृष्टि से क्या स्थिति रही ? इस काल में जैन-संस्कृति वहाँ पर किस रूप में थी; यह जानने के ऐतिहासिक साधन हमारे पास नहीं रहे, यह बड़े ही खेद की बात है ।

हाँ, वहाँ पर और मगध में जो जैनमूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उन पर से अर्थात् उनकी निर्माण शैली पर से कल्पना अवश्य कर सकते हैं कि गुप्तकाल व तदुत्तरवर्ती युग में वहाँ पर या उसके निकट जैनों का वास था । ग्रन्थस्थ प्रमाण न मिलने का एक कारण यह भी जान पड़ता है कि यहाँ के मूल जैन तो आज धर्म से विमुख हो गये हैं, व केवल अपने कुछ गोत्रों के नाम ही सुरक्षित रख सके हैं । आचारमूलक जैन-संस्कृति आज उनके जीवन से कोसों दूर है । मेरा तात्पर्य बिहार के सराकों से है, जो श्रावक का भ्रष्ट रूप हैं । भाषा समय के साथ बदल सकती है, पर संस्कारों में शीघ्र परिवर्तन होना कठिन है । मुझे सराकों के प्रदेश में अधिक तो नहीं, पर थोड़ा-सा भ्रमण करने का अवसर मिला है, उनके पूर्वजों द्वारा विनिर्मित जैनमंदिर व मूर्तियाँ भी देखी हैं, उन पर से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अंधकारयुगीन जैन-इतिहास की बहुमूल्य सामग्री, सराकों के धर्मपथ से हटते ही, उनके साथ नष्ट हो गई । इस परंपरा की कड़ियाँ अब भी मिल सकती हैं । पर इसलिए सराक जाति द्वारा निर्मित स्थापत्यों का, तात्कालिक लेखों का और उन लोगों को पारम्परिक उत्तराधिकार के रूप में जो मौखिक या लिखित साहित्य प्राप्त हुआ है, उनका गंभीर अध्ययन अनिवार्य है । जैनोंने उन्हें धर्मपरिवर्तन के लिए तो उत्प्रेरित किया, पर उनके (और विस्तृत दृष्टिकोण से देखा जाय तो जैन संस्कृति के) पुरातन कलावशेषों के क्रमिक इतिहास-शोधन पर तनिक भी ध्यान न दिया, जो जैन-सांस्कृतिक इतिहास का एक बहुमूल्य अध्याय है । अस्तु ।

मैं तो ऐसा मानता हूँ कि अभी हमने मगध के जैन-इतिहास पर ध्यान ही नहीं दिया, जब तक हम यह कार्य न करेंगे, तब तक नालंदा ही क्यों, हमारी मूल इतिहास की कड़ियाँ ही अंधकार में रहेंगी ।

१२वीं शताब्दी तक नालंदा में बौद्धों का विशेष प्रभाव था, अतः जैन क्षीणत्राय हों या उनका अस्तित्व नगण्य-सा रह गया हो तो आश्चर्य नहीं । उन दिनों उद्दंडविहार (आज का “बिहार शरीफ”) में महत्तियाणवंशीय जैन थे । श्रमण परंपरा के परम उपासक और मुनिगण अपनी सांस्कृतिक जन्मभूमि की यात्रा करने अवश्य ही, दूर-दूर से आते रहे होंगे । ऐसे मुनिवरों में सर्वप्रथम स्थान खरतरगच्छीय वाचनाचार्य राजशेखर का आता है, जो



वि.सं. १३५२ में मगध-यात्रार्थ आये थे । यों तो इसके पूर्ववर्ती साहित्य में मगध के उल्लेख प्रचुर आते हैं पर वे सब आगमाश्रित हैं ।

मध्यवर्ती उत्तरकाल में पाद-यात्रा की विशेष सुविधा के कारण, पश्चिम भारत से बहुसंख्यक जैन-मुनि मगध-यात्रार्थ आते थे । वे अपने यात्रा-वर्णन को ऐतिहासिक दृष्टि से लिपिबद्ध भी करते थे । ऐसे उल्लेख गुजराती साहित्य में, तीर्थमाला के रूप में उपलब्ध होते हैं ।

श्री राजशेखर के बाद वि.सं. १५६५ में मुनि हंससोम नालंदा यात्रार्थ आये, तब वहाँ पर १६ जिन मंदिर थे^१ ।

विजयसागर^२ दो मंदिरों की सूचना देते हैं । जयविजय^३ १७ मंदिरों की स्थिति का उल्लेख करते हैं । आज वहाँ केवल एक मंदिर पाया जाता है, जिसकी बनावट भी बहुत प्राचीन नहीं प्रतीत होती । सौभाग्यविजयजी^४ यहाँ पर एक प्रासाद की चर्चा करते हुए गाँव में एक जैनस्तूप का भी सूचन करते हैं । यह स्तूप वर्तमान में उपलब्ध नहीं । प्राचीन जिन-मंदिरों के अवशेष भी न तो मिलते हैं और न ऐसा स्थान ही दिखलाई पड़ता है, जिसके साथ जैन-मंदिर की कहानी जुड़ी हो । सौभाग्यविजयजी प्रतिमा-विहीन प्रासाद का उल्लेख करते हैं ।

वर्तमान में एक मंदिर है । उसमें जो जैन-प्रतिमाएँ हैं, उनका भारतीय जैन-मूर्ति-विधान की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है । कारण कि भारतीय शिल्पकला एवं विशेषतः मूर्ति-निर्माण कला में मगध के कलाकार बहुत आगे रहे हैं । यहाँ तक कि संपूर्ण भारत में मागधीय कलाकारों की अपनी स्वतंत्र

-
१. पच्छिम पोलई समोसरण बीरह देषीजई,
नालंदई पाडई चउद चउमास सुणीजई ।
हवडां लोक प्रसिद्ध ने बडगाम कहीजई
सोलप्रासाद तिहां अछइ जिनबिम्ब नमीजई ।

कल्याणक थूम पासइं अच्छइं ए मुनिवर यात्राखाणी,
ते युगतिइं स्युं जोईइं निरमालडी ए कीधी पापनी हाणि ।

- प्राचीन तीर्थमालासंग्रह, पृ. १७ ।

२. प्राचीन तीर्थमालासंग्रह, पृ. ९ ।

३. प्राचीन तीर्थमालासंग्रह, पृ. ३०-३१ ।

४. प्राचीन तीर्थमालासंग्रह, पृ. ९१ ।



शैली थी। आज भी मगध की मूर्तियाँ दूर से पहचानी जा सकती हैं। श्रमण-संस्कृति का केन्द्र मगध में होने के कारण कलाकारों ने अपने सांस्कृतिक उत्प्रेरक तत्वों को प्रस्तर पर रेखाबद्ध किया। यद्यपि मगध में जैन-मूर्तियों की संख्या बौद्ध-धर्मापेक्षया बहुत कम है, पर जितनी भी उपलब्ध हैं, वे अन्य प्रान्तों में प्राप्त जैन-प्रतिमाओं की तुलना में कला की दृष्टि से अपना स्वतंत्र स्थान रखती हैं। जैन और बौद्ध मूर्तियों का निर्माण कलाकारों द्वारा हुआ करता था। अतः मगध की मूर्तियों में पारस्परिक प्रभाव परिकर के निर्माण में बहुत पडा है। मूल प्रतिमा पर तो कलाकारों का कृतित्व उतना नहीं झलकता, जितना परिकर के निर्माण में। उदाहरणार्थ मगध की जितनी भी बुद्ध-मूर्तियाँ पायी जाती हैं, उनमें अशोक वृक्ष की पत्तियाँ, देव-दुन्दभि, गगन-विचरण करते हुए पुष्प मालाचारी किन्नर किन्नरियाँ पाये जाते हैं। बौद्ध मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से ये उपकरण नहीं होने चाहिए। वहाँ तो अशोक वृक्ष के स्थान पर पीपल की पत्तियाँ चाहिए, जो बोधि वृक्ष का स्मरण दिला सके। अतिरिक्त दो उपकरण जैन मूर्ति-कला की बौद्ध मूर्ति-कला को देन हैं। जैनों में ये अष्टप्रातिहार्य के अन्तर्गत माने गये हैं, जब कि बौद्धों में अष्टप्रातिहार्य जैसी कोई कल्पना विकसित हुई हो, इसका मुझे पता नहीं। अष्टप्रातिहार्य में प्रभावलि का प्रयोग बौद्धों ने बहुत किया है और वह भी कला के साथ, गुप्तकालीन बौद्ध-मूर्तियों में प्रभावली पर विविध आकृति की रेखाएँ मिलती हैं। मगध की जैन-मूर्तियों के पृष्ठ भाग में दो स्तंभो पर आधृत अर्द्ध गोलाकार कमान, तदुपरि दीपक-जैसा चिह्न पाया जाता है और मूर्तियाँ कमलासन पर खोदी जाती हैं। कहीं-कहीं निम्न भाग में कमल की नाल पर ही मूर्ति आधृत हो, ऐसे भाव एवं कुछ मूर्तियों के पृष्ठ भाग में सांची का द्वार भी पाया जाता है। ये सब बौद्ध मूर्तिकला में विकसित अलंकरण हैं, जिनका व्यवहार जैन-कलाकारों द्वारा भी अपनी मूर्तियों में हुआ है। नालंदा की शिखराकृति भी, जो वहाँ की मुष्मुद्राओं में पायी जाती है, बौद्धों की ही देन है। कुछ मूर्तियों में आरती, दिपक, नैवेद्य, शंख भी पाये जाते हैं। इस प्रकार एक ही देश में एक ही शैली के कलाकारों द्वारा धर्मों की मूर्तियाँ बनने के कारण पारस्परिक आदान-प्रदान कलात्मक दृष्टि से हुआ है।

नालंदा की जैन-मूर्तियाँ

प्रायः यहा कहा जाता है कि बौद्ध मूर्तिकला में जितने आगे हैं, उतने ही जैन पीछे हैं। परन्तु नालंदा की जैन-मूर्तियाँ उनकी इस धारणा को विपरित



सिद्ध करती है। इन मूर्तियों को गुप्तकालीन बौद्ध मूर्तियों की तुलना में आसानी से रखा जा सकता है। मूर्तियों के शब्द-चित्र से ही संतोष करना पड़ेगा। प्रयत्न करने पर भी वहां के कला-प्रिय (?) एक तंत्रीय व्यवस्थापक की आज्ञा फोटो के लिए प्राप्त न हो सकी।

(१) मंदिर में प्रवेश करते दाहिनी ओर एक आले में सप्तफणी डेढ़ फुट से कम की ही पार्श्वनाथ की प्रतिमा अवस्थित है। उभय पार्श्व में चमर-धारी पार्श्व खड़े हैं। निम्न भाग में चतुर्भुजी देवी, संभवतः, अधिष्ठाता होगी। अष्टप्रातिहार्य भी हैं।

(२) सामने अति श्याम पाषाण पर एक प्रतिमा है, जिसका शारीरिक गठन शिल्प-कला की दृष्टि से अति उच्चकोटि का है। कलाकार ने संपूर्ण शारीरिक अवयवों के निर्माण में शैथिल्य नहीं आने दिया है। प्रतिमा पद्मासनस्थ होते हुए भी लम्बशरीरी प्रतीत होती है। मुख पर प्रशान्त भाव झलक रहे हैं। दोनों ओर इंद्र कमलपत्र पर खड़े हैं। कमल-नाल अलग से बनायी गयी हैं। पार्श्वदों की मुखकान्ति बता रही हैं कि वे कितने सेवा-शुश्रूषा और भक्ति से ओत-प्रोत हैं, मानो उनकी चित्त-वृत्ति का केन्द्र यह प्रकाश-पुंज ही हो। प्रकाश वही है, जिसकी परिचर्या में वे अपना जीवन दे रहे हैं। इन्द्रों के मस्तक का मुकुट अंतिम गुप्त और प्रारंभिक पाल-कालीन मुकुट की स्मृति दिलाता है। गोल कर्ण-भूषण भी पाल-कालीन से लगते हैं। कलाकार ने प्रतिमा के निम्न भाग को उभय ओर तीन उपभागों में बांट दिया है। प्रथम मध्य में एक बालक, दूसरे में भक्त करबद्ध भगवान के चरणों में श्रद्धांजलि दे रहा है, तीसरे में ग्रास और मध्य भाग में मृगलांछन स्पष्ट हैं। जो शान्तिनाथ की प्रतिमा का सूचक हैं। दूसरी ओर प्रस्तर खिर गया है। ऊर्ध्व भाग में प्रतिमा का भामण्डल निरलंकृत ही है, जिस पर मागधीय कला का प्रभाव है। मस्तक पर छत्र हैं, जो अशोक वृक्ष की लताओं पर आधृत हैं। मस्तक के दोनों ओर इन्द्र को पुष्प-माला लिये उत्सुकतापूर्वक गगन-मार्ग से आते हुए बताया गया है। जहाँ पर इन्द्र खुदे हुए हैं, उस भाग का कटाव उभरा हुआ है।

अब प्रश्न केवल इतना ही रह जाता है कि इस कमनीय कला-कृति का निर्माणकाल क्या होगा? न तो इस पर कोई निर्माण-सूचक लेख है और न बौद्ध-धर्म का 'ये धम्मा हेतुपभवा' मुद्रा लेख ही है, जिससे इसके निर्माण का कुछ अंदाज लगाया जा सके; क्योंकि बौद्ध-धर्म के व्यापक प्रचार का प्रभाव जैन और वैदिक शिल्प पर भी पड़ा था। बौद्ध काल की सभी मूर्तियों पर

प्रायः उपर्युक्त लेख खुदवाया जाता था। अस्तु, इस प्रतिमा में लांछन हैं। फिर भी इन्हें दसवीं शती के पूर्व की कृति तो मानना ही पडेगा; क्योंकि इतः पूर्वकालीन प्रतिमाओं में कुछ एक को छोडकर शेष लंछनविहीन हैं। जो भामंडल है, वह बिल्कुल सादा हैं। यदि इसे अंतिम गुप्तकालीन प्रतिमाओं में मानें तो भी एक अडचन आती हैं। वह यह कि उन दिनों प्रभावलि के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। बल्कि प्रभावली ही निर्माण-शती की सूचक होती हैं। अग्नि की ज्वालाएँ भामंडल के चारों ओर बनायी जाती थीं। मध्य में प्रधान दीपक रहता था, जैसे कोई मशाल हो। गुप्तकालीन या बाद के जो अवशेष मिलते हैं, शायद ही कोई ऐसे हों, जिनमें प्रभावलि स्पष्ट न हो। इस मूर्ति को हमने दसवीं और ११ वीं शती ईस्वी के मध्य की कलाकृति माना हैं। काल-निर्माण में आभूषण और पार्श्वद की वेशभूषा सहायक सिद्ध हुई हैं। श्याम पाषाण पर पालिश बहुत परिश्रम से कि गयी हैं।

(३) इस मंदिर में मूलनायक ऋषभदेव हैं। मुखाकृति शारीरिक गठन की अपेक्षा अधिक सुंदर और उत्प्रेरक हैं। स्कन्ध प्रदेश पर केशावलि स्पष्ट हैं। वृषभ का चिह्न तथा उसके पास ही भक्तगण अंजलिबद्ध खडे हैं। जहाँ पर पुष्प-माला धारण किये इन्द्र खडे हैं, वहाँ दोनों ओर हाथी इस प्रकार खोदे गये हैं, मानो मूर्ति का अभिषेक कर रहे हों। इसका निर्माण-काल १३ वीं शती के बाद और १२ वीं के पूर्व का नहीं हो सकता।

(४) यह प्रतिमा सामने की पांचवीं हैं। २॥ फुट की हैं। सप्तफणी पार्श्वनाथ की हैं। निम्नभाग में धर्मचक्र और हाथी हैं। यह प्रतिमा राजगृह के तृतीय पहाड पर पायी जानेवाली पार्श्वनाथ की प्रतिमा से बहुत अंशों में मिलती हैं। प्रेक्षक को कल्पना हो आती हैं कि दोनों एक ही कलाकार की कृति तो नहीं हैं? या राजगृहवाली प्रतिमा के आधार पर इसका निर्माण हुआ होगा। कारण कि शारीरिक गठन में पर्याप्त अंतर हैं।

(५) यह प्रतिमा आकार-प्रकार में छोटी हैं और कला की दृष्टि से भी सामान्य। धर्मचक्र सुंदर हैं। पार्श्वभाग में दाहिने चार और बायें पांच और प्रतिमाएँ हैं जो नवग्रह की हैं। निम्नस्थान में एक लेख खुदा हैं, पर वह काफी बाद का हैं। मागधीय कलाकारों ने जैनमूर्ति निर्माण में जैन-संस्कृति की छोटी-से-छोटी बातों पर भी बहुत ध्यान दिया था। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। इन्द्रों के हाथ में जो चामर दिये हैं, वे चँवरी गाय के पुच्छ के न होकर गोटे के बने हुए हैं, जैसा कि लम्बी रेखाओं से ज्ञात होता हैं। आज भी



दिगंबर जैन-सम्प्रदाय में इसी प्रकार के चंवर व्यवहृत होते हैं। जैन-मंदिर में दादा श्री जिनदत्तसूरिजी महाराज के चरण भी विद्यमान हैं। विशाल धर्मशाला बनी हुई है, जो किसी जेल का स्मरण कराती है। व्यवस्था के नाम पर बुद्धदेव का शून्यवाद छाया हुआ है। नालन्दा में एक दिगम्बर जैन मंदिर और धर्मशाला भी हैं। प्रयत्न करने पर भी हम दिगम्बर जैन मंदिर का दर्शन न कर सके। अपराध यही था कि हम श्वेताम्बर मुनि थे !

म्यूजियम - नालंदा से प्राप्त कला कृतियाँ व वस्तुओं का संग्रह म्यूजियम में सुरक्षित हैं। कुछ जैन-मूर्तियाँ भी हैं। नालंदा में विकसित सभ्यता और संस्कृति पर, इन कृतियों से अच्छा प्रकाश पड़ता है। कतिपय ग्रन्थ भी सुरक्षित हैं। यात्रियों के आराम के लिए भवन भी हैं।

विचित्र अनुभव

नालंदा में तीन दिन रहकर उसके संबंध में जितना हम लोग जान सके, उसे उपर्युक्त पंक्तियों में लिपिबद्ध करने का प्रयास किया गया है। यहाँ पर हमें पुरातत्त्व की सामग्री के संबंध में ऐसे विचित्र अनुभव हुए, जिनसे हमें बड़ा दुःख और क्षोभ हुआ। बात यह है कि जिनकी नालंदा के पास जमीनें हैं, वे कुछ लोगों को कतिपय वर्षों के लिए पट्टा लिख देते हैं। ये पट्टेदार उक्त अवधि में खुदाई कर सारी सामग्री उड़ा ले जाते हैं। उनके द्वारा अवैज्ञानिक ढंग से खुदाई करने से एक तो बहुमूल्य पुरातत्त्व की सामग्री नष्ट हो जाती है, दूसरे जो शेष रहती हैं, उसको भी अधिकांश रूपयों के लोभ में वे नष्ट कर देते हैं। अतः इस प्रकार देश का बड़ा अहित होता है। ऐसे एक व्यापारी को तो मैं व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ, जिनके यहाँ से छकड़ों भर सामग्री मिल सकती है। ऐसी बहुत सी सामग्री विदेशों में चली गई है। आश्चर्य तो इस बात से भी होता है कि यहाँ के अधिकारी इस पर कुछ ध्यान नहीं देते। आस-पास के गाँवों में खानातलाशी लेने पर शायद ही कोई ऐसा मकान हो, जिसमें कुछ पुरातत्त्व की सामग्री छिपी न मिले। ऐसी हालत में पुरातत्त्व के विद्यार्थियों को बड़ी कठिनाई होती है; क्योंकि सामग्री व्यक्तिगत संग्रहों में बंट जाती है, जिस तक सब की पहुँच नहीं हो सकती। अतः केन्द्रीय सरकार के पुरातत्त्व विभाग से हमारा साग्रह अनुरोध है कि वह इस संबंध में आवश्यक कार्यवाई करके ऐसी कलाकृतियों का उद्धार करे।

- ५ अप्रैल १९४९ ई.



पाटलिपुत्र (पटना) का जैन पुरातत्व

मगध प्रान्त के प्रामाणिक इतिहास का आज-तक न लिखा जाना एक आश्चर्य है। विद्वानों को अधिक से अधिक इतिहास-विषयक साधन-सामग्री इस प्रान्त से प्राप्त होती है। प्राक्कालीन बहुसंख्यक ऐतिहासिक घटनाएँ वस्तुतः इसी प्रान्त में घटीं, जिनका न केवल तात्कालिक साहित्य में यथावत् वर्णन ही मिलता है, अपितु उनमें से अधिकांश प्रसंगों पर प्रकाश डालनेवाले प्राचीन प्रस्तरावशेष भी समुपलब्ध हैं, जो उन सहृदय व्यक्तियों को उस समय के सांस्कृतिक जनजीवन की वास्तविक कहानी, अतिगंभीर रूप से, पर मूकवाणी में सुना रहा है, किसी भी प्रान्त की अत्युन्नत दशा का यथार्थ परचय यदि उसकी कला द्वारा ही प्राप्त किया जाता हो, तो मानना होगा कि मगध इसका अपवाद नहीं हो सकता; क्योंकि उक्त प्रान्तीय सांस्कृतिक तत्त्वों की गंभीर गवेषणा से यह स्पष्ट है कि कला मगध के जन-जीवन में ओत-प्रोत थी। मगध के सूक्ष्म प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों ने अत्यंत सीमित स्थान में अपनी पैनी-छैनी द्वारा सात्विक हृदय के उच्चतम मनोभाव पाषाण आदि पर बहाकर प्रमाणित कर दिया है कि यहाँ का जानतिक जीवन कितना उन्नत और कलामय था।

श्रमण भगवान **महावीर** के अनुयायी राजा एवं उपासकों की बहुत बड़ी संख्या मगध में होने के कारण उनका प्रधान कर्म-क्षेत्र मगध ही था, जिसमें वर्तमान भौगोलिक दृष्टि से **पटना और गया** जिले लिये जा सकते हैं। विदेह, मगध और अंग आदि बिहार प्रान्त के प्राचीन भौगोलिक और सांस्कृतिक इतिहासपट को आलोकित करनेवाले जितने मौलिक साधन जैन-साहित्य में उपलब्ध हैं, संभवतः अन्यत्र नहीं। इतनी विशाल तथ्यपूर्ण ऐतिहासिक साधन-सामग्री के रहते हुए भी वर्तमान पुरातत्त्ववेत्ताओं ने जैन साहित्य और इतिहास के बिखरे हुए साधनों का समुचित उपयोग बिहार के इतिहासालेखन में नहीं किया, यह कम परिताप का विषय नहीं ! बिना किसी अतिशयोक्ति के मुझे कहना चाहिए कि जब तक पक्षपात-शून्य दृष्टि से जैनों के ऐतिहासिक उल्लेखों का तलस्पर्शी अध्ययन नहीं किया जायगा, तब तक बिहार का सांस्कृतिक

इतिहास अपूर्ण या धुंधला ही बना रहेगा । प्रसंगवश एक बात की स्पष्टता वांछनीय हैं । जैनों ने मगध या संपूर्ण बिहार प्रान्त को लक्ष्यकर जो-जो प्रासंगिक उल्लेख किये हैं, वे केवल साम्प्रदायिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु, तात्कालिक जन-साधारण के सामाजिक जीवन के प्रधान तत्व, आमोद-प्रमोद की सामग्री, उत्सव, रीति-रिवाज, धार्मिक-मान्यता, राजवंश और उनके क्रमिक विकास, भौगोलिक सीमा-निर्धारण, दर्शन, वाणिज्य-विषयक आदान-प्रदान, राजनीति के विभिन्न प्रकार एवं तत्कालीन प्रसिद्ध जैन-अजैन व्यक्तियों के परिमार्जित इतिहास, आदि के निष्पक्ष वर्णन के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं । जैनों ने अपने साहित्य में विरोधी वायुमंडल को भी स्थान देकर उन्हें स्थायित्व प्रदान किया ।

पंक्तिगत उल्लेखों की प्राचीनता, भाषा की दृष्टि से, मथुरा के शिलालेखों के आधारपर, जर्मन विद्वान् **डॉ. हरमन जेकोबी** एवं अन्य विदेशी विद्वानों ने स्वीकार की हैं । यों तो बिहार से संबंधित प्रचुर सूचन मिल जाते हैं; परंतु यहाँ न तो उन सभी की विवक्षा हैं, न प्रसंग ही । प्रस्तुत प्रबन्ध में पाटलिपुत्र का जैनदृष्टि से, प्राचीन इतिहास एवं भिन्न-भिन्न समय में घटित प्रेरणादायिनी घटनाओं का उल्लेख ही पर्याप्त होगा; क्योंकि जैनसाहित्य में पाटलिपुत्र का स्थान अत्यंत उच्च और कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण माना गया है । सर्व-प्रथम मगधसंघ, अर्थात् जैनों की साहित्य-परिषद का अधिवेशन नवम् नन्द के समय पाटलिपुत्र में ही हुआ था, जिसके नेता **आचार्य स्थूलभद्र** थे । यह घटना ईस्वी सन् पूर्व ३६६ की हैं । पाटलिपुत्र जब से बसा, तभी से मौर्यवंश के नाश तक जैनसंस्कृति का व्यापक केन्द्र बना रहा । शिशुनाग, नन्द और मौर्य जैनधर्म के अनुयायी, पोषक एवं परिवर्द्धक थे ।

आचार्य श्रीजिनप्रभसूरी जैनसमाज के उन प्रतिभासम्पन्न आचार्यों में थे, जिनको विशिष्ट दृष्टिकोण से भ्रमण और विश्रृंखलित ऐतिहासिक तत्त्वों के संकलन में बड़ी गहरी अभिरुचि थी, जिसके फलस्वरूप उन्होंने विविध नगरों पर स्वानुभव द्वारा संस्कृत, प्राकृतादि भाषाओं में छोटे-बड़े कई ऐतिहासिक प्रबंधों का निर्माण विक्रम संवत् १३८९ में किया, जो **विविध तीर्थकल्प** नाम से प्रसिद्ध हैं । ये प्रबंध भारतवर्ष के प्राचीन प्राप्य भौगोलिक ग्रंथों में शिरोमणि रहे हैं । **मिथिला, चम्पा, वैभारगिरि, पावापुरी, कोटिशिला** आदि बिहार के नगरों का ऐतिहासिक वर्णन वस्तुतः करते हुए उन्होंने इन शब्दों में पाटलिपुत्र की उत्पत्ति यों बतायी हैं-

“श्री नेमिनाथ भगवान को नमस्कार करके अनेक पुरुषरत्नों के जन्म से पवित्र श्री पाटलिपुत्र नगर का कल्प-प्रबन्ध कहता हूँ।”

प्रथम जब महाराज श्रेणिक-बिम्बिसार स्वर्गवासी हुए, तब उनका पुत्र कुणिक-अजातशत्रु, पिता के शोक से व्याकुल होकर चम्पापुरी में रहा।

कुणिक के परलोकगमन के बाद उसका पुत्र उदायी चम्पा का शासक नियुक्त हुआ। वह भी अपने पिता के सभास्थान, क्रीडास्थान, शयन आदि को देखकर, पूर्वस्मृति जाग्रत हो जाने से उद्विग्न रहता था। इसने प्रधान अमात्यों की अनुमति से नूतन नगर के निर्माणार्थ प्रवीण नैमित्तिकों को आदेश दिया। भ्रमण करते-करते वे गंगातट पर आये। गुलाबी पुष्पों से सुसज्जित छवियुक्त पाटलिवृक्ष (पुन्नागवृक्ष) को देखकर वे आश्चर्यान्वित हुए। तरु की ठहनी पर चाष नामक पक्षी मुंह खोलकर बैठा था। कीड़े स्वयं उसमें जा पड़ते थे। इस घटना ने नैमित्तिकों के मस्तिष्कपर वह प्रभाव डाला, जिससे वे सोचने लगे कि यदि इस भूमिपर नव-नगर-निर्माण किया जाय तो निस्संदेह राजा को स्वयं लक्ष्मी प्राप्त होगी। राजाने इस शुभ संवाद को सुना। वह बहुत प्रसन्न हुआ। वयोवृद्ध नैमित्तिक ने कहा-महाराज, यह वृक्ष साधारण नहीं हैं, जैसा कि ज्ञानी ने कहा है-

पाटलाद्रः पवित्रोऽयं महामुनिकरोटिभूः ।

एकावतारोऽस्य मूलजीवश्चेति विशेषतः ॥

महामुनि की खोपड़ी में से उत्पन्न यह पाटलि (पुन्नाग) वृक्ष अत्यंत पवित्र है। विशेषतः इसका जीव एकावतारी है।

राजाने आश्चर्यान्वित मुद्रा से पूछा कि वे महामुनि कौन थे ? नैमित्तिक ने सारा वृत्तान्त इस प्रकार कहा-

उत्तर मथुरानिवासी देवदत्त नामक वणिक्पुत्र दिग्यात्रार्थ दक्षिण मथुरा में आये। यहाँ जयसिंह नामक वणिक्पुत्र से उनकी मित्रता स्थापित हुई। एक समय देवदत्त जयसिंह के यहाँ भोजन के लिए गया। उनकी बहन अन्निका पंखा झल रही थी। उनके सौन्दर्य पर देवदत्त ने आत्मसमर्पण करने का निश्चय किया। वह अपनी इच्छाओं के लोभ का संवरण न कर सका। अन्ततः अपने भृत्यों के द्वारा जयसिंह से याचना की। जयसिंह ने शर्तें रखीं कि मैं अपनी बहन उसी को दूंगा, जो मेरे घर से अधिक दूर न हो, प्रतिदिन बहन और बहनोई को देख सकूँ, और जब तक एक संतान न हो, तब तक मेरे

घर पर रहे । देवदत्तने प्रसन्नतापूर्वक शर्तों का स्वीकार किया एवं अन्निका का पाणि-ग्रहणकर सुखमय जीवन यापन करने लगा । एक दिन देवदत्त के माता-पिता का पत्र आया, जिसे पढ़कर उसके नेत्र सजल हो उठे । वह स्नेह की शृंखला से आबद्ध था । वह अन्निका के अनुनयपूर्वक कारण पूछने पर भी मौन रहा । पति के कष्टने अन्निका के हृदय को द्रवित कर पत्र पढ़ने को बाध्य किया । पत्र में लिखा था-“हे पुत्र, हम तो अब बुद्ध हो चले हैं । यदि देखने की इच्छा हो, तो शीघ्र चले आओ ।”

अन्निका ने पति को आश्चस्त किया और भाई से हठकर देवदत्त को जाने की आज्ञा दिलवायी । अन्निका सगर्भा थी । मार्ग में पुत्ररत्न प्राप्त हुआ । उन्होंने ने नवजात शिशु का नामकरण माता-पिता पर छोड़ने का विचार किया । भृत्यों ने अन्निकापुत्र नाम दिया । उत्तरमथुरा पहुंचने पर उन्होंने ने माता-पिता को सविनय नमस्कार कर शिशु को उनके चरणों में समर्पित किया । उन्होंने ने संवौरण नाम रखा । जनता पूर्व नाम से पुकारने में आनंद का अनुभव करती थी । क्रमशः युवावस्था प्राप्त होने पर भी नश्वर सांसारिक भोगों में उनकी लेशमात्र भी अभिरुचि न रह गई । अब उनकी अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति का सुमधुर स्रोत फुट पड़ा । उन्होंने ने अन्ततः गृह त्यागकर, जन-कल्याणार्थ, मुनिधर्म की दीक्षा, जयसिंह आचार्य के पास जाकर अंगीकार की ।

संघ के साथ विचरण करते हुए वृद्धावस्था में अन्निकाचार्य गंगातटपर पुष्पभद्र नगर में आये, जहाँ पुष्पकेतु शासक थे । उनकी पत्नी पुष्पावती थी । पुष्पचूल, पुष्पचूला उनके पुत्र-पुत्री अभिन्न हृदय थे । पारस्परिक तीव्र अनुराग के कारण राजा चिंतित था कि यदि इनमें से किसी को पृथक् करूंगा, तो दोनों का जीवन बचना असंभव है । मैं भी इतना दृढहृदयी नहीं कि इनका विरह सह सकुं । अतः क्यों न दोनों का पारस्परिक वैवाहिक संबंध ही स्थापित कर दिया जाय । उन्होंने ने वायुमंडल तैयार करने के हेतु अपने प्रधान अमात्य, मित्र और नगरवासियों के सम्मुख कपट से पूछा-“सज्जनों, जो रत्न अंतःपुर में उत्पन्न हो, उसका अधिकारी कौन ?” सबने एक स्वर से कहा, “हे देव, अन्तःपुर में समुत्पन्न रत्न के विषय में तो क्या, सारे देश में जो रत्न उत्पन्न होते हैं उनपर भी आपका ही अधिकार है, जैसा भी चाहें, उपयोग कर सकते हैं ।” राजाने अब उनके सामने स्वाभिप्राय रखा और रानी की इच्छा न होने पर भी उनका पाणिग्रहण करवाया । रानी ने अपना अपमान समझकर गृह संसार छोड़ दिया और दीक्षा ग्रहण की । वह मरक देव के रूप में उत्पन्न हुई । पुष्पकेतु जब

स्वर्ग का अतिथि हुआ, तब पुष्पचूला राजसिंहासनपर बैठा । देवत्वप्राप्त रानी के हृदय में उन दोनों के आकृत्य को देखकर करुणा का स्रोत उमड़ पड़ा । उसने पुष्पचूला को, प्रतिबोधनार्थ, स्वप्न में भयंकर नारकीय कष्ट-यातनाओं के भाव बताये । वह भयभीत हुई । उसने पति से कहा शान्ति के कृत्य किये जाने पर भी स्वप्न का क्रम बन्द न हुआ । राजाने सब धर्मों के नेताओं को बुलाकर नारकीय स्वरूप की पृच्छा की । किसीने गर्भावास को या गुप्तावास को या दरिद्रता को और कुछ एक ने परतंत्रता को ही नरक बताया । रानी को संतोष न हुआ । अन्निकाचार्य से पूछने पर स्वप्नवत् वर्णन सुनकर रानी प्रभावित हुई । बाद में देवलोक के स्वप्न आने पर, अन्निकाचार्य ने तादृश वर्णन कर रानी के मन को संतुष्ट किया । रानी ने अन्निकाचार्य के पास दीक्षा लेने की आज्ञा पति से मांगी । राजाने कहा कि एक शर्त पर आज्ञा दे सकता हूँ कि भिक्षा प्रतिदिन मेरे महल से ली जाय । ‘तथास्तु’ कहकर वह आचार्य की शिष्या हुई । उसने क्रमशः पढ़कर वैदुष्य प्राप्त किया ।

एक बार अन्निकाचार्य ने अपने ज्ञान-बल से जाना कि भविष्यत् में दुष्काल होनेवाला है । अतः उन्होंने सारे समुदाय को अन्यत्र भेज दिया । वे स्वयं बुद्धावस्था के कारण वहीं रहे । भिक्षा पुष्पचूला महल से ला दिया करती थी । वह बड़े मनोयोगपूर्वक गुरु की सेवा में तल्लीन रहा करती थी । क्रमशः उसे केवलज्ञान प्राप्त होने के कुछ दिन बाद जब आचार्य को मालूम हुआ, तब उन्होंने ने पूछा कि मुझे कब केवलज्ञान होगा ? विदुषीने कहा-गंगापार करते समय । आचार्य गंगापार करने के लिए नावपर बैठे । जहाँ-जहाँ वे बैठते, नावा डूबने लगती । तब वे मध्यभाग में बैठे । तब तो संपूर्ण नौका ही गंगा के गहन गर्भ में प्रवेश करने लगी । अतः लोगोंने उनको उठाकर पानी में फेंका । पूर्व भव में उनके द्वारा अपमानित स्त्री, व्यंतरी के रूप में, वहाँ पर आयी और पानी में गिरते हुए आचार्य को शूली में पिरो लिया । शरीर से रक्त की धारा प्रवाहित होने लगी । परंतु, आचार्य महोदय को अपनी शारीरिक पीड़ा का तनिक भी ध्यान न था । वे तो इसी चिंता में निमग्न थे कि कहीं मेरे उष्ण रक्त की बुंद से जलस्थित जीवों की विराधना न हो जाय ! इस प्रकार अहिंसा की स्पष्टतम भावनाओं के चरम विकास होने पर उन्हें भी केवलज्ञान प्राप्त हुआ । देवताओं द्वारा प्रकृष्ट (सर्वोत्कृष्ट) **याग (पूजा)** होने से प्रयाग नाम से उस स्थान की प्रसिद्धि हुई । वर्तमान में, अर्थात् विक्रम संवत् १३७९ में, करवत रखवाने की परंपरा **प्रयाग में** थी । वहाँ एक **वटवृक्ष** है, जो कई बार

मुसलमानों द्वारा नष्ट किये जानेपर भी उत्पन्न हो गया है ।

जलचर जीवों के ताड़न से टूटती हुई सूरिजी की खोपड़ी पानी की तरंगों से यत्र-तत्र फिरती हुई गंगा के किसी प्रदेश में अटककर रह गयी । उसमें किसी समय पाटला-वृक्ष का बीज पड़ा । अनुक्रम से खोपड़ी के दक्षिण भाग को भेदकर वृक्ष निकला । इस वृक्ष के प्रभाव से चाष पक्षी के निमित्त से नगर बसा ।

सियार का शब्द जहाँ तक सुनायी दे, उतनी भूमि सूत से वेष्टित की जाय । राजाज्ञा प्राप्त कर नैमित्तिक ने चारों दिशाओं में वहाँ तक सूत के तंतु फैला दिये, जहाँ तक सियार की आवाज न सुनायी दे । इस प्रकार चतुष्कोण नगर की राजा ने स्थापना की । इसी वृक्ष के नाम से पाटलिपुत्र नगर बसाया गया^१ ।

—विविध तीर्थ कल्प, पृष्ठ ६७-६८

आचार्य महाराज ने शिशुनागवंशीय उदायाश्व या उदायी द्वारा निर्मापित नगर से संबंधित कोई ऐसा उल्लेख नहीं किया, जिससे ज्ञात हो सके कि अमुक संवत् में वह बसा । अतः अन्याय ऐतिहासिक साधनों के आधारों से प्रतीत हुआ कि वीर निर्वाण संवत् ३१ में उपर्युक्त नगर बसा । इतिहासज्ञों ने इसके विस्तार के संबंध में विभिन्न मत दिये हैं । उनमें साम्य केवल इतना ही है कि उसके ६४ दरवाजे और दुर्ग की ५७० बुर्जे थीं । आकस्मिक आक्रमणों को रोकने के लिए ३० हाथ गहरी और ६०० हाथ चौड़ी खाई थी । इस प्रकार की खाइयाँ मध्यकाल में भी दुर्गोत्तरवर्ती भाग में बनवायी जाती थीं । कहीं—

१. अन्य ग्रन्थों में उदायी राजा की माता का नाम पाटलिरानी होने के कारण नगर का नाम पाटलीपुत्र रखा, ऐसा उल्लेख भी मिलता है । अतः स्पष्ट रूप से पाटलिपुत्र शब्द का अर्थ उदायी राजा ही किया जा सकता है । यात्रियों के वर्णन से ज्ञात है कि 'कुसुमपुर' पाटलिपुत्र का एक अंग था ।

पुराणों में उदायी राजा और पाटलिपुत्र के निर्माण के लिए निम्नोक्त उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं —

उदायी भविता तस्मात्, त्रयस्त्रिंशत्समानृपः ॥

सर्वेः पुरवरं रम्यं, पृथिव्यां कुसुमाह्वयम् ॥

गंगाया दक्षिणे कुले, चतुर्थेऽब्दे करिष्यति ॥

— वायुपुराण, उत्तरखंड, अध्याय ३७, पृष्ठ १७५

ब्रह्मांडपुराण, म. भा. ३ पो. तीन अध्याय ७४ ।

कहीं इनमें पानी भरा जाता था और कहीं-कहीं युद्ध के दिनों में जलते हुए कोयले बिछा दिये जाते थे ।

उदयाश्व महाराज श्रेणिक के पौत्र और कुणिक के पुत्र थे । इनका राज्याभिषेक चम्पा में ही हुआ था । पर पिता के परलोकगमन से उनकी वस्तुओं को देखने से प्रतिदिन मन बड़ा उद्विग्न रहा करता था, जिसके निवारणार्थ पाटलिपुत्र बसाया था । “महावग्ग” में उल्लेख मिलता है कि वैशाली के बज्जियों के आक्रमण को रोकने के लिए अजातशत्रु ने सुनिद्ध और वस्सकार नामक प्रधानमंत्रियों द्वारा ईसवी पूर्व ४८० में पटना बसाया या एक किला बनवाया । ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि उपर्युक्त कथन भ्रामक है, क्योंकि कुणिक की राजधानी चम्पा रही है, जिस पूर्तिस्वरूप अनेक उल्लेख प्राप्त हो चुके हैं ।

विष्णुपुराण (खंड ४, अध्याय ४) में उल्लेख आया है कि उदयाश्व अजातशत्रु का पौत्र था, परंतु नहीं कहा जा सकता, इस कथन में कहाँ तक सत्य है । कुछ लोग मानते हैं कि अजातशत्रु के बाद दर्शक उत्तराधिकारी हुआ । परंतु जैन, बौद्ध और सिंहली-साहित्य के निर्माताओं ने दर्शक के नाम का उल्लेख न कर स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि अजातशत्रु का पुत्र उदयाश्व था । हमारे सामने ऐसा कोई कारण नहीं कि हम उदायी को अजातशत्रु का पौत्र मानें । पं. जयचन्द्र विद्यालंकार ने ‘भारतीय इतिहास की रूपरेखा’ में लिखा है कि ‘जैन अनुश्रुति’ तो उदायी को भी नंदों में गिनती है । यह भ्रामक है । यहाँ पर एक बात स्मरण रखनी आवश्यक है कि मगधनरेशों ने चम्पा और

१. भागलपुर से पश्चिम चार मील पर अवस्थित है । किसी समय अंगदेश की राजधानी थी । रामायण, मत्स्यपुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में चम्पा का वर्णन उपलब्ध होता है । जैनों के औपपातिक सूत्र में चम्पा के विकास का प्रत्यक्षदर्शी वर्णन मार्मिक ढंग से किया गया है । श्यू आन् चुआङ् भी चम्पा में आया था । उसने शहर के चारों ओर दीवाल के खंडितावशेषों का जो वर्णन किया है वह आज भी नाथनगर रेलवे स्टेशन के पास अवस्थित है । एक समय अंग मगध के ही आधिपत्य में था । चम्पापुरी जैनों का अत्यंत प्राचीन तीर्थस्थान माना जाता है । वहाँ भगवान् महावीर ने तीन चातुर्मास व्यतीत किये थे । वहाँ उनके अनेक शिष्यों का विहार हुआ करता था । भगवान् महावीर के आर्यासंघ की प्रधान श्रमणिका चंदनबाला यहीं की राजपुत्री थी । जैनों के बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य के पाँचों कल्याणक यहीं पर हुए । आज भी एक जैनमंदिर सुरक्षित है । दशकुमारचरित में आया है कि चम्पा में किसी समय बदमाशों की बस्ती अधिक थी । चम्पक श्रेष्ठि कथा से भी यह ज्ञात होता है ।

पाटलिपुत्र में राजधानियां परिवर्तित कीं। उस समय राजगृह को भी, जो मूल राजधानी थी, किसी प्रकार नुकसान न पहुंचे, इस बात का उन्हें पूर्ण ध्यान था। अतः वहाँ शिशुनागवंशीय किसी मांडलिक को राजा के रूप में नियुक्त किया था, जिसे 'इतिहास-दर्शक' या 'वंशक' के रूप में मानते हैं।

उदयाश्व भगवान् महावीर परम अनुयायी था। इसने पाटलिपुत्र बसाते समय औषधिशाला, जिनालय आदि बनवाये थे, जिनके उल्लेख 'आवश्यक सूत्रवृत्ति' और 'विविध तीर्थकल्प' में क्रमशः पाये जाते हैं।

“तं किर वियणगसंठियं णयरं णयराभिएय उदाइणा चेइहर कारावियं, ऐसा पाटलिपुत्तस्स उप्पत्ति”

- आवश्यक सूत्रवृत्ति

“तन्मध्ये श्रीनेमिचैत्यं राज्ञाऽकारी। तत्र पुरे गजाश्वरथशाला-प्रासादसौधप्राकार गोपुरचण्यशाला सत्राकार पोषधागाररम्ये चिरं राज्यं जैनधर्म चापालयदुयायि नरेन्द्रः।”

- विविध तीर्थकल्प, पृष्ठ ६८।

सन् १८१२ में पाटलिपुत्र के समीप दो मूर्तियां उपलब्ध हुई थीं, जो वर्तमान में कलकत्ता के इंडियनम्यूजियम में भरहुतगैलरी में सुरक्षित हैं। इन दोनों पर जो लेखोत्कीर्णित हैं, उनका डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने इस प्रकार वाचन किया था-

“भोग अचो छेनिधि से”

(पृथ्वी के स्वामी महाराज अज)

२ - सप्तख ने वन्दि

(सम्राट् वर्तिनन्दि)

ऐतिहासिक विद्वान् इनमें पाठ भेद मानते हैं। पर जायसवालजी का अनुमान है कि प्रथम प्रतिमा महाराज उदयाश्व की ही होनी चाहिए, 'अज'

१. अस्माकं महाराज दर्शकस्य भगिनी पद्मावती

- स्वप्नवासवदत्ता, अंक, १, पृष्ठ १४

अजातशत्रुर्भविता, सप्तत्रिंशत्समा नृपः।

चतुर्विंशत्समा राजा वंशकरस्तु भविष्यति ॥

- मत्स्यपुराण, अध्याय २७२।

उनका अपर नाम भी था, 'पट्टावली समुच्चय' में "अजयः उदासी उदायी" स्पष्टोल्लेख हैं ।

उदयाश्व का अन्त मुनिवेशधारी विनयरत्न की छुरी से ईस्वी सन् पूर्व ४६६ में हुआ । साथ ही साथ मगध साम्राज्य पर राज्य करनेवाले शिशु-नागवंश का भी अंत हुआ ।

नन्दकालीन पाटलिपुत्र

मगध की राजधानी पाटलिपुत्र को शिशुनाग-वंशीय श्री उदायी ने अपने पुरुषार्थ से समृद्ध करने की चेष्टा की थी, जिसके कारण उनकी कीर्ति दिग्दिगन्तव्यापिनी हुई । परन्तु उदयाश्व के पुत्र न होने से पाटलिपुत्र पर नन्दों का अधिकार हुआ । मगध के सिंहासन पर जैनकालगणना के अनुसार १५० वर्ष एवं अन्य गणनानुसार १०० वर्ष तक रहे । वह किस धर्म के अनुयायी थे, इसका प्रमाण कहीं कुछ नहीं मिलता । बौद्ध-साहित्य बिलकुल मौन हैं । ब्राह्मण-ग्रन्थ भी मूल्यवान् सूचना नहीं देते । जैन-साहित्य में जो उल्लेख हैं, उनसे कुछ धुंधला आभास मिलता है कि वे जैन थे । विंसेंट स्मिथ का कहना है कि वे नन्दराजा ब्राह्मणधर्म के द्वेषी और जैनधर्म के प्रेमी थे ।

केम्ब्रिज हिस्ट्री भी इस बात का समर्थन करती हैं । इस में कोई शक नहीं कि नन्दों के समय में जैनधर्म बहुत कुछ विकसित अवस्था में था । इस वंश के प्रारंभ से अंतिम नन्द तक के सभी प्रधान अमात्य जैन थे । असंभव नहीं है कि नन्द राजाओं ने एक ही वंश के मंत्रियों को अपनी सेवा के योग्य समझकर चुना हो ।

यशोभद्रसूरि

श्रीयशोभद्रसूरि पाटलिपुत्र में ही जन्मे थे । वे जाति से ब्राह्मण थे ! आपका जन्मकाल-सूचक संवत् अद्यावधि प्राप्त नहीं । परन्तु उनकी दीक्षा ईस्वी सन् पूर्व ४४२ में हुई थी । यहाँ पर नन्दीवर्द्धन का राज्याधिकार था । उपर्युक्त आचार्य अपने समय के परम गीतार्थ और प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् थे ।

अभी तक जैन-संघ के नेता एक ही होते आये थे, पर अब आर्य्य यशोभद्रसूरि के पट्ट पर सम्भूतिविजयसूरि और भद्रबाहु दोनों एक ही साथ आये । प्रथमाचार्य के विषय में केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे ईस्वी सन् पूर्व ३७० वर्ष में महाप्रस्थान को प्राप्त हुए ।

आर्य भद्रबाहु और स्थविर स्थूलिभद्र

यद्यपि **भद्रबाहु स्वामी पटना** के निवासी न थे, परंतु जैन-समाज के नेता होने के कारण बिहार से उनका घनिष्ठतम संबंध था । उन्होंने ने भारतीय साहित्य रूपी सरस्वती-मंदिर में ग्रंथ रूपी पुष्प प्रचुर प्रमाण में चढाये हैं । आचार्य **स्थूलिभद्र** कल्पकानुयायी नन्द के प्रधानमंत्री **शकडाल** के ज्येष्ठ थे । उनका जन्मकाल स्पष्टतः ज्ञात नहीं । ईस्वी पूर्व ३८० में उन्होंने मुनि-दीक्षा अंगीकार की । इतः पूर्व आप पाटलिपुत्र की सुप्रसिद्ध **गणिका कोशा** के यहाँ **१२ वर्ष** तक रहे थे । परंतु **वररुचि भट्ट** के राजनीतिक प्रपंचजाल से पिता की करुणाजनक मृत्यु के संवाद ने इन्हें जनकल्याण के प्रशस्त मार्ग की ओर चलने को बाध्य किया । उन्होंने ने पितृस्थान पर लघुबन्धु श्रियक को बैठाया ।

पाटलिपुत्री-वाचना

पाटलिपुत्र के इतिहास में यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण और अभूतपूर्व सुघटना है। भारतीय साहित्य के संरक्षण और विकास में इसका स्थान सर्वोच्च माना जाता है। आज मागधी या अर्ध मागधी भाषा का जो कुछ साहित्य उपलब्ध होता है, इसके लिए पाटलीपुत्र का जैनसंघ ही साधुवाद का अधिकारी है। विशाल जैन-साहित्यसम्मेलन की प्रथम सभा पाटलिपुत्र में होने के उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं।

नन्द-वंश के राजत्वकाल में मगध में १२ वर्षों का भयंकर दुष्काल पड़ा था, जिस कारण जैनमुनि अन्य देशों में प्रस्थान कर गये। फिर भी, कुछ मगध में रह गये और दुष्कालजनित कष्ट-परंपरा को धैर्यपूर्वक झेलते हुए अपने अंतिम साध्य-आध्यात्मिक विकास की साधना में तत्पर रहे। दुष्काल उन्हें अपने कठोर मार्ग से विचलित न कर सका। यह तो मानना ही होगा कि विचारों पर दुष्काल का प्रभाव भले ही न पड़े, पर शरीर पर तो अवश्य ही पड़ता है। अध्ययन सुव्यवस्थित न हो सकने के कारण बहुसंख्यक मुनि कंठीकृत शास्त्रों को भूल गये। मगध में रहनेवाले मुनियों की संख्या ५०० थी, जिनके नेता स्थ. स्थूलिभद्र थे। वे उन दिनों प्रकांड विद्वानों में गिने जाते थे। आंशिक कंठस्थ श्रुतज्ञान को पुनः सूत्रारूढ करने की भावना से उत्प्रेरित होकर पाटलिपुत्र के श्रीसंघ ने उनको खास तौर से रोक रखा था। बाद में चतुर्विध संघ और नन्दराजा की पूर्ण सहायता से कंठस्थ साहित्य को ग्रन्थ का रूप देने का पुनीत कार्य प्रारंभ हुआ, जिसमें २ वर्षों से कुछ अधिक समय लगा। उन्होंने

ने ११ अंगों को तो सुव्यवस्थित रूप से ग्रन्थारूढ किया, पर १२वां दृष्टिवाद भद्रबाहु को छोड़कर कोई जानता न था। वे उन दिनों नेपाल में महाप्राणायाम-ध्यान की साधना में तल्लीन थे। पाटलिपुत्र के जैनसंघ ने मुनियों को नेपाल भेजकर उनसे कहलाया कि स्थूलिभद्र की अध्यक्षता में बहुत कार्य हो चुका है, अवशिष्ट कार्य की पूर्ति के लिए आपकी अपेक्षा है। अतः आप कृपया यहाँ चले आईए। भद्रबाहुने सकारण पाटलिपुत्र आने में असमर्थता प्रकट की। मुनियों से संघने उपर्युक्त संवाद सुना, तब पुनः अन्य मुनियों को भेजकर कहलाया कि संघाज्ञा का उल्लंघन करनेवालों को क्या दंड दिया जाय ? आचार्यश्री ने कहा, “उसे संघ से बहिष्कृत कर दिया जाय” आचार्यश्री ने दीर्घ दृष्टि से विचारकर कहा कि महाप्राणायाम-ध्यान चल रहा है। अतः मैं तो न आ सकूंगा। श्रीसंघ मेरे पास यदि किन्हीं सूक्ष्मप्रतिभासम्पन्न मुनियों को भेजें तो उपर्युक्त कार्य यहीं पर बैठा हुआ मैं पूर्ण कर सकता हूँ। संघ को उपर्युक्त संवाद मिला। ५०० मुनियों को लेकर स्थूलिभद्र नेपाल को चले ! परंतु, वहाँ बहुत समय में अल्प अध्ययन के कारण बहुसंख्यक मुनि धैर्य न रख सके। अतः वे क्रमशः खिसकने लगे। केवल स्थूलिभद्र ही रह गये। वह आठ वर्षों में आठ ही पूर्व का पारायण कर सके। भद्रबाहुने कहा कि अब मेरी साधना पूर्ण होने को है। अतः अधिक अध्ययन-कार्य चलेगा। स्थूलिभद्र इतने बड़े विद्वान् स्थविर होते हुए भी अपने आप पर अधिकार न रख सके। कहने लगे, “प्रभो, अब कितना अध्ययन अवशिष्ट है। आचार्यश्री ने कहा अभी तो बिन्दु मात्र हुआ है, समुद्रतुल्य शेष है।” ईस्वी पूर्व ३५६ में भद्रबाहु का स्वर्गवास हुआ।

इस प्रकार स्थूलिभद्र ने आपत्ति काल में मगध में रहकर जत्त-साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की। इसी कारण मगध-संस्कृति के इतिहास में इनका स्थान अनुपम है। जैन साहित्य में पाटलिपुत्र-परिषद् प्रसिद्ध है। आवश्यक निर्युक्ति हरिभद्रसूरि कृत उपदेश-पद^१ आदि ग्रन्थों में इस घटना का वर्णन

१. जाओ अ तम्मिसमए दुक्वालो दोय वसय वरिसाणि ।

सब्बो साहुसमूहो गओ जलहितीरेसु ॥

तदुवरमे सोपुणरवि पाडलिपुत्ते समागओ विहिया ।

संघेणं सुयविसया चिन्ता किं कस्स अत्थेति ॥

जंजस्स असिपासे उम्मसज्झयण माइ संघेडिउं ।

तं सब्बं एक्कारयं अंगाई तहेव ठवियाई ॥

विस्तार के साथ दिया गया है ।

स्थूलिभद्र ईस्वी पूर्व ३११ में पाटलिपुत्र में ही स्वर्गस्थ हुए । इनका स्मारक अरक्षित अवस्था में आज भी गुलजारबाग (पटना) स्टेशन के सामने **कमलहृद (कमलदह)** में वर्तमान है । ईस्वी सन् की ७ वीं शताब्दी में भी उपर्युक्त स्थान का अस्तित्व चीनी यात्री **श्युआनचुआङ्** के उल्लेख से प्रामाणित होता है । उन दिनों निर्वाण-स्थान सार्वत्रिक प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुका था । चीनी यात्री लिखता है कि-

“पाखंडियों के रहने का स्थान-उपाश्रय वहां है ।”

पाखंडी कहने का तात्पर्य धार्मिक असहिष्णु मनोवृत्ति ही है । ऐतिहासिक दृष्टि से इस उल्लेख का बहुत बड़ा मूल्य है । आचार्य स्थूलिभद्र के समय में मगध में जबर्दस्त राजनीतिक परिवर्तन हुआ, नन्द वंश का नाश और मौर्य साम्राज्य का उदय ।

मौर्य काल

संसार का नियम है कि जब राजनैतिक परिवर्तन होता है, तब जानतिक शांति स्वाभाविक रूप से भंग हो जाती है । विकृत वायुमंडल की सृष्टि से जन-जीवन विक्षुब्ध होकर प्रवाहों में बहने लगता है । आत्मिक विभूतियों का संस्मरण, अन्य समस्याएँ सम्मुख रहने के कारण, हो नहीं पाता । आध्यात्मिक साधना के लिए भौतिक शान्ति अनिवार्य भले ही न हो, पर आवश्यक अवश्य है । मानव एक सामाजिक प्राणी है । अतः सामयिक परिस्थिति के प्रभाव से बच नहीं सकता । आज की बात तो नहीं कर रहा हूँ, परंतु प्राचीन काल की बात है कि राजनीतिक परिवर्तनों के सब से कटु अनुभव उनको हुआ करते थे जो किसी भी प्रकार के वाहन का उपयोग न कर, पाद-भ्रमण को ही महत्व देते थे । जिस देश की जनता ने वर्षों तक सांस्कृतिक जीवन बिताया हो, वह चाहे कैसी भी भीषण परिस्थिति आये, फिर भी आनुवंशिक संस्कारों के कारण सद्विचारों का त्याग नहीं कर सकती । मगध की जनता तो भगवान् महावीर और बुद्ध-जैसे जन-कल्याणकारक ऋषियों के उपदेशामृतों का पान कर चुकी थी, अपितु उनके औपदेशिक स्वर्णिम सूत्रों को आत्मसात् भी करने के सौभाग्य से मंडित थी । अतः परिस्थिति की भीषणता ने मगध के समाज के बाह्यावरणों पर आंशिक प्रभाव डाला सही; पर हृदय एवं मस्तिष्क में किसी भी प्रकार की दुर्भावनाओं का उदय न होने दिया । अतः मगध का सांस्कृतिक

वायुमंडल परिमार्जित ही रहा ।

जिस प्रकार मगध के सिंहासन पर पूर्व दो राजवंश जैनधर्मानुयायी थे, मौर्य भी जैनधर्म को विशेष आदर की दृष्टि से देखते थे । इनमें **चन्द्रगुप्त, सम्प्रति**, आदि प्रमुख हैं । वर्तमान ऐतिह्यतत्त्वविदोंने अब मौर्य का जैनत्व स्वीकार कर लिया है । जैनसाहित्य में महाराजा **सम्प्रति** का वही स्थान है, जो बौद्धसाहित्य में **अशोक** का । इसने जैनसंस्कृति के प्रभाव को केवल भारत में ही वेग नहीं दिया, अपितु विदेशों में भी जैनधर्म के व्यापक प्रभाव के लिए सब कुछ किया ।

आर्यसुहस्तिमूरि

इनका परिचय उपलब्ध नहीं होता । केवल इतना ही ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व ३०५ में दीक्षित हुए तथा ईस्वी पूर्व २८१ में जैनसंघ के नेता बने । स्थूलिभद्र की बहन यक्षाने पुत्रवत् इनका पालन किया था । एक समय आपने पाटलिपुत्र आने पर वसुभूति नामके श्रीमंत को नवतत्त्वादि का ज्ञाता बनाकर जैनधर्म में दीक्षित किया । आपके काल में एक घटना ऐसी घटी, जिसका बहुत कुछ महत्व है । मौर्यकुलदिनमणि सम्राट् संप्रति को इन्हीं आचार्यों ने पूर्व भव में प्रबुद्ध किया था । उसने अनार्य देशों में जैन संस्कृति के प्रचारार्थ अपने सैनिकों को जैनमुनियों का वेश पहनाकर, वहाँ के लोगों को समझवाया कि मुनियों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए । बाद में सच्चे जैनश्रमण भेजे, जैसा कि **आवश्यक निर्युक्ति, निशीथचूर्णि, परिशिष्ट पर्व** आदि ग्रन्थों से फलित होता है । आज भी यूनान में **समनिया** नामक एक ऐसी जाति पाई जाती है, जो मांस-मदिरा सेवन करना बहुत बुरा समझती हैं । रात्रिभोजन न करनेवाला इस जाति में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है । यह '**समनिया**' श्रमण शब्द का विकृत ही रूप हो, तो मानना होगा कि सम्प्रति द्वारा प्रबोधित जैनों के अवशेष हैं । गवेषणा की अपेक्षा है ।

वाचक उमास्वाति

आप स्वयं अपना परिचय इस प्रकार देते हैं-श्री **उमास्वाति** वाचकेश **श्रीशिव** श्रीप्रव्रज्या के प्रशिष्य थे । ११ अंग के धारक **श्रीघोषनन्दि क्षमण** (महातपस्वी क्षमण) के प्रव्रज्या शिष्य थे । महावाचक मुंडपाद के वाचना प्रशिष्य थे । वाचकाचार्य्य मूल के वाचना शिष्य थे । **न्यग्रोधिका** के रहनेवाले

थे, **कौभीषिणी** गोत्रवाले थे । स्वाति (पिता) और वात्सी गोत्रवाली **उमा** (माता) के पुत्र थे । उच्चानागरी शाखा के वाचनाचार्य्य थे । आपने गुरुगम से अर्हद्वाणी को ग्रहण करके **कुसुमपुर (पटना)** में मिथ्याशास्त्र वचन में फंसे हुए जीवों के हित के लिए तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र बनाया । आपका नाम था **उमास्वातिजी**^१ । **श्री जिनप्रभसूरिजी** ने अपने '**विविध तीर्थकल्प**'^२ में भी उमास्वाति का उल्लेख गौरव के साथ किया है ।

उमास्वाति के अस्तित्व पर प्रकाश डालनेवाले ऐतिहासिक साधनों का अभाव है । केवल प्रशस्ति में जो **उच्चानगरी** शब्द आया है उसी पर कुछ कल्पना की जा सकती है । यह शाखा विक्रम की प्रथम शती से तीसरी शती के मध्यकाल का सूचन करती है । जब तक किसी पुष्ट प्रमाण की उपलब्धि नहीं होती, तब तक यदि उमास्वाति का यही अस्तित्व समय मान लिया जाय तो आपत्ति ही क्या है । यही मगध के प्रथम विद्वान् हैं, जिन्होंने ने सर्वप्रथम जैनसाहित्य के निर्माण में संस्कृत भाषा का उपयोग किया । इतः पूर्व प्राकृत या उसकी उपभाषाओं में ही जैनसाहित्य ग्रथित होता था ।

पादलिप्तसूरि और पाटलिपुत्र का मुरुण्ड

पादलिप्तसूरिजी यों तो **अयोध्या** के निवासी थे, परंतु पाटलिपुत्र के

१. वाचक मुख्यस्य शिवश्रिय, प्रकाशयस प्रशिष्येण ।
शिष्येण घौषनन्दिक्षमणस्यैकादशांगविदः ॥ १ ॥
वाचनया च महावाचकक्षमण मुंदपाद शिष्यस्य ।
शिष्येण क्ष वाचकाचार्य मूलनाम्न प्रथिकीर्ते ॥ २ ॥
न्यग्रोधिका प्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
कौभीषणिना स्वाति तनयेन वात्सी सुते नाध्यम् ॥ ३ ॥
अर्हद्वचनं सभ्यग गुरुक्रमेणागतं समुपघार्य ।
दुखार्तं च दुरागम विहित मर्ति लोडम वगम्य ॥ ४ ॥
इदमुच्चैर्नागिरवाचकेन, सत्वानुकंपया दुब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं, स्पष्टमुमा स्वातिना शास्त्रम् ॥ ५ ॥

—तत्त्वार्थसूत्रीय प्रशस्ति

२. उमास्वातिवाचकश्च कौभीषणिगोत्रः पंचशतसंस्कृतप्रकरण प्रसिद्धस्तत्रैव तत्त्वार्थाधिगमं सभाष्यं व्यरचयत् । चतुरशीतिर्वादशालाश्च तत्रैव विदुषां परितोषाय पर्यणं सिषूः ।

इतिहास में भी आपका इतना महत्वपूर्ण स्थान है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । व जब पाटलिपुत्र पधारे, तब मुरुंड का शासन था । सूरिजी की प्रशंसा वह पूर्व सुन चुका था । ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष मिलने पर अनिर्वचनीय आनंद की प्राप्ति होना स्वाभाविक है । राजाने स्वबुद्धिबल से जब पुनः सूरिजी का परीक्षण किया तो और भी स्नेह संवर्द्धित हुआ । कारण कि मुरुंड स्वयं गीता कथित वाङ्मयतप करते थे, उत्कृष्ट विद्वान् इनकी सभा के भूषण थे ।

एक समय मुरुंड के मस्तिष्क में पीडा उत्पन्न हुई । सूरिजी ने स्वयं तर्जनी को घुटने पर फिरा कर पीडा शान्त की (संभव है नसों से संबंध रखनेवाली यह घटना हो) । इस प्रसंग पर प्रकाश डालनेवाली एक गाथा निशीथ भाष्यादि ग्रन्थों में इस प्रकार आई हैं—

जह जह पएसिणि जाणुयंमि पलित्तउ भमाडेई ।

तह तह से सिर वियणा पणस्सई मुंडरायस्स ॥

राजा प्रकृतिस्थ होने पर सूरिजी के निवासस्थान पर जाकर प्रतिदिन धार्मिक वार्तालाप करने लगा । राजाने आचार्यश्री से प्रश्न किया कि “महाराज हमारे वेतनभोगी भृत्य भी चित्त लगाकर काम नहीं करते और आपके शिष्य बिना किसी प्रकार के वेतन के सारा कार्य दत्तचित्त होकर करते हैं एवं सदैव आपके आदेश की प्रतीक्षा करते हैं ।” आचार्यश्री ने कहा ‘हे राजन्, हमारे शिष्य उभय लोक साधक भावना के वशीभूत होकर हमारी आज्ञा का तत्परता से पालन करते हैं ।’ राजा को विश्वास न हुआ । पर, बाद में “गंगा किस दिशा में बहती हैं” इसकी जाँचके लिए राजनृत्य और मुनि पृथक् पृथक् भेजे गये । मालूम हुआ “गंगा पूर्वमुखी बहती हैं” । इस घटना का उल्लेख जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण विशेषआवश्यकभाष्य में किया है—

निवपुच्छिण भणियों गुरुणा गंव्यवा कुओं मही वहइ ।

संपाइयवं सीसो जह तह सव्वत्थ कायव्वं ॥

तित्थोगली पयन्ना और विविधतीर्थकल्प में प्रतिपदाचार्य का उल्लेख आया है । वे कौन थे ? विचाराधीन प्रश्न हैं । परंतु आंशिक नाम भेद एवं घटना समय साम्य को देखकर जी ललचाता है कि पादलिप्तसूरि या महेन्द्र

१. इस घटना का सुविस्तृत उल्लेख प्रभावकचरित्रान्तर्गत पादलिप्तसूरि चरित्र श्लोक ४४से ९० तक किया गया है । स्थनाभाववशात् मूलउद्धरण देने का लोभ संवरण करना पड रहा है ।

को ही क्यों न पाडिवत् या प्रातिपदाचार्य मान लें । प्रभावकचरित्र में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है । प्राचीन-प्राकृत साहित्य में भी इनका प्रासंगिक उल्लेख पाया जाता है ।

अब यहाँ पर दो प्रश्न प्रमुख रूप से उपस्थित होते हैं । प्रथम, मुरुंड कौन था और द्वितीय पादलिप्ताचार्य का समय क्या हो सकता है । मुनि कल्याण विजयजी के मतानुसार मुरुंड कुषाण थे और पादलिप्त के समकालीन मुरुंड राजा कुषाणों के राजस्थानीय थे । पुराणों में इनका नाम 'वनस्पर्णि' (अशुद्ध विश्वस्फाटिक, स्फणि स्फूर्ति) था । इस आधार पर तो पादलिप्त का समय विक्रम की दूसरी शती का अंत भाग या तीसरी का आरंभ काल मानना होगा । अच्छा तो यह होगा कि पादलिप्त के समय को ठीक से जानने के पूर्व हम मुरुंडों के इतिहास को समुचित रूप से जान लें । यों तो भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इसपर प्राप्त सामग्री के आधार पर अपने-अपने अभिमत व्यक्त किये हैं । कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ. प्रबोधचन्द्र बागचीने इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस में प्राचीन इतिहास विभाग के आसन से जो भाषण दिया है, वह बड़ा ही गंभीर एवं तथ्यपूर्ण है, जो मुरुंडों की स्थिति पर सार्वभौमिक प्रकाश डालता है । स्टीन कोनो मुरुंड को शक मानते हैं, कारण कि शक भाषा में मुरुंड का अर्थ होता है स्वामी । पर बागची इससे भिन्न मत रखते हैं; गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के इलाहाबादस्थ लेख में मुरुंड का पता चलता है । खोह के छठवीं शताब्दी ताम्रपत्र में भी आता है । उच्चकल्प-उचहरा के महाराज सर्वनाथ की माता मुरुंडदेवी या मुरुंड स्वामिनी थीं (वही पृष्ठ ४०) ।

फ्रांस के सुप्रसिद्ध अन्वेषक प्रोफेसर सिलवेनलेवी ने अपनी स्वतंत्र खोजों के अनुसार प्राचीन चीनी साहित्य में भी मुरुंड शब्द का पता लगाया है । सन् २२२-२७७ के बीच दूत मंडल फूनान के राजा द्वारा भारतवर्ष भेजा गया । करीब ७००० लीकी महदयात्रा समाप्त कर के मंडल इंगित स्थान को पहुँचा । तात्कालिक भारतीय सम्राट् ने फूनान के राजा को बहुत-सी भेंट वस्तुएँ भेजी, जिनमें यू-ची देश के चार अश्व भी सम्मिलित थे । फूनानवाले भारतीय दूत-मंडल की मुलाकात चीनी दूत से फूनान दरबार में हुई । भारत के संबंध में पूछे जाने पर दूतमंडलने बतलाया कि भारत के सम्राट् की पदवी 'मिउ-लुन' थी और इसकी राजधानी, जहाँ वह रहता था, दो शहर पनाहों से

१. दि प्रोसीडिंग्स ऑफ दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस सिक्स्थ सेशन १९४३ ।

२. यह शब्द चीनी भाषा में मुरुंड का रूपांतर मात्र है ।

घिरी थी एवं शहर की खातों में जल सरिता की नहरों से आता था । पाठक सोच लें यह पाटलिपुत्र का ही सुस्मरण कराता है । वही पृष्ठ ४० ।

बहुत परिपक्व आधारों के न रहते हुए भी यह तो कहा ही जा सकता है कि कुषाण और गुप्तकाल के बीच मुरंड राज्य करते थे । टेलेमी^१ की भूगोल और चीनी साहित्य के आधारों से अवगत होता है कि ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में मुरंड पूर्वी भारत में राज्य करते थे । (वही पृष्ठ ४०)

प्रोफेसर बागची ने अंतिम निर्णय यही दिया है कि मुरंड, तुखारों के साथ प्रथम तो भृत्यों के रूप में आये, बाद में उन्होंने स्वतंत्र राज्य स्थापित किया यू-ची अश्वों से ही उनका यू-ची देश से संबंध प्रतीत होता है । मुरंड, कुषाणों की तरह तुखारों का एक कबीला था, जो कुषाणों के पतन और गुप्तों के अभ्युत्थान के इतिहास के बीच खाली हिस्से की पूर्ति करता है ।

ग्रीक और रोमन लेखक जैसे **स्त्राबो**, **लीनो** और **पेरिगेट एक फ्रिनोयी** या **फ्रुनि** नामक कबीले का नाम लेते हैं, जो तुखारों के सन्निकट रहता था । फ्रिनी का संस्कृत रूपांतर मुरंड भलिभांति हो सकता है । इसी को वायु आदि पुराणकारोंने मुरंड न लिखकर पुरंड या पुरंड लिखा है । (वही पृष्ठ ४१ ।)

मत्स्य, वायु और ब्रह्मांड पुराणों के आधार पर १४ तुखार राजाओं के बाद उनका राज्यकाल १०७ या १०५ वर्षों तक सीमित था । १३ मुरंड या मुसंड राजाओंने मत्स्यपुराण के अनुसार २०० वर्ष तक और वायु तथा ब्रह्मांड के अनुसार ३५० वर्ष तक राज्य किया । लेकिन, **पार्जितर** के अनुसार ३५० वर्ष २०० वर्ष का अपवाद है, क्योंकि विष्णु और भागवत पुराणों में मुरंडो का राज्यकाल ठिक-ठिक १९९ वर्ष दिया है^२ । अब पौराणिक काल-गणना के अनुसार तुखारों ने १०७ या १०५ वर्ष राज्य किया । और अगर तुखार और कुषाण एक ही है तो कुषाणों का राज्य १८३ या १८५ ईस्वी तक आता है । अगर इस गणना में हम मुरंड राज्यकाल के भी २०० वर्ष जोड़ दें तो मुरंडो का अन्त करीब ३०५ ईस्वी में पड़ता है । समुद्रगुप्त द्वारा विजय भी इसी काल के आसपास आकर पड़ता है^३ ।

१ इनका अस्तित्व समय ईस्वी सन् ८० है ।

२ “डाइनेस्टीज ऑफ कलि एज”, पृष्ठ ४४-४५, लंदन १९१३ ।

३ प्रेमी-अभिनंदन ग्रन्थ, पृष्ठ २३२ ।

इतने लम्बे विवेचन के बाद एक प्रश्न और भी जटिल हो जाता है कि मुरंड राज्यकालावधि के किस भाग में पादलिप्ताचार्य हुए ? मुरंड राज्यकाल १८५ ईस्वी से ३८५ तक रहा। आश्चर्य की बात तो यह है कि इतिहास कारों ने किसी भी राजा को नाम से संबोधित करना न जाने क्यों उचित नहीं समझा। नामाभाव के कारण कठिनाई और भी बढ़ जाती है। अनुयोगद्वारा की अनुश्रुत्यनुसार पादलिप्त का समय विक्रम की प्रथम शताब्दी ठहरता है। जब मुरंड स्वतंत्र शासक न होकर कुषाणों के ही सेवक थे। बृहत्कल्पभाष्य भाग तीन, पृष्ठ २२९-९३ में एक कहानी आती है, जिससे फलित होता है कि पाटलिपुत्र के मुरंड ने एक दूत पेशावर भेजा था, जो राजा से तीन दिन तक न मिल सका। इससे पाटलिपुत्र के मुरंडो और पुरुषपुर-पेशावर के कुषाणों के घनिष्ठ संबंध का पता चलता है। साथ ही साथ उपर्युक्त ग्रन्थान्तर्गत विभिन्न सांस्कृतिक उल्लेखों से तात्कालिक धार्मिक और राजनैतिक स्थितियों का धूंधला चित्र अंकित होता है। कुषाणों की धर्मान्धता के कारण जैनों को कष्ट झेलना पड़ा। परंतु कनिष्क और वासुदेवकाल में वे स्वतंत्रतापूर्वक उपासना कर सकते थे, जैसा कि मथुरा के शिलालेखों से अवभासित होता है।

दाहड और महेन्द्र

पादलिप्तसूरि के प्रसंग में उपाध्याय महेन्द्र और पाटलिपुत्र के राजा दाहड का उल्लेख पाया जाता है^१। यह राजा लेशमात्र भी धर्म की परवा न

१. अथो महेन्द्रनामाऽस्ति शिष्यस्तेषां प्रभावभूः ।

सिद्धप्राभृतनिष्णातस्तद्वृत्तं प्रस्तुवीमहि ॥

नगरी पाटलिपुत्रं वृत्रारिपुरसप्रभम् ।

दाहडो नाम राजाऽत्र मिथ्यादृष्टिर्निकृष्टधीः ॥

दर्शनव्यवहाराणां विलोपेन वहन्मुदम् ।

बौद्धानां नग्नताम् शैलव्रजे निर्जटतां च सः ॥

वैष्णवानां विष्णुपूजात्याजनं कौल दर्शने ।

धम्मिल्लं मस्तके नास्तिकानामास्तिकतां तथा ॥

ब्राह्मणेभ्यः प्रणामं च जैनर्षीणां स पापभूः ।

तेषां च मदिरापानमन्विच्छन् धर्मं निह्वी ॥

आज्ञां ददौ च सर्वेषामाज्ञाभंगे स चादिशत् ।

तेषां प्राणहरं दंडमत्र प्रतिविधिर्हि कः ॥

करता था। बौद्ध साधुओं को अनावृत करवा देता था। शैव साधुओं की जटाएँ मुंडवा देता था। वैष्णव साधुओं को मूर्ति-पूजा छुड़वाने को बाध्य करता था। जैनसाधुओं को सुरापान के लिए मजबूर करता था और ब्राह्मणों को चरणों में प्रणाम करवाता था। पाटलिपुत्र के संघने इस अत्याचार को शान्त करने के लिए भरीच से उपाध्याय महेन्द्र को बुलाया, जिसने अपनी शक्ति से राजा को प्रबुद्ध कर न केवल जैन ही बनाया, अपितु कई ब्राह्मणों सहित जैन-मुनि-धर्म की दीक्षा भी अंगीकार करवाई। (प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ३५)

तिथ्योगालीपयन्ना भी एक कलंकी राजा की सूचना देता है। तात्कालिक कुषाण राजाओं के लेखों एवं ब्रह्मांड, वायुपुराणों से प्रमाणित होता है कि वह राजा वनस्फर ही था। परंतु, इतिहासविदों में एतद्विषयक मतैक्य नहीं है। **जिनप्रभसूरि भी कलंकी** राजा की सूचना करते हैं। हो सकता है वह वनस्फर ही हो, जिसका समय ईस्वी सन् ८१ से १२० तक था।

मुझे यहाँ पर प्रासंगिक रूप से सूचित कर देना चाहिए कि इन दिनों बिहार की कला पर **ईरानी प्रभाव पर्याप्त** था। **वसाढ** की जो मृण्मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, जिनमें दो मस्तक प्रधान हैं, उनमें वर्तुलाकार टोप और चांगेदार टोपी हैं, जो स्पष्टतः विदेशी हैं। इसका निर्माण-काल मौर्यान्त या शुंगकाल निर्द्धारित किया गया है। मैंने बालकों के खिलौने की कुछ चदरें देखी हैं। उनके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि वे ईरानी कला से बहुत-कुछ अंशों में साम्य रखती हैं।

यद्यपि मागधीय प्रस्तरों पर उत्कीर्णित प्राचीनतम कलावशेषों का सुव्यवस्थित अध्ययन अद्यावधि नहीं हो पाया है। फिर भी अपेक्षित ज्ञान और साधनों की अपूर्णता के कारण जो कुछ भी खंडित सांस्कृतिक प्रतीक उपलब्ध हुए हैं, उनको देखने से पता लगता है कि अशोक के राज्यकाल में ईरानी कला

नगरस्थितसंघाय समादिष्टं च भू भूजा ।

प्रणम्या ब्राह्मणाः पुण्या भवद्भिर्वोऽन्यथा वधः ॥

धन-प्रमादिलोभेन मेने तद्वचनं परैः ।

निष्किचनाः पुनर्जनाः पर्यालोचं प्रपेदिरे ॥

देहत्यागान्न नो दुःखं शासनस्याप्रभावना ।

तत् पीडयति को मोहो देहे यायावरे पुनः ॥ (?)

- प्रभावकचरित्र, पृष्ठ ३४ ।

के कुछ अलंकरण सौंदर्य सम्पन्न होने के कारण बिहार के कलाकारों ने अपना लिये थे ।

ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में ईरानी व्यापारी बनकर **मथुरा** तक आ गये थे । ऐसी स्थिति में उनकी कला का प्रभाव भारत पर पडना असंभव नहीं । जहाँ सांस्कृतिक और बुद्धिजीवी राष्ट्र या मानवों का पारस्परिक सम्मेलन होता है, वहाँ एक दूसरों के उन्नतिमूलक तत्त्वों का आदान-प्रदान होता ही है ।

बिहार में मुरुंड और कुषाणकाल के प्राचीन प्रतीक मृण्मूर्तियाँ ही हैं । पुराण, जैन और चीनीसाहित्यों से स्पष्ट विदित होता है कि बिहार के कुछ भागों पर विदेशी मुरुंडों का आधिपत्य था । बिहार में सूर्यपूजा का जो विस्तृत प्रचार पाया जाता है, तदनुसार सूर्य की जो प्राचीन कलापूर्ण संख्यातीत मूर्तियाँ नालन्दादि खंडहरों में उपलब्ध होती हैं, उनसे प्रमाणित होता है कि वे भी ईरान के ही प्रभाव के प्रतीक हों, तो आश्चर्य ही क्या है । क्योंकि सूर्यपूजा ईरानियों में शताब्दियों पूर्व ही प्रसिद्ध थी ।

यों तो **श्रमणभगवान महावीरकालीन** सामाजिक आचार-पद्धति का अध्ययन करने से मालूम होता है कि बिहार में सूर्य और चन्द्र-पूजा विशिष्ट प्रकार से की जाती थी । बालक-जन्म के बारहवें दिन सूर्य-चन्द्र की मूर्तियाँ बनवाकर सूर्य-चन्द्र के दर्शन का विधान समाप्त किया जाता था । सूर्य के प्राचीन अवशेष-मंदिर, सरोवर आदि आज भी **नालन्दा में** वर्तमान हैं^१ । परंतु आश्चर्य है कि इस पर कला की दृष्टि से आज तक कुछ अध्ययन हुआ ही नहीं ।

पाटलिपुत्र और वैशाली में अभी तक पूर्णतया वैज्ञानिक रूप से खुदाई नहीं हुई । मेरा विश्वास है कि बिहार-सरकार यदि सांस्कृतिक भावनाओं से उत्प्रेरित होकर उपर्युक्त स्थानों में उत्खनन कराये तो न केवल प्राचीन मागधीय उन्नत सांस्कृतिक तत्त्वों का ही ज्ञान होगा, अपितु **मुरुंड-समस्या** और कला पर ईरानियों के प्रभाव का प्रश्न भी बहुत-कुछ अंशों में सुलझ जायगा ।

इन पंक्तियों का लेखक **वैशाली** के खंडहरों को व खुदाई से प्राप्त मृण्मूर्तियों को देख चुका है, जो **पटना-आश्चर्यगृह** में सुरक्षित हैं । आज भी वैशाली में पुरातन दुर्ग की दीवारों के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हैं, कतिपय मूर्तियाँ वहाँ के विस्तृत जलाशय पर बने एक मंदिर में सुरक्षित हैं । अन्य ऐतिहासिक सामग्री वहीं के एक किसान के पास विद्यमान हैं ।

१. मुनि कान्तिसागर “मेरी नालन्दायात्रा”।

वज्रस्वामी

इनका जन्म ईस्वी सन् ३० में वैश्य-कुल में हुआ था। गुरु^१ के स्वर्ग-वासान्तर वह पाटलिपुत्र उद्यान में आकर ठहरे। उनकी देह की कांति कामदेव को भी लज्जित करती थी। नगर-जन क्षुब्ध न हों, इस हेतु वे अपना वास्तविक रूप छिपाकर व्याख्यान देने लगे। पर, जनता ने सोचा कि वाणी के अनुसार गुरु का रूप नहीं है। तब आपने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया।

पाटलिपुत्र में जैन-आर्याएँ ठहरी हुई थीं । स्थानीयश्रेष्ठि की पुत्री ने उनके मुख से वज्रस्वामी के गुणों की स्तुति सुनी । अतः उन पर अनुरक्त होकर पिता से कहा कि मेरे स्वामी **वज्र** ही होंगे, अन्यथा अग्नि-शरण जाऊंगी । अब पिता, पुत्रीसहति विराट् संपत्ति को लेकर महाराज के पास आया । सारा वृत्तान्त निवेदित किया ।

आचार्यश्री ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि “हे भाई क्या तुम रेणु से रत्नराशि, तृण से कल्पवृक्ष, गर्त से गजेन्द्र, काक से राजहंस, मातंग-गृह से राजमहल एवं क्षार जल से अमृत के अनुसार, कुद्रव्य और विषयास्वाद से मेरे तपोबल का अपहरण करना चाहते हो ? भोगयुक्त धन से तो आत्मा के गुणों का पतन होता है । आपकी पुत्री सचमुच यदि मुझ पर अनुराग रखती हैं, तो वह ज्ञानदर्शन ग्रहण करें ।” यह सुनकर पुत्री रुक्मिणी ने दीक्षा अंगीकार की । फिर यहाँ से वे उडीसा की ओर प्रस्थित हुए ।

१. गुरौ प्रायाद दिवं प्राप्ते वज्रस्वामिप्रभुर्ययी ।
पुरं पाटलीपुत्राख्यमुद्याने समवासरत् ॥
अन्यदा स कुरुपः सन् धर्मं व्याख्यायद् विभुः ।
गुणानुरूपं नो रूपमिति तत्र जनोऽवदत् ॥
अन्युद्युश्चारुरूपेण, धर्माख्याने कृते सति ।
पुरक्षोभभयात् सूरिः कुरुपोऽभूज्जनोऽब्रवीत् ॥
प्रागेव तदगुणग्रामगानात् साध्वीभ्यः स आदृतः ।
धनघ्य श्रेष्ठिनः कन्या रुक्मिण्यत्रान्वरज्यत ।

- प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ६ ।

तत्रैव (पाटलिपुत्र) महाधनधनश्रेष्ठिनन्दनीरुक्मिणी श्रीवज्रस्वामिनं पतीयन्ति
प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोभं चूडामणिना प्रव्राजिता ।

- 'विविधतीर्थकल्प', पृष्ठ ६१ ।

आर्यरक्षित सूरि

आपका जन्म ईस्वी पूर्व ४ में हुआ था। ईस्वी १८ में दीक्षा ग्रहण की। आप वेद-वेदांग के पारगामी विद्वान् माने जाते थे। सरस्वती की तीव्र साधना से उत्प्रेरित होकर आप पाटलिपुत्र आये और १४ विद्याओं का गंभीर अध्ययन किया^१। इस उल्लेख से सूचित होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में, पाटलिपुत्र में ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाएँ इतनी विस्तृत हो चुकी थीं कि इतर प्रान्तीय लोगों को अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करने के लिए यहाँ आना अनिवार्य होता था। आप जैनमुनि होने के बाद भी पाटलिपुत्र में आये थे^२। आपने जैनसाहित्य को **धर्मकथानुयोग, चरणकरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग** चार विभागों में विभाजित किया। ईस्वी ३१ में आपका स्वर्गवास हुआ।

गुप्त और अंतिम गुप्तों के समय में पाटलिपुत्र की जैनदृष्टि से कैसी उन्नति रही होगी, पर्याप्त साधनों के अभाव में कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गुप्तों ने अपनी राजधानी का भी परिवर्तन कर दिया था। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री श्युआन-चुआङ् पाटलिपुत्र में आया था। उसने यहाँ के स्थूलिभद्र के निर्वाण-स्थान का जो उल्लेख किया है, उस पर से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उन दिनों जैन-समाज अवश्य ही उन्नतावस्था में रहा होगा और वह स्थान भी सार्वभौमिक प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुका होगा।

चीनी यात्री ने आगे चलकर सूचित किया है कि **कमलदह** में पाखंडियों के रहने का स्थान-उपाश्रय है। इससे यह ध्वनित होता है कि जैन मुनियों का वहाँ निवास रहा करता था। इन दिनों वे नगर-निवास न कर उद्यान में ही ठहरते थे। पाखंडी कहने का कारण जैन-बौद्ध असहिष्णुता ही

१. अतृप्तः शास्त्रपीयूषे विद्वानप्यार्यरक्षितः ।

पिपठोस्तद्विशेषं स प्रययी पाटलीपुरम् ॥

अचिरेणापि कालेन स्फुरत्कुण्डलिनीबलः ।

वेदोपनिषदं गोप्यमायैष्ट प्रकृष्टधीः ॥

- प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ९ ।

२. अखंडितप्रयाणैः स शुद्धसंयमयात्रया ।

संचरन्नाययौ बन्धुसहितः पाटलीपुरम् ॥

- प्रभावक चरित्र, पृष्ठ १२ ।

हैं। आज भी यह स्थान एक टीले पर सुरक्षित हैं। पुरातत्व-विभाग या जैन-समाज के नेताओं को चाहिए कि वे वैज्ञानिक दृष्टि से उसका खनन करवाएँ।

नागभट्ट-नागावलोक

इसे इतिहास में नागभट्ट, नागलोक और आम भी कहते हैं। यह मौर्यवंशीय यशोवर्मा का पुत्र था। ग्वालियर इसकी राजधानी थी। राजगृह पर आक्रमण कर उसने समुद्रसेन को परास्त किया था। १२ वर्ष तक छावनी डालकर उनसे लड़ा था। इसके पौत्र भोज का ननिहाल पाटलिपुत्र के शासक के यहां था। राजगृह के आक्रमण के बाद ही उनका पारिवारिक संबंध पाटलिपुत्र के शासक के साथ जुड़ा। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ग्वालियर के शासक को मगध पर आक्रमण करने के लिए किन तत्त्वों ने उत्प्रेरित किया। क्योंकि ग्वालियर से मगध पड़ता भी दूर है, एवं मार्ग में अनेक छोटे-मोटे भिन्न-भिन्न राज्य पड़ते थे। यह सचमुच में एक समस्या है। तात्कालिक और तत्परवर्ती जो कुछ भी ऐतिहासिक साधन-सामग्री उपलब्ध हो सकी है, उनमें से ऐसा कोई भी उल्लेख अवलोकन में नहीं आया जो समुद्रसेन का ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित कर सके और पाटलिपुत्र के शासक का नाम भी अवलोकन में नहीं आता। संभवतः उन दिनों पाटलिपुत्र साधारण ग्राम के रूप में था। इस घटना का उल्लेख केवल प्रभावकचरित्र (रचना काल १३३४ विक्रम) में ही आता है। जिनप्रभसूरिजी, भी मौन हैं। अतः मानना होगा कि चौदहवीं शताब्दी तक इस घटना को सार्वत्रिक जानकारी का रूप न मिला होगा, अथच 'विविधतीर्थकल्प' कार अवश्य ही कुछ न कुछ लिखते। आम का राजत्वकाल विक्रम की नवीं शती पड़ता है।

विन्सेंट-ए-स्मिथ की अर्लि हिस्ट्री ऑफ इंडिया से पता चलता है कि आमकाल में मगध पर पाल राजाओं का अधिकार था, जो बौद्ध-मतावलम्बी थे। ईस्वी सन् की ८वीं ईशताब्दी में इनकी राजधानी ओदंडपुर-उदंडपुर में थी। यहाँ उन्होंने ने विराट् बौद्ध विहार का निर्माण करवाया। जो इस समय नगर के वायव्य कोण में निर्जन पहाड़ पर है। इसमें अवलोकितेश्वर की चंदन की प्रतिमा प्रतिष्ठित थी। इसी उदंडपुर का बौद्ध बिहार प्रसिद्ध होने के कारण ही वर्तमान बिहार का नाम बिहार पड़ा जान पड़ता है। शरीफ शब्द मखदूमशाह की, कब्र होने के कारण जोड़ दिया गया।

१. खंडहरों का वैभव, पृ. ४४।



इनकी कब्र ईस्वी सन् १५६९ में बनी। इनकी मृत्यु ईस्वी १३८० में हुई, जैसा कि “जरनल ऑफ दि रायल-एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल १८३९” पृष्ठ ३५० से अवगत होता है। स्मरण रखना चाहिए कि चौदहवीं शताब्दी के ऐतिहासिक ग्रंथों में उदंडविहार शब्द वर्तमान बिहारशरीफ सूचक अर्थ में आया है। यहाँ के जमींदार बाबू जवाहरलालजी सुचन्ती के संग्रह में पालकालीन एक बौद्धमूर्ति है, जिस पर उदंडपुर का नाम स्पष्टोत्कीर्ण है।

पालकालीन मगध बहुत ही उन्नत था। खासकर तत्कालीन शिल्प-कला का विकास यहाँ चोटी पर था। यद्यपि इस काल से संबंधित गृह उपलब्ध नहीं हैं, केवल जैन, बौद्ध एवं वैदिक तथा तंत्र शास्त्रों से संबंधित भिन्न-भिन्न प्रकार की जो प्रतिमाएँ उपलब्ध होती हैं, उन्हीं पर से कहना पड़ता है कि कलाकार मस्तिष्क एवं हृदय द्वारा मंथित उन्नत मनोभावों का व्यक्तिकरण सुकुमार कर द्वारा बड़े सुंदर ढंग से कर पाये हैं। इन प्रतिमाओं में वस्त्रविन्यास, शारीरिक गठन, एवं हाव-भाव की मुद्राएँ भरत मुनि के नाट्य शास्त्र का मूर्त रूप उपस्थित करती हैं। तदुपरि जो आभूषण पाये जाते हैं, वे न केवल उन दिनों के आर्थिक और सामाजिक विकास के ही ज्वलंत प्रतीक हैं, परंतु, हमें वे इस बात की शिक्षा देते हैं, कि उन दिनों कौन-कौन से आभूषण ऐसे थे, जिनका प्रथमोल्लेख संस्कृतादि साहित्यिक ग्रंथों में आया, तथा उनमें से कब-कब कलाकारों ने उनको पाषाणों पर अवतारित किया। ये विषय साधारण प्रतीत होते हैं, परंतु, फिर भी प्रतिमा या गृह का निर्माणकाल निर्धारित करना हो तो इनसे बड़ी मदद मिलती है। वे ही आभूषण आगे चलकर प्रान्तीय रूप धारण कर लेते हैं या एक ही अलंकरण पृथक्-पृथक् प्रान्तों में अपने-अपने ढंग से पनप जाता है।

उदाहरणार्थ, हंसली आप किसी प्रान्त के पुरातत्त्व में देखें, तो उनमें हंसली अवश्य पायेंगे। पर उनका अपना अलग-अलग स्थान है। छठवें कालमें, कर्णकुंडल, नागावलि आदि पाये जाते हैं जो अपने एक राज्यकाल के सूचक हैं। इन विषयों के गंभीर अध्ययन करते समय हम केशविन्यास-कला की उपेक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि प्रत्येक राज्यकाल में उनमें भी सामयिक परिवर्तन हुआ ही करते हैं। परंतु, बिहार के विद्वानों का ध्यान अभी-तक इन महत्वपूर्ण विषयों पर आकृष्ट नहीं हो पाया है, यह दुर्भाग्य का विषय है।

यहाँ पर प्रासंगिक रूप से मुझे स्पष्ट कर देना चाहिए कि ईसा की सातवीं शताब्दी में पटना की हालत सुरक्षित नहीं थी। पालकालीन ताम्रपत्रों से

मगध की उन्नतिपूर्ण स्थिति बारहवीं शताब्दी में आकर पतनोन्मुख हो जाती है। कुतुबुद्दीन-सरदार बख्तियार के पुत्र मुहम्मद ने ईस्वी सन् ११९७ के करीब बिहार पर भीषण आक्रमण किया, इसमें न केवल जानतिक्त ही क्षति हुई; अपितु, जो अकथनीय सांस्कृतिक क्षति हुई, उसे यहाँ किन शब्दों में व्यक्त किया जाय ! हृदय उद्वेग से भर आता है। हजारों ब्राह्मण और बौद्ध-साधु निर्दयतापूर्वक कत्ल किये गये। साथ ही साथ न जाने कितने वर्षों के अथाह परिश्रम द्वारा संचित विविध विषयक साहित्यिक ग्रंथों को बुरी तरह जलाया गया। इस हत्याकांड में जैनों को भी बहुत बड़ा नुकसान उठाना पड़ा। मुसलमान सरदारों ने बिहार के पाटनगर पर ईस्वी सन् १२४३ में अधिकार किया।

वाचनाचार्य राजशेखर

पाटलिपुत्र (पटना) का जैन पुरातत्त्व ३७७

पावापुरी, नालन्दा की भक्तिसिक्तहृदय से यात्रा कर, उदंडविहार अथवा बिहार (पटना) में वि. १३५२ में चातुर्मास किया^१। यद्यपि इसमें पाटलिपुत्र का नामोल्लेख नहीं है। परंतु, उनके आवागमन की भौगोलिक स्थिति को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वे पाटलिपुत्र अवश्य ही आये होंगे। और महत्वपूर्ण घटना घटित नहीं होने के कारण नामोल्लेख नहीं किया होगा।

इन दिनों बिहार में महत्तियाण^२ जाति के अधिक जैनी थे। उनकी स्थिति आर्थिक दृष्टि से अच्छी थी। उन लोगोंने अपना एक स्वतंत्र जैनमंदिर भी बनवाया था जो आज भी मथियान महल्ला में बहुत ही जीर्ण दशा में वर्तमान है। कुछ लोग इसे खरतरगच्छीय मंदिर होने के कारण उठाने के विचार में हैं, परंतु, प्राचीन ऐतिहासिक स्मारक-रूपी मंदिर को हटाने में बुद्धिमानी नहीं होगी। राजगृह, नालंदा और पावापुरी के कुछ प्रसस्तरोत्कीर्ण एवं प्रतिमा-लेखों के अन्वेषण से अवगत हुआ कि १७-१८ शती तक महत्तियाणों का प्राधान्य रहा, दाद के गौरव-सूचक उल्लेख नहीं के बराबर मिलते हैं।

कुरपाल-सोनपाल

दोनों भाई आगरे के निवासी थे। आपने आगरे से बिहार स्थित सम्मेदशिखर-पार्श्वनाथ हिल्स के लिए विराट् संघ निकलवाया था। संवत् १६७१ में वह संघ पाटलिपुत्र भी आया था। उन दिनों यहाँ ऋषभदेव स्वामी एवं पार्श्वनाथ स्वामी के दो श्वेतांबर जैन मंदिर थे। आज भी यहाँ के मंदिरों में

१ सं. १३५२ जिनचन्द्रसूरिगुरुपदेशेन वा. राजशेखराणिः सुबुद्धिराजगणि हेमतिलकगणिपुष्पकीर्तिगणिरत्नसुंदर मुनिसहितः श्रीबृहदग्रामे विहृतवान्। ततश्चतत्र्य रू. रत्नपाल सा. चाहडप्रधान श्रावक प्रोषिताभ्यां स्वभ्रातृहेमराजभागिनेयवांचू श्राविकाभ्यां परिवारभ्यां सा. बोहिथ पुत्रेण सा. मूलदेवश्रावकेण श्रीकौशाम्बी-वाणारसी-काकिन्दी-राजगृह-पावापुरी-नालन्दा-क्षत्रियकुंड ग्राम-अयोध्या-रत्नपुरा-दिनगरेषु-जिनजन्मादि पवित्रितेषु तीर्थयात्राकृता।

- युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, पृष्ठ ६०।

२. इस वंश की विशाल ऐतिहासिक प्रशस्ति (वि. सं. १४४२ आषाढ वदि ६) दो पाषाणों पर वर्तमान में राजगृह में स्व. बाबू पूरणचन्दजी नाहर के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें फिरोजशाह, उनका मंडलेश्वर तथा तदधीन सेवक सहणासदुरदीन के नामोल्लेख है। बिहार के ऐतिहास्यत्व गवेषकों का मैं इस पर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं।

जो दो-चार बड़ी जैन-प्रतिमाएँ हैं, उनपर इनका लेख खुदा हुआ है। हो सकता है, इन्होंने यहाँ पर प्रतिमाएँ रखी हों। पाटलिपुत्र के जायसवाल **जैनीसाह और खंडेलवाल मयणु** ने संघ को भोज दिया था, इसका वर्णन ठीक उसी समय बने एक रास में दिया गया है। यह रास तत्कालीन बहुत से बिहार के भौगोलिक तथ्यों की सूचना देता है। इन दिनों पटना में **महत्तियाण** जाति के जैन बसते थे। उपर्युक्त रास में कहा गया है कि आगे पावापुरी जाने का मार्ग संकड़ा था, अतः बैलगाडियाँ यहीं पर छोड़कर डोलियाँ (पालकी) करनी पड़ी। वानरवन भी पटना के सन्निकट बताया गया है और **महानदी** पार कर बिहार में प्रवेश करने का उल्लेख है। यह उल्लेख शायद **बख्तियारपुर और हरनौत** के बीच जो विशाल नाले पड़ते हैं, उन्हीं से संबंधित है।

कविवर बनारसीदास

सत्रहवीं शताब्दी के दार्शनिक ग्रन्थ-प्रणेता और हिन्दी के उत्कृष्टतम ग्रन्थ-निर्माता साधक कवियों में **बनारसीदास** का स्थान भी महत्वपूर्ण माना जाता है। आपने हिंदी कविता साहित्य की दो रूपों से अभिवृद्धि की, स्वतंत्र ग्रन्थ निर्मित कर और प्राकृत-संस्कृत भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थों का प्रामाणिक अनुवाद कर आपने आध्यात्मिक धारा को ही अपनाया था। भौतिकवादी तत्त्वों को प्रोत्साहन देनेवाली कविता के निर्माण का कटुफल आप युवावस्था में ही चख चुके थे। इनका साहित्य जनकल्याण के लिए प्रचार-योग्य है। हिन्दी के जीवनचरित्र-विषयक ग्रन्थों में **अर्धकथानक** इनकी अमर कृति मानी जाती है। इनके पिता **खरगसेन** पाटलिपुत्र आये थे। उनको यहाँ उदर-रोग भी उत्पन्न हुआ था^१। इनकी बड़ी पुत्री यानी बनारसी की बहन का विवाह भी पाटलिपुत्र में ही वि.सं. १६६४ में हुआ था^२। कविवर स्वयं नरोत्तमदास के साथ व्यवसायार्थ पटना आये और यहाँ ६-७ मास तक रहे^३। इन उल्लेखों से विदित होता है कि उन दिनों पाटलिपुत्र में **श्रीमाल जाति** के लोग भी बस

१. मासि चारि ऐसी विधि भए, खरगसेन पटने उठि गए

साठै करि पटनेसो गीन, खरगसेन आए निज भोन

२. खरगसेन पटने मां आइ, जहमति परे महा दुख पाई।

उपजी विया उदर के रोग, फिरि उपसमी आउवलजोग २४०

- अर्धकथानक

३. आयौ संवत चौसठा, कहाँ तहाँ की बात। २७७

गये होंगे, और आज भी उनके कुछ घर हैं, जिनमें **बाबू पदमसिंह बदलिया** प्रमुख हैं ।

हीरानन्द साह

बंगाल के राजनैतिक इतिहास में जगत्सेठ का स्थान महत्वपूर्ण है । १८ वीं शताब्दी में उनके वंश के सदस्यों की परिगणना बंगाल के भाग्यविधाताओं में की जाती थी । उनका घनिष्ठ संबंध पटना से भी था । स्पष्ट कहा जाय तो न केवल यहाँ से उनका पारिवारिक संबंध ही था, अपितु उनके कुछ भाई **पटना** में रहते भी थे । अतः कहना चाहिए कि जगत् सेठ की उन्नति की पूर्व भूमिका पाटलिपुत्र में ही निर्मित हुई ।

जगत्सेठ और उनके वंशजों की सुकृति पर प्रकाश डालनेवाले गुजराती और अंगरेजी भाषा में कुछ ग्रंथ मिले हैं । मुझे कलकत्ता के स्वर्गीय **बाबू पूर्णचंद्रजी** नाहर के संग्रह से **माणक्यदेवीरास** नामक ऐतिहासिक कृति प्राप्त हुई है, जिसमें जगत्सेठ की माता का संपूर्ण जीवनचरित वर्णित है । इस कृति को मैं इसलिए प्रामाणिक मानता हूँ कि इसके निर्माता यति निहाल, वर्षों तक उनके सान्निध्य में रहे एवं माणकदेवी के स्वर्गस्थ होने के ठीक तेरहवें दिन इसकी रचना की ।

उपर्युक्त 'रास' में बताया गया है कि गंगानदी के तीर पर, **शाहीजादपुर में विडाणी गोत्रीय पूरणमल** की धर्मपत्नी **गुल्लो** बहु की

खरगसेन श्रीमालके हुती सुता द्वै ठोर

एक बियाही जौनपुर, दुतिय कुमारी और । २७८

सौऊ ब्याही चौसठे, संवत फागुन मास

गई पाडलीपुर विसैं, करि चिंता दुख नास । २७८ (अर्धकथानक)

बैठे तब उठि बोले साहु, तुम बनारसी पटनें जाहु । (अर्धकथानक)

१. विडाणीई गोत्रीय जैनों की पर्याप्त संख्या १७वीं शताब्दी से ही शाहीजादपुर में होने का उल्लेख सोनपाल, कुंवरपाल, संघवर्णन में (संवत् १६७१) तथा भिन्न-भिन्न तीर्थमालाओं में पाया जाता है । सम्मेशिखर के मंदिरों में एक लेख भी पाया गया है ।

कविवर बनारसीदासजी का पारिवारिक संबंध भी यहाँ से था । १७-१८ शती की तीर्थमालाओं में जैनों के गौरवपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं । पता नहीं, वर्तमान में क्या हाल है ।

रत्नकुक्षि से संवत् १७३७ श्रावण वदि एकादशी के दिन किशोरकुवरी-अन्नो का जन्म हुआ । क्रमशः युवावस्था प्राप्त होने पर हीरानन्द के पुत्र माणिकचंद्र के साथ उनका विवाह हुआ । धनधान्य से परिपूर्ण होने के कारण उनका माणिकदेवी नाम ससुराल में रखा गया ।

बात यह है कि जगत्सेठ के पूर्वज गहिलडा गोत्रीय हीरानन्द मूलतः नागौर के निवासी थे; पर बंगाल जाने के पूर्व पटना में बस गये^१ । इनके सात पुत्रों में से कुछ एक बंगाल की ओर गये एवं कुछ पाटलिपुत्र में ही रह गये । पाटलिपुत्र में हीरानन्द ने जैन-धर्म के मंदिर एवं श्रीजिनदत्तसूरिजी की दादाबाड़ी^२ बनवायी थी, जैसा कि उनके दस्तावेजों से प्रतीत होता है । वर्तमान में, वह पाटलिपुत्र स्थित समस्त जैन-संस्थाओं के प्रधान कार्यवाहक सेठ मंगरचन्द्रजी शिवचंद्र झावक के अधिकार में हैं । इस समय पटना सिटी चौक के उत्तर एक गली पायी जाती है, जिस हिरानन्द हासकी गली कहते हैं । इसका संबंध उपर्युक्त हीरानन्द से ही है । कहा जाता है आपका बनवाया हुआ मकान भी किसी समय सुरक्षित था; पर वह कालवशात् गंगा के गर्भ में प्रविष्ट हो गया । घाट भी आप ही का बनवाया हुआ है । स्मरण रखना चाहिए की हिरानंद, शाहजादा सलीम के कृपा-पात्र एवं खास जौहरी थे^३ । पटना जैसी ही दिल्ली में भी हिरानन्द की गली प्रसिद्ध है ।

१. नगर सुवश पटणैवसै, ओशवंश सिरदार ।
गोत गहिलडा जगप्रगट, दौलतवंत दातार ॥ १ ॥
हीनन्द नरीन्द्रसम, माँनै सहु कोई आंण ।
सत पुत्र तेहने प्रगट, अद्भुत गुण माणि खांण ॥ २ ॥
माणकचंद्र नरेन्द्रसम, चौदह विद्या भंडार ।
लछन अंग बत्तीस तसु, काम तणों अवतार ॥ ३ ॥
वर देषित हरषित भए, कीनो तिलक तिवार ।
करी सझाई व्याहनी, रची बरात विस्तार ॥ ४ ॥

—माणकदेवी रास

२. यह स्थान वर्तमान पटना सिटी स्टेशन के दक्षिण में पडता है ।
३. आयौ संवत् इकसठा, चैत मास सित दूज । २२३
साहिब साह सलीम की, हिरानन्द मुकीम ।
ओसवाल कुल जौहरी, धनिक वित्त की सीम ॥ २२४

— अर्धकथानक, पृष्ठ २१ ।

गुजराती साहित्य में पटना

मगध, जैन-संस्कृति का प्रधान क्षेत्र होने के कारण, एवं जैनो के ऐतिहासिक अति प्राचीन तीर्थ तथा शासनाधीश्वर बर्द्धमान महावीर की विहार-भूमि होने के कारण जैन-मुनियों का एवं बृहत्तर संघो का आगमन समय-समयपर यहाँ हुआ ही करता था । यद्यपि वर्तमान-समान पूर्वकाल में आवागमन की सुविधा नहीं थी, तथापि भक्त लोग बड़े-बड़े संघों को लेकर तीर्थलाभ प्राप्त करते थे । जैनश्रमण पश्चिम भारत से पैदल चलकर १८वीं शताब्दी में अधिकांश रूप से मगध आये थे । उनमें से बहुतों ने अपने भ्रमण को लिपिबद्ध कर ऐतिहासिक महत्व प्रदान किया है, जो गुजराती भाषा में परिगुम्फित हैं । बिहार के इतिहासतत्त्व-गवेषकों का ध्यान इस ओर जाना चाहिए । यद्यपि चीनी यात्रियों के समान वर्णन का स्थान विशेषतः विशिष्ट रूप से वर्णित नहीं हैं, तथापि तत्कालीन बिहार के प्रधान नगर एवं प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानों के भावपूर्ण वर्णन-परंपरा की उपलब्धि होती है । १७ वीं शताब्दी के बाद के बिहार का ऐतिहासिक परिच्छेद बिना इनके अध्ययन के पूर्ण नहीं हो सकता । मुझे यहाँ पाटलिपुत्र से संबंधित जो उल्लेख मिले हैं, उन्हीं की चर्चा अपेक्षित है । विक्रम संवत् १७१७ में लिखित तीर्थ-मालाओं में पाटलिपुत्र का उल्लेख करते हुए कवि मुनि विजयसागर इस प्रकार लिखते हैं -

पहुता^१ पुरवर पाडली^२ भेटया^३ श्रीगुरुहीरोजी^४
थूभि^५ नमु थिरथापना^६ नन्दपहाडिनि तीरो जी
सीरीओ^७ सुदर्शन पादुका, थूलिभद्र वहिनड^८ सातोजी
अवर अनेक इहां हुआ, पुहुक^९ पुरुष वीख्यातोजी
नयरि मझारिं दोई देहरां^{१०}, खमणावसही एकोजी
बिम्ब बहूअ देहरासरे, धरि-धरि नमुंअ विवेकोजी
संघ मिल्यो श्रीअ आगरा, पाडलीपुर नओ समेल्यो जी

- प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, पृष्ठ ५

उपर्युक्त उल्लेख में सूचित किया गया है कि उन दिनों पटना में राजा नन्द की पांच पहाडियां प्रसिद्ध थीं और आज भी हैं । स्थूलिभद्र श्रमण के

१. पहुंचा, २. पाटलीपुत्र, ३. भेटे, ४. विजयहीरसूरि, ५. स्तूप, ६. स्थापना ।

७. श्रियक स्थूलिभद्र के छोटे भाई, ८. बहनें, ९. पृथ्वी, १०. मंदिर ।

मुनि सौभाग्यविजय ने वि.सं. १७५० में समस्त बिहार प्रान्त के जैन और अजैन तीर्थों पर ऐतिहासिक दृष्टि से अन्वेषण करते हुए जो विचार व्यक्त किये हैं, उनपर ध्यान दिया जाना चाहिए। उन्होंने ने पटना को प्रमुख मानकर यहाँ से चतुर्दिग् कितनी दूरी पर कौन-सा तीर्थ हैं, उसका लक्षण कैसा है, मंदिर कितने हैं, मार्ग में कितने कोस पर कौन-कौन ग्राम पडते हैं, उनमें मुखिया कौन हैं, आदि बातों का जैसा वर्णन पद्यबद्ध रूप में किया है। शायद बिहार के किसी भी कवि ने नहीं किया होगा। आपने पाटलिपुत्र की उत्पत्ति भी दी है, जिसकी चर्चा बहुत पहले मैं कर चुका हूँ। वे भी सूचित करते हैं कि दो जैन-मंदिर पाटलिपुत्र में और एक **बेगमपुरमें** था। महाराजा नन्द की पंच पहाडी इन दिनों इंटों के टीले के रूप में प्रसिद्ध थी, यह केवल किंवदंती रह गई थी^१। स्थूलिभद्र का जन्मस्थान भी आपने पाटलिपुत्र ही बताया है^२। एक तीर्थमाला में **हाजीपुर** को उनकी जन्मभूमि माना है^३। पटना के जैनों को कविने धर्मात्मा और धनवंत रूप से उल्लेख किया है। यहाँ मैं सूचित कर दूँ कि उपर्युक्त वर्णन सुना-सुनाया नहीं, बल्कि स्वयं पाद-विहार करते हुए वे पाटलिपुत्र आये थे, चातुर्मास में रहे थे, और अपनी उक्ति को बाद में लिपिबद्ध किया था।

जिस किसी भी नगर का इतिहास लिखना हो, उसके पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि तत्रस्थ समस्त साधनों का पर्यवेक्षण हो, जिनमें शिलालेखों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। क्योंकि प्रस्तरोत्कीर्ण शिलाखंडों पर सीमित स्थान में ही, विशिष्ट भावों का अंकन होता था। इसी कारण से शिलालेखों की

- पाटलिपुत्र (पटना) का जैन पुरातत्त्व ३८३

यथार्थता असंदिग्ध होती हैं । पाटलिपुत्र में जैन-संस्कृति के व्यापक प्रभाव-सूचक उल्लेख प्राचीन प्राकृत-संस्कृत साहित्य में विद्यमान हैं । उल्लेख प्रस्तर पर खुदे हुए उतने प्राचीन और कहीं नहीं मिले हैं । पाटलिपुत्र से संबंधित लेखों में से कुछ एक का उल्लेख यहाँ नीचे दिया जाता है ।

(१) संवत् १६८२, मार्गशीर्ष शुदी ५ सा. कटारमल तस्यात्मज सा. कल्याणमल पुत्र चिन्तामणि श्रीजिनकुशलसूरि बेगमपुर वासतव्य ।

(२) संवत् १३९९ पूर्वदेशे पाडलिपुरनगरे बेगमपुर^१ ।

(३) तपागच्छै भ. श्री ५ श्रीहीरविजयसूरि जगत पाटुकेभ्यो नमः पम. चन्द्रकुशल गणि नित्यं प्रणमतिश्च । संवत् १७६२ वर्ष कार्तिक शुक्ल ९ सा. वेणिदास पुत्र भीमसेन पुत्र मायाचन्द विराणी गोत्रे प्रतिष्ठितम् वीराणी मयाचन्द प्र. क. पाडलिपुरे ।

तीन लेख इस लेख से साम्य रखनेवाले उपलब्ध हुए हैं, अतः उनका उल्लेख नहीं किया ।

(४) १८४८ वर्षे मार्गशिर वदि ५ सोमवारे श्रीपाडली वास्तव्य श्रीसकलसंघ सुमदायेन श्रीस्थूलभद्रस्वामीजी प्रसादस्य कारापितं कार्य्यस्वास्वरी श्रीतपागच्छीय श्राद्धः श्रीलोढा श्रीगुलाबचन्दजी प्रतिष्ठितं सकलसूरिभिः ।

(५) सं. १८४८ ॥ भाद्र सुदि ११ श्रीसंघेन । श्रुतकेवलि श्रीस्थूलभद्राचार्याणां देवगृहं कारयित्वा तेषां चरणन्यासः कारितः प्रतिष्ठत श्रीअमृतधर्मवचनाचार्यैः ॥

(६) संवत् १८४८ मिति भद्र सुदि ११ तिथौ ॥ श्रीपाटलिपुत्रे माल्हु गोत्रे सा. हुकुमचन्दजी पुत्र गुलाबचन्द भार्या फुल्लों वीवीकया इष्टसिध्यर्थ श्रीचतुर्विंशतिजिनमातृस्थापना कारिता प्रतिष्ठिता च श्रीजिनभक्तिसूरि प्रशिष्य श्रीअमृतधर्म वाचनाचार्यै श्रीरस्तु ।

(७) १८५२ वर्षे पोष शुक्ल ५ भृगुवासरे पडलीपुर वास्तव्य । श्रीसकलसंघसमुदायेन श्रीविशाल स्वामी । श्री पार्श्वनाथ स्वामी प्रसादस्य-जीर्णोद्धारं कारापितं । कार्य्यस्याग्रेश्वरी तपागच्छीय श्राद्धः ।

१. यह स्थान पटना सिटी स्टेशन के उस पार हैं । आज भी श्रीजिनदत्तसूरिजी का स्थान बना हुआ है ।

कुहाड श्रीज्ञानचन्द्रजी प्रतिष्ठितं च श्रीसकलसूरिभिः शुभं भूयात् ।

(८) शुभ संवत् १८७७ वर्षे वैसाख शुक्ल पंचम्यां चन्द्रवासरे श्रीजिनकुशलसूरीश्वर सद्गुरुणा चरणपादुका प्रतिष्ठिता श्रीमद्बृहत्खरतर-गच्छे भट्टारक-श्रीजिनअक्षयसूरि-पट्टालंकृत-श्रीजिनचन्द्रसूरिभिः श्रीमत्-पाटलिपुत्र-वास्तव्य-समस्तश्रीसंघैः प्रतिष्ठा कारापिता । पं । गणि श्रीकीर्त्युदयोपदेशात् ॥ श्रीरस्तु ।

(९) संवत् १८७७ वर्षे वैशाख शुक्ल पंचम्या चन्द्रवासरे श्रीजिनकुशलसूरीश्वर सद्गुरुणाम् चरण पादुका प्रतिष्ठिता भट्टारक श्रीजिनअज (? क्ष) यसूरि पट्टालंकृत श्रीजिनचन्द्रसूरिभिः मनेर वास्तव्य श्रीमालान्वये बदलिया गोत्रे सुश्रावक श्रीकल्याणचंद्र तत्पुत्र श्रीभग्गुलाल कीर्तचन्द तत्पौत्र किसनप्रसाद अभयचंद्रादि परिवारेण स्वश्रेयोर्थम् प्रतिष्ठा करापिता पं । ग-कीर्त्य (द) योपदेशत् ।

(१०) श्री संवत् १९१० शाके १७७५ साल मिति वैसाख शुक्ल पंचम्यां गोरो पाटलीपुत्र सर जिनालय पूर्वक श्री श्रीनेमनाथ मंदिर जेसवाल माणकचंद्र तत्पुत्र मटरूमल तत्पुत्र सीवनलाल प्रतिष्ठा कारापितं श्रीअस्तु ॥

उपर्युक्त शिलालेखों में सत्रहवीं शताब्दी के बाद जो सुकृत किये गये थे, उनमें से कुछ एक के ही उल्लेख यहां हैं । **विडाणी** गोत्र के जैनों की कीर्ति पावापुरी, सम्मेदशिखर आदि तीर्थों में नामोत्कीर्णित हैं । पटना में निवास करनेवाले जैनों की वंशावली नहीं मिलती और जो कुछ प्राप्त होती भी है, वह ४-५ पीढ़ी से ऊपर नहीं जा सकती । अतः यह शंका होने लगती है कि यहाँ के स्थायी निवास करनेवाले जैनी कौन थे ? क्योंकि वर्तमान पटना में जो श्वेताम्बर जैनी निवास करते हैं, वे १००-१५० वर्ष पूर्व के नहीं हैं । ये लोग **लखनऊ या कानपुर** से आकर यहाँ स्वतंत्र बस गये या किसी की गोद आये ।

गुजराती साहित्य के पाटलिपुत्र संबंधित **उल्लेखों से पता** चलता है कि उन दिनों यहाँ जैनों की संख्या पर्याप्त थी । स्थानीय वयोवृद्ध इतिहासप्रेमी **बाबू पन्नालालजी कोचर (सभापति, पटना-जैन-प्रगतिशील सभा)** से मुझे मालूम हुआ कि ४० वर्ष पूर्व जैनयतियों (काम चलाउ जैन धर्म गुरु)के उपाश्रय-निवासस्थान चार-पांच थे, जिनमें से **गोविन्दचंदजी गोकुलचंदजी** प्रमुख थे । इनके मरने के बाद उपाश्रयों की संपत्ति पर उन्हीं के चले

पाटलिपुत्र और जैन-पुरातत्त्व

यों तो पाटलिपुत्र के इन खंडहरों पर कोई सहृदय, सूक्ष्मदर्शी लिखने बैठे तो आसानी से १००० पृष्ठ लिख सकता है। मैंने अपना क्षेत्र प्रस्तुत प्रबन्ध में अत्यंत सीमित रखा है। अतः पाटलिपुत्र में जो जैन-कलात्मक प्रतिमाएँ, मंदिर आदि मिले हैं, उनकी एवं स्थानीय संग्रहालयों में जो सामग्री मेरे विषय से संबंधित है, उन्हीं की चर्चा करूंगा। पुरातत्त्व सांस्कृतिक इतिहास रूपी

भवन-निर्माण में प्रधान साधन हैं। स्थानीय पाटलिपुत्र आश्चर्यगृह और सिटी के अनन्य कलाभक्त दीवान बहादुर श्रीयुत राधाकृष्णजी जालान के संग्रह में जैन-कला के उत्कृष्टतम नमूने विद्यमान हैं। जालानजी का संग्रह मैंने देखा है। वहाँ पाच अष्टाधातु कि प्रतिमाएं तथा चार पाषाण मूर्तियां हैं जो सोलहवीं-सत्रहवीं शती की हैं। किसी एक को मंदिर स्थित काष्ठ चौखट के उपरि भाग में रखा गया है, जिसके मध्यभाग में जैन-कलश और चतुर्दश स्वप्न सुंदर उत्कीर्णित हैं। निःसंदेह यह जैन-मंदिर का ही भाग है। क्योंकि चौदह स्वप्न और किसी भी धर्म के अवशेषों में नहीं मिलते। ये काष्ठ का अलंकरण ओडिसा का प्रतीत होता है। कारण कि उस पर भुवनेश्वर की शिखराकृति स्पष्ट है। यह १४ वीं शताब्दी का ज्ञात होता है। आज भी ओडिसा के कलाकार काष्ठ को अपना माध्यम बनाए हुए हैं। इनके अतिरिक्त हस्तलिखित ग्रन्थों का संकलन भी अच्छा ही है। कुछ जैन-चित्रकला के नमूने हैं, जिनमें संवत् भी लिखे गये हैं। रंग और रेखाओं के विकास की दृष्टि से कलाकारों को चाहिए कि इनका निष्पक्ष मनोभावों से अध्ययन करें।

स्थानीय श्वेतांबर मंदिर के अग्रभाग में विराट काष्ठ-पट्टिका के ऊपर एक भावपूर्ण, प्रभावोत्पादक वर-यात्रा उत्कीर्णित हैं। बिहारियों की घुटनों तक धोती, देह पर अर्धउत्तरीय वस्त्र, सिर पर पगड़ी आदि विशिष्ट वेशभूषा एवं पालकी की आकृति तथा रथचक्र प्रभृति उपकरणों को देखकर, बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि यह बिहार के शिल्पियों द्वारा शुद्ध खनि कलात्मक प्रतीक के नमूने हैं। यहां पर प्रश्न उपस्थित होता है कि यह वरयात्रा किसकी होनी चाहिए? क्योंकि बिहार की सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि केन्द्रित करने से विदित होता है कि प्रान्त में घटित घटनाओं में ऐसी कोई जनश्रुति नहीं जिसका वरयात्रा से विशेष संबंध हो। परंतु मालूम होता है, यह जैनों के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की बारात है। अन्य प्रान्तीय शिल्प-स्थापत्य कला में भी इसे स्थान दिया गया है।

पटना सिटी (बाड़े की गलीवाले) श्वेतांबर जैन मंदिर में भी तीन प्रतिमाएँ वर्तमान हैं, जिनमें दो जैन और एक बौद्ध हैं। एक जैन-प्रतिमा पर सप्तफणी सर्प की आकृति होने से पार्श्वनाथ-जो ऐतिहासिक व्यक्ति थे उनका ज्ञान होता है। इस मूर्ति में कुछ ऐसी विशेषता है जो बिहार की कुछेक मूर्तियों को छोड़कर और कहीं भी न मिलेगी। यह जैन-प्रतिमा स्पष्टतः बौद्धकला से प्रभावित है। कारण कि प्रतिमा पर इस प्रकार जो उत्तरीय वस्त्र पड़ा हुआ है

और जिससे दोनों हाथ ढंके हुए हैं, वह भगवान बुद्ध की मूर्ति के समान ही हैं। जैन-तीर्थकरों की अद्यावधि जीतनी भी प्राचीन प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, उनपर इस प्रकार वस्त्रचिह्न कहीं नहीं पाया जाता। जैन-स्थापत्यशिल्प के ग्रन्थों में तीर्थकर प्रतिमा पर वस्त्राच्छादित करने का उल्लेख भी वास्तुशास्त्र में अद्यावधि मेरे अवलोकन में नहीं आया। प्रतिमा के निम्न भाग के उभय पक्ष में त्रिफण्युक्त अधिष्ठातृ अंकित हैं। जो धरणेन्द्र और पद्मावती हैं। आभूषणों में हँसुली पाई जाती है। वह गुप्तों के अंतिम समय के आभूषणों से साम्य रखती है। दोनों की नाक चिपटी होने के कारण निःसंदेह कहा जा सकता है कि इस मूर्ति का निर्माण मगध देश में मागधीय कलाकारों द्वारा हुआ था। गुप्तों के अंतिम समय की लिपि में 'ये धम्मा हेतुपभवा' बौद्ध-मुद्रालेख भी मूर्ति के पृष्ठ भाग में अंकित हैं। अतः मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि इस मूर्ति का निर्माणकाल गुप्तों का अंतिम समय होना चाहिए। प्रतिमा श्याम पाषाण पर उत्कीर्णित है, जो बिहार का खास प्रस्तर है।

उपर्युक्त मूर्ति के बायें भाग में एक श्याम शिला पर भगवान की प्रतिमा खुदी हुई है। जिसके उभय पक्ष में इन्द्र-इन्द्राणी चामर लिये खड़े हैं। प्रतिमा बड़ी मनोज्ञ और आध्यात्मिक भावों को लिये हुए है। सौन्दर्य की दृष्टि से ऐसी मूर्तियाँ कम देखने में आती हैं। निम्न भाग में उभय ओर वृषभ ओर मध्य में धर्मचक्र है। प्रतिमा ऋषभदेव भगवान की है, उपरि भाग में देवतागण पुष्पमाला लिये खड़े हैं। तदुपरि वाद्यों को अदृश्य हस्त बजा रहे हैं। कल्पवृक्ष की पंखुडियाँ हैं। इस प्रकार का अंगविन्यास केवल मगध के कलाकार ही बना सके हैं। मगध की बनी प्रतिमाएँ दूर से ही पहचानी जाती हैं। इस प्रकार की प्रतिमाओं के कुछ चित्र तो आ. स. इ. १८२६ के वृत्तपत्र में प्रकट भी हुए हैं। मगध के कलाकारों में जो प्रतिमा या शिल्प स्थापत्य-कला-निर्माण-विषयक विशेषता पाई जाती है, वह यह कि वे अपने प्रान्त में प्राप्त पाषाणों का ही उपयोग करते थे और वह भी पूर्ण सफलता के साथ। उन पर की पालिश आज के संगमरमर के पाषाणों से कहीं अधिक चमकदार है। जैन-मंदिर में एक मुकुटधारी बौद्ध मूर्ति भी अत्यंत सुंदर और कलापूर्ण है। जिसमें बंदर का चिह्न अंकित है। कुछ धातु प्रतिमाएँ भी हैं, जो प्राचीन और कलापूर्ण हैं।

पाटलिपुत्र आश्चर्यगृह में भी जैनतीर्थकर और यक्षों की प्राचीनतम प्रतिमाएँ विद्यमान हैं, जिनमें से कुछेक पटना से ही प्राप्त की गई हैं और

अवशिष्ट बिहार के अन्य स्थानों से । इन प्रतिमाओं के चित्र भी आश्चर्यगृह से सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं । उन पर कलात्मक विवेचन डालनेवाला साहित्य अभी तक तैयार नहीं हो पाया है । पटना जैन-समाज अन्य कार्यों में अपनी क्रियाशीलता का परिचय देने में पश्चात्पाद नहीं रहता, पर ऐसे सांस्कृतिक कार्यों में न जाने क्यों चुप्पी साध लेता है ।

उपर्युक्त पंक्तियों से सूचित होता है कि पाटलिपुत्र का महत्व जैनदृष्टि से कितना गौरवपूर्ण है । इतिहास कारों ने अभी तक जैनों की ऐतिहासिक दृष्टि को समझा ही नहीं था । अब भी यदि गंभीर गवेषणा हो तो बहुमूल्य तथ्य प्रकाश में जा सकते हैं । विद्वानों की मान्यता है कि प्राचीन बिहार का इतिहास ही भारत का इतिहास है और बिहार के इतिहास का अधिकांश भाग जैन इतिहास से सुसंबंधित है ।



जैन पुरातत्त्व - एक अन्वेषण

आज हमारे सम्मुख जैनपुरातत्त्व का प्रामाणिक व शृंगलाबद्ध सविस्तृत इतिहास तैयार नहीं है। यह बड़े खेद की बात है, परंतु इसके साधन ही नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यों तो आंग्लशासन की ओर से, समुचित रूप से शासन चलाने के लिए या नवीन आंग्ल अधिकारी शासित प्रदेश से परिचित हो जायें, इस हेतु से प्रायः भारत के स्वशासित जिलों के 'गजेटियर' तैयार करवाये गये थे। इनमें प्रासंगिक रूप से कुछ अंशों में उस जिले के पुरातत्त्व पर, सीमित शब्दावली में प्रकाश डाला गया है—जैन पुरातत्त्व पर बहुत कम। यह कार्य प्रायः अंग्रेजों द्वारा ही सम्पन्न हुआ, जो जैनधर्म व संस्कृति से अपरिचित—से थे। ऐसे ही गजेटियरों के आधार पर स्वर्गीय ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी ने 'प्राचीन जैन-स्मारक' शीर्षक कुछ भाग प्रकाशित कर, जैनसमाज का ध्यान अपनी कलात्मक विरासत की ओर आकृष्ट किया था। ब्रह्मचारीजी का यह कार्य अनुवाद मूलक है। उनके अनुभव का समुचित उपयोग, यदि इन अनुवाद परक भागों में हुआ होता, तो निस्सन्देह कार्य अति सुंदर होता और अंग्रेजों की गलतियों का परिमार्जन भी हो जाता।

पुरातत्त्व का अध्ययन सापेक्षतः अधिक श्रमसाध्य विषय है। चलती भाषा में इसे 'पत्थरों से सर फोडना' या 'गड़े मुर्दे उखाडना' कहते हैं। बात ठीक है। जब तक मनुष्य अपना समुचित बौद्धिक विकास नहीं कर लेता, तब तक वह अतीत की ओर झाँकने की क्षमता नहीं रखता। अन्वेषक, यदि अध्ययनीय या गवेषणीय विषय की सार्वभौमिक उपयोगिता को समझ ले, तो विषय—काठिन्य का प्रश्न ही नहीं उठता, मुझे तो लगता है कि मानसिक दौर्बल्यजनित वैचारिक परंपरा, अन्वेषण की ओर, जैनयुवकों को उत्प्रेरित नहीं कर सकी।

रुस के सुप्रसिद्ध लेखक मेक्सिमगोर्की सोवियत लेखक समुदाय के सन्मुख अपने भाषण में कहता है "लेखकों को मैं कहता हूँ कि रुस के प्राचीन इतिहास में से युग-युग के स्तरों को खोजो और मैं विश्वास



जैन-पुरातत्त्व की सभी शाखाएँ समृद्ध हैं, क्या शिल्प-कृतियाँ, क्या चित्र-कला, क्या मूर्ति-कला, क्या शिला व ताम्र-लिपियाँ और क्या ग्रन्थस्थ वाङ्मय आदि अनेक शाखाओं में प्रचुर अन्वेषण की उत्साहप्रद सामग्री विद्यमान है। इनके अन्वेषणार्थ सम्पूर्ण जीवन समर्पित करने की आवश्यकता है। पुरातन वस्तुओं में फैली हुई उच्च कोटि की सांस्कृतिक व कलात्मक परंपरा के आन्तरिक मर्म को समझने के लिए, तदनुकूल जीवन व चित्तवृत्ति अपेक्षित है। विशाल वाचन एवं गंभीर तुलनात्मक, निष्पक्ष, निर्णायक वृत्ति के बाद ही यह कार्य सम्भव है। पार्थिव आवश्यकताओं में जन्म लेनेवाली कला को, भावुक हृदय ही आत्मसात् कर सकता है।

“इतिहास के स्वप्न तो गये, पर स्रजित इतिहास को एकत्र करनेवाले भी उत्पन्न नहीं होते। अपनी ही मिट्टी में अपने रत्न दबे पड़े हैं। उनको हमने अपने पैरों से रौंदा। इनको चुनने के लिए समुद्र के उस पार से, ‘टाड’ ‘फाँर्ब्स’ ‘ग्रोस’ ‘कनिंघम’ आदि आये। वे इतिहास गवेषणा के लिए नियुक्त नहीं हुए थे, पर वे अपने राजकीय-कार्य के बाद अवकाश के समय यहाँ की प्रेम-कथाएँ व शौर्य-कथाओं से प्रभावित हुए, इनका स्वर उनके कानों में पड़ा। उसी पुकार ने उनके हृदय में शोधक वृद्धि उत्पन्न की।”

वॉरन हेस्टिंग्स के समय से पुरातत्त्वान्वेषण का इतिहास प्रारम्भ होता है। ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा के लिए आनेवाले अंग्रेजों में मिस्टर “विलियम जाँन्स” भी थे। इनके द्वारा एशिया में सभी प्रकार के अन्वेषण का सूत्रपात हुआ। **शकुन्तला और मनुस्मृति** के अंग्रेजी अनुवाद ने युरोप में

सन् १८२८ में मि. **बी. जी. बेबींग्टन** ने तामिल लेखों पर से वर्णमाला तैयारी की । १८३४ से १८३७ तक **ट्रायर व डामिले** द्वारा क्रमशः समुद्रगुप्त य भित्तारी के स्कन्दगुप्तवाले लेख प्रकट हुए । इन दोनों के श्रम से गुप्तकालिन वर्णमाला तैयार हुई । १८३५ में, बोथ ने वलभी के दानपत्र पढे । **जेम्स प्रिन्सेप** ने भी सन् १८३७-३८ में गिरनार, दिल्ली, कमाऊँ, अमरावती और साँची के गुप्त लेख पढे ।

सूचित समय के अंदर अंग्रेजोंने भारतीय स्थापत्य व लेख पर विद्वत्तापूर्ण गवेषणाएँ कीं । कई लेख पढ डाले, जिनमें साँची, प्रयाग, गिरनार, मथियाँ घौली, रधिया आदि मुख्य हैं । इस बीच कुछ स्तूपों की खुदाई हो चुकी थी । ब्राह्मी लिपि का ज्ञान भी काफी हो गया था । इस काल में **जेम्स प्रिन्सेप** का भाग मुख्य रहा । इसके बाद ३० वर्ष तक पुरातत्त्व का पूर्ण सूत्र विख्यात स्थापत्य शोधक व आलोचक **जेम्स फरगुसन, मेजर किट्टो, एडवर्ड टामस, एलेक्जेण्डर कनिंघम, वाल्टर इलियट, मेडीज टेलर, डॉ. भाउ दाजी और डॉ. भगवानलाल इन्द्रजी** आदि विज्ञों के हाथ में रहा ।

भारतीय शिल्प-स्थापत्य कला के प्रारम्भिक इतिहास में फरगुसन का नाम बडे आदर के साथ लिया जाता है । आपके ग्रन्थ ही इस विषय पर समुचित प्रकाश डालते हैं । आपने जैनतीर्थों मंदिरों व गुफाओं पर भी प्रकाश डाला है, यद्यपि उनके परिचय और समय निश्चित करने में उचित साधनों के अभाव में कहीं-कहीं महत्वपूर्ण स्खलनाएं भी रह गई हैं, पर इनसे उनके कार्य का महत्व लेशमात्र भी कम नहीं होता । कहा जाता है कि इनका स्थापत्य विषयक ज्ञान इतना बढा-चढा था कि किसी भी इमारत को देखते ही, सामान्यतः निश्चय पर पहुँच जाते थे । उनकी दृष्टि बडी पैनी, वेधक व निर्णायक थी । इस महत्वपूर्ण और अभूतपूर्व कार्य में उनको सफलता मिलने का एकमात्र कारण यही था कि वे चित्रकला के पंडित थे । जन्मजात

शिलालेखों को पढ लेते थे, परंतु प्राचीन शिलालेख उनसे ठीक नहीं पढे जाते थे । संस्कृत का ज्ञान भी साधारण होने के कारण कहीं-कहीं उनमें त्रुटियाँ रह गईं, जो टोड के ग्रंथों में ज्यों की त्यों पाई जाती हैं । कर्नल टाड ने महाराणा भीमसिंह से सिफारिश कर उनको बहुत-सी जमीन दिलाई । उनका उपासरा मांडल नामक कस्बे में है, जहां टोड के समय की कई एक पुस्तकों, चित्रों तथा शिलालेखों की नकलें विद्यमान हैं ।

- श्री हरिविलास सारदा, भारतीय अनुशीलन, पृ. ७७



कलाकार थे। आपने कतिपय स्थानों के चित्र व स्केच अपने हाथों तैयार किये थे। **टामस व स्टिवेन्सन** मुद्राएं व लेखों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की।

डॉ. भाउ दाजीने अनेक शिलालिपियाँ पढ़ीं, और महत्वपूर्ण ग्रन्थों का संग्रह किया, जो वर्तमान में **रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बोम्बे** में उन्हीं के नाम से सुरक्षित है। इस संग्रह में अनेक महत्वपूर्ण जैन-ग्रन्थ भी संकलित हैं। शिलालिपियों के पठन में आपने **डॉ. भगवानलाल इन्द्रजी** से बहुत मदद ली थी। यह प्रथम सौराष्ट्री थे, जिनने पुरातत्त्वान्वेषण, विशेषतः लिपिशास्त्र में अद्वितीय प्रतिभा व शोधक बुद्धि प्राप्त की थी। खारवेल का जैन लेख इन्होंने ही शुद्ध किया था। इस प्रसंग में **डॉ. राजेन्द्रलाल मित्र** को नहीं भुलाया जा सकता। आपने पुरातत्त्वानुसंधान के साथ नेपाल के साहित्य और इतिहास का विस्तृत ज्ञान कराया

पुरातत्त्व विभाग की स्थापना

अभी तक जिन विद्वानोंने भारतीय पुरातत्त्व, इतिहास और साहित्य विषयक जितने भी कार्य किये, वे वैयक्तिक शोधकरुचि का सुपरिणाम था। वे भले ही सरकारी अधिकारी रहे हों, पर शासनने कोई उल्लेखनीय सहायता न दी थी, न शासन की इस ओर खास रुचि ही थी ! क्या स्वतंत्र भारत के अधिकारियों से वैसी आशा करू ?

सन् १८४४ में **लंडन की रायल एशियाटिक सोसायटीने ईस्ट इंडिया कंपनी** से प्रार्थना की कि वह इस पवित्र कार्य में मदद करे। पर इस विनती का तनिक भी प्रभाव न पड़ा। कुछ काल बाद युक्त प्रान्त के चीफ एन्जीनियर कर्नल कर्निघम ने एक योजना शासन के संमुख उपस्थित की, और सूचित किया कि इस कार्य की ओर शासन लक्ष नहीं देगा तो वह कार्य **जर्मन या फ्रेंच** लोग करने लगेंगे इससे अंग्रेजों के यश की हानि होगी। तब जाकर **आर्कियोलोजिकल सर्वे** डिपार्टमेन्ट की सन् १८६२ में स्थापना हुई। कर्निघम साहब को इस विभाग का सर्वेसर्वा बनाया गया - २५० मासिकपर। आपने

१. इनकी प्रखर प्रतिभा का लाभ विदेशी विद्वानों ने अधिक उठाया। डॉ. बूलनर, जेम्स केम्बेल, प्रो. कर्न और डॉ. रामकृष्ण भाण्डारकर जैसे विज्ञाने इतिहास-संशोधन व लिपिशास्त्र में अपना गुरु माना था। अपने ग्रंथों में उपकार स्वीकृत किया है। आज गुजरात में जो एतद् विषयक अन्वेषक हैं, वे आप ही की परंपरा के ज्वलंत प्रतीक हैं।



इस विभाग द्वारा भारतीय पुरातत्त्व का जो कार्य किया है, वह अपनी २४ जिल्दों में प्रकाशित है । १८८५ तक आपने कार्य किया । जैनपुरातत्त्व व मूर्तिकला की अत्यन्त महत्वपूर्ण मौलिक सामग्री इन २४ रिपोर्टों में भरी पड़ी है । आपको जैन-बौद्ध के भेदों का पता न रहने से, जैनपुरातत्त्व के प्रति पूर्णतया न्याय नहीं दे सके हैं, जैसा कि डॉ. विन्सेन्ट ए. स्मिथ के इन शब्दों से ध्वनित होता है-

जैन-स्मारकों में बौद्ध-स्मारक होने का भ्रम

“कई उदाहरण इस बात के मिले हैं कि वे इमारतें जो असल में जैन हैं, गलती से बौद्ध मान ली गई थीं । एक कथा है जिसके अनुसार लगभग अठारह सौ वर्ष हुए महाराज कनिष्क ने एक बार एक जैन स्तूप को गलती से बौद्ध स्तूप समझ लिया था और जब वे ऐसी गलती कर बैठते थे, तब इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि आजकल के पुरातत्त्ववेत्ता जैन इमारतों के निर्माण का यश कभी-कभी बौद्धों को देते हों । मेरा विश्वास है कि सर अलेक्जेंडर कनिंघम ने यह कभी नहीं जाना कि जैनोंने भी बौद्ध के समान स्वभावतः स्तूप बनाये थे और अपनी पवित्र इमारतों के चारों ओर पत्थर के घेरे लगाते थे । कनिंघम ऐसे घेरों को हमेशा “बौद्धघेरे” कहा करते थे और उन्हें जब कभी किसी टुटे-फुटे स्तूप के चिह्न मिले तब उन्होंने यही समझा कि उस स्थान का संबंध बौद्धों से था । यद्यपि बम्बई के विद्वान पण्डित भगवानलाल इन्द्रजी को मालूम था कि जैनोंने स्तूप बनवाये थे और उन्होंने अपने इस मत को सन् १८६५ ईसवी में प्रकाशित कर दिया था, तो भी पुरातत्त्वान्वेषियों का ध्यान उस समय तक जैन-स्तूपों की खोज की तरफ न गया जब तक कि ३० वर्ष बाद सन् १८९७ ई. में बुहलरने अपना “मथुरा के जैन स्तूप की एक कथा” शीर्षक निबंध प्रकाशित न किया ।”

कनिंघम साहब के रक्तशोषक श्रमजनित कार्यों ने प्रमाणित कर दिया कि भारत प्राचीनतम कलात्मक प्रतीकों का देश है और भविष्य में भी गवेषणा अपेक्षित है । वे केवल खोज करके ही या विवरणात्मक रिपोर्ट लिखकर के ही संतुष्ट न हुए, अपितु महत्वपूर्ण स्थानों की समुचित रक्षा का भी प्रबंध करवाया । मेजर कॉल ने इसमें अच्छी मदद की । तीन वर्ष के प्रयत्न स्वरूप-

१. वर्णी अभिनंदन ग्रन्थ, पृष्ठ २३४-३५ ।



कर्निधम साहबने जो कार्य किये, उनके आधार चीनी पर्यटकों के विवरण थे । पुरातन अवशेष के अतिरिक्त आपने भूगोल व मुद्राओं पर प्रामाणिक और विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखे । **एंश्यंट जिओग्राफी ऑफ इंडिया** और ४ जिल्दें सिक्रों पर प्रकट हो चुकी है । मथुरा के जैन-अवशेषों की खुदाई आप व आपके सहयोगी **डॉ. फुहरर** द्वारा सम्पन्न हुई और स्मिथ द्वारा मूल्यांकन हुआ ।

जब सन् १८८९ में वे अवकाश पर गये तब विभाग का पूरा भार **डॉ. बर्जेस** के कन्धों पर आ पडा। अब यह कार्य इतना व्यापक हो चुका था कि समुचित संचालनार्थ पाँच भागों में विभाजित करना पडा। **डॉ. बर्जेस** ने जैनपुरातत्त्व पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। कर्निघम की अपेक्षा आपने इस संबंध में भले कम कीं।

अब सरकार की इच्छा नहीं थी कि यह विभाग अधिक दिन चलाया जाय । **डॉ. बर्जेस** के हटने के बाद एक कमिशन इसके हिसाब जाँचने के लिए बैठाया गया, कमिशनने कम व्यय करने की सिफारिश की । पाँच वर्ष बड़ी दीनतापूर्वक बीते । पर लार्ड कर्जन ने पुनः इस में प्राण संचार किया । और १ लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया, अब डाइरेक्टर जनरल के आसन पर सर **जोन मार्शल** आये । १९०२ से एक प्रकार से भारतीय पुरातत्त्व के अन्वेषण में नया युग प्रारम्भ हुआ, कार्य को गति मिली ।

सर जॉन मार्शलने पूर्व गवेषित पुरातन स्थानों का पर्यटन किया और उनकी तात्कालिक स्थितियों का अध्ययन किया, जहाँ नवीन अवशेष निकलने की सम्भावना थी, वहाँ पर खनन कार्य प्रारंभ हुआ। तदनंतर मेगस्थनीज और चीनी पर्यटकों के विवरण के आधार पर निर्मित कर्निधम साहब की भूगोल पर से जैन व बौद्ध तीर्थों का अनुसंधान हुआ। राजगृह, मथुरा, सारनाथ, मिरखासपुर, भीटा, खाशिया आदि नगरों का अन्वेषण हुआ। वैशाली भी अभी ही प्रकाश में आई। १९२४ तक नालन्दा, अमरावती, तक्षशिला आदि पुरातन नगरों का ऐतिहासिक महत्व समझा गया। तक्षशिला के जैनस्तूपों को या मंदिरों को प्रकाश में लाने का श्रेय सर जॉन मार्शल को है। इसी वर्ष **हरप्पा और मोहन-जो-दड़ों** के खननने प्रमाणित कर दिया कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता का इतिहास, प्राप्त साधनों के आधार पर ५००० वर्ष

जाता है। अर्थाभाव से १९२७ में इस कार्य को स्थगित करना पडा।

जिन अंग्रेजों द्वारा पुरातन गवेषणा विषयक कार्य चालू था, उस समय कुछ रियासतोंने भी अपने-अपने भूभाग में खोज का काम प्रारंभ किया। कहीं-कहीं तो **पुरातत्त्व विभाग** ही खोल डाला गया। ऐसे इतिहासप्रेमी नरेशों में सर्वप्रथम नाम भावनगर नरेश **तख्तसिंहजी** का आता है। सौराष्ट्र और राजपूताना के अपने कई लेख एकत्र करवाये, जो बाद में “**भावनगर प्राचीन शोधसंग्रह-भाग १**” में सूर्यवंशी राजाओं से संबद्ध कई लेख गुजराती व अंग्रेजी अनुवाद सहित तथा दूसरे भाग “**ए कलैक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इन्स्क्रिप्शन्स**” में सौराष्ट्र के मौर्य, क्षत्रप, गुप्त, वलभी, गुहिर और गुजरात के चौलुक्यों के लेख सानुवाद प्रकाशित हुए।

मायसोर व द्रावनकोर स्टेट का दान भी उल्लेखनीय है। इनकी ओर से क्रमशः दक्षिण भारत में बहुत-से लेखों व मूर्तियों पर प्रामाणिक ग्रन्थात्मक सामग्री प्रकाश में आई। **भोपाल, उदयपुर, ग्वालियर, बडौदा, जूनागढ और इडर** राज्योंने भी अपने-अपने भूभागों का अधिकारी विद्वानों के पास अनुसंधान करवाकर मूल्यवान योग दिया। इन राज्यों के पुरातत्त्व-रिपोर्टों में अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन सामग्री भरी पडी है।

राज्य की ओर से तो विद्वान् कार्य करते ही थे, पर कुछ विद्वान् ऐसे भी उन दिनों थे जो बिना किसी अपेक्षा रखे, स्वतंत्र रूप से अन्वेषण कार्य करते रहे। पुरातत्त्व विभाग में भी बहुत-से ऐसे प्रतिभासंपन्न व्यक्ति थे, जिनकी खोजों का महत्व है। ऐसे विद्वानों में **ए. सी. एल. कार्लाइल, मि. गैरिक, डॉ. फुहरर व स्पूनर** आदि मुख्य हैं।

श्रीयुत रायबहादुर के. एन. दीक्षित के समय में प्रागैतिहासिक स्थानों का सफलता पूर्वक खनन हुआ। तदनन्तर **हिलर डाइरेक्टर** जनरल हुए और अभी **श्रीमाधवस्वरूपजी वत्स** हैं।

पुरातत्त्व-विभाग की संक्षिप्त कार्यवाही, जैन-अन्वेषण का मार्ग सरल बना देती है। पुरातत्त्व विभागीय रिपोर्टों के अतिरिक्त **रायल एशियाटिक सोसायटी लंडन ऑफ बंगाल के जर्नल्स ‘रूपम्’, इंडियन आर्ट एंड इण्डस्ट्री, सोसायटी ऑफ दि इंडियन ओरियेंटल आर्ट, बंबई युनिवर्सिटी, जर्नल ऑफ दि अमेरिकन सोसायटी ऑफ दि आर्ट, भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, इंडियन कल्चर** आदि जर्नल्स



डॉक्टर फुहरर, विसेन्ट ए. स्मिथ, डॉक्टर भाण्डारकर (पिता, पुत्र), डॉक्टर फ्लीट, डॉक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा, बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर, मुनिश्री जिनविजयजी, विजयधर्मसूरिजी, बाबू कामताप्रसादजी जैन, डॉ. हसमुखलाल डी. संकलिया, शान्तिलाल उपाध्याय, अशोक भट्टाचार्य, उमाकान्त शाह, प्रियतोष बेनरजी, सी. रामचन्द्रम् और बाबू छोटेलालजी जैन, अगरचन्द्रजी व भंवरलालजी नाहटा, मुनि कल्याणविजयजी, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ।

१ आज के युगमें जब कि सभी साधन प्राप्त हैं तो भी विद्वान् लोग प्रमाद कर बैठते हैं तो उन लोगों की तो बात ही क्या कही जाय ?

अनुभवों के आधार पर, जैनशिल्पकला के मुख को उज्ज्वल करनेवाले दर्जनों निबंध सामयिक पत्रों में प्रकाशित तो करवाये ही है, साथ ही, **भारत में जैन तीर्थों अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य और चित्र कल्पद्रुम** जैसे अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रन्थों के कलात्मक संस्करण प्रकाशित कर, सिद्ध कर दिया है कि जैनाश्रित तीर्थस्थित शिल्प-स्थापत्यावशेषों की उपयोगिता धार्मिक दृष्टि से तो है ही, साथ ही भारतीय लोक-समाज और जन-संस्कृति के भी परिचायक है। जैन तीर्थों का शिल्प भास्कर्य कलाकारों को व समीक्षकों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। जैनतीर्थ आबू पर **मुनि जयन्तविजयजी** ने अभूतपूर्व प्रकाश डाला है। **मुनिश्री जिनविजयजी** ने जो वर्तमान में राजस्थान पुरातत्त्व विभाग के अवैतनिक प्रधान संचालक है, कर्लिंग की गुफाओं के व इतर सैकड़ों जैनलेखों पर ऐतिहासिक समीक्षाएँ लिखी है, एवं **सिंधी-जैन-ग्रन्थमाला** में-जिसके वे मुख्य सम्पादक है, जैन-इतिहास के सर्वमान्य मौलिक ग्रन्थों का प्रकाशन कर, जो सेवा की है और कर रहे है, वह राष्ट्र के लिए गौरव की वस्तु है। उनके तत्त्वावधान में राजस्थान में गवेषणा-विषयक जो कार्य हो रहे है, उनसे बहुत नवीन तथ्य प्रकाश में आवेंगे। मुझे ज्ञात हुआ है कि मुनिश्री के तत्त्वावधान में, अभी-अभी एक समिति द्वारा, आबू पहाड के ऐतिहासिक स्थानों की गवेषणा जोरों से हो रही है।

ईस्वी १७८४ से आज तक स्वतंत्र या शासन के आधिपत्य में पुरातन स्थान व ऐतिहासिक साधनों का अन्वेषण किया गया, तो भी अभी भारतवर्ष के जंगलों में और खंडहरों में हजारों कलात्मक “जैन प्रतीक” अरक्षित उपेक्षित दशा में इतस्ततः बिखरे पड़े है, जिन पर भारतीय पुरातत्त्व विभाग का लेशमात्र भी ध्यान नहीं है। पुरातन जैन-मंदिर व तीर्थों में आज भी उल्लेखनीय लेख व कला की दृष्टि से अनुपम शिल्पकृतियाँ सुरक्षित है, जिनका पता पुरातत्त्वज्ञ नहीं लगा सके थे। इन धार्मिक दृष्टि से महत्व रखनेवाले प्रतीकों का अध्ययनपूर्ण प्रकाशन हो तो संभव है भारतीय मूर्ति व शिल्पकला पर तथ्यपूर्ण प्रकाश पड सकता है। मूर्तिविषयक उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझ सकती है। पर यह तब ही संभव है, जब जैनमूर्ति विधान व तदंगीभूत अन्य भावशिल्पों पर प्रकाश डालनेवाले ग्रन्थस्थ उल्लेखों का तलस्पर्शी अध्ययन हो। कभी-कभी देखा जाता है कि अजैन विद्वान जैन मूर्तिकला पर कलम चला देते है, और उनके द्वारा विद्वज्जगत में भी ऐसी भ्रान्ति फैल जाती है, कि उनको दुरुस्त करना कठिन हो जाता है। ऐसी भूलों में कुछेक ये है “**जैन आईकोनोग्राफी**” श्री भट्टाचार्य लिखित लाहोर से प्रकट



हुई थी। उसमें ऋषभदेव स्वामी की मूर्ति का एक ही चित्र दो बार प्रकाशित है, पर नीचे लिखा है “यह महावीर स्वामी की प्रतिमा है”। जब वृषभ लंछन व स्कन्ध पर केशावली भी स्पष्टतः उत्कीर्णित है। लेखक ने इन पर ध्यान दिया होता, तो यह भूल न होती।

श्री सतीशचन्द्र कालाने “प्रयाग संग्रहालय में जैनमूर्तियाँ” शीर्षक एक निबंध में लिखा है, कि “गणपति” भी जैन मूर्तियों के साथ पूजे जाने लगे। पर कालाजी ने भगवान पार्श्वनाथ के “पार्श्वयक्ष” के स्वरूप पर ध्यान दिया होता, तो ज्ञात हो जाता कि वह गणपति नहीं पर जैनयक्ष है। यदि “गणपति” का पूजन जैनमूर्तिशास्त्रों में हो तो ये प्रकट करें। कालाजीने उसी लेख में यह भी लिखा है कि “१२ वीं शताब्दी के बाद अधिकतर मूर्तियों में लिंग को हाथों के नीचे छिपाने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।” पर मेरे अवलोकन में आजतक ऐसी एक भी मूर्ति नहीं आई। जब प्रतिमा में नग्नत्व प्रदर्शित करना ही है तो फिर ढंकने की क्या आवश्यकता? वे आगे कहते हैं कि “एक तो इसमें तीर्थंकर विशाल जटा पहिने हैं”^१। तीर्थंकर जटा नहीं पहनते थे, वह तो चतुःमुष्टी लौच का रूपक है।

त्रिपुरी में सयक्ष-यक्षी नेमिनाथ की खंडित प्रतिमा को व्योहार राजेन्द्र-सिंहजीने अशोक-पुत्र महेन्द्र और संघमित्रा मान लिया^२।

जिस प्रकार सर कर्निघम और सर जान मार्शल ने चीनी पर्यटकों के यात्रा-विवरणों को आधारभूत मानकर अपनी गवेषणा प्रारंभ की थी, ठीक उसी प्रकार मध्यकालीन विलुप्त जैनतीर्थों का अन्वेषण तीर्थमालाओं के आधार पर होना चाहिए; क्योंकि सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की तीर्थ-मालाओं में जिन जैन-स्थानों का उल्लेख किया गया है, वे आज अनुपलब्ध हैं। जैसे कि-मुनि श्रीसौभाग्यविजयजी विक्रम संवत् १७५० में पूर्व देश की यात्रा करते हुए बिहार में पहुंचे। आपने अपनी तीर्थमाला में उल्लेख किया है, कि पटना से ५० कोस पर “बैकुण्ठपुर” ग्राम है। वहाँ से १० कोष चाडग्राम पडता है, वहाँ के मंदिर में रत्न की प्रतिमा है। गंगाजी के मध्य में एक पहाडी पर देवकुलिका में भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा है।

यहीं मुनिश्री पटना से उत्तर दिशा में ५० कोश पर ‘सीतामढी’ का

१. श्री महावीर स्मृति ग्रंथ, पृ. १९२।

२. श्री महावीर स्मृति ग्रंथ, पृ. १९३।

३. त्रिपुरी का इतिहास, पृ. २९।



उल्लेख करते हैं जहाँ ऋषभदेव, मल्लिनाथ और नेमिनाथ की चरण-पादुका हैं। **बैकुण्ठपुर** इन पंक्तियों का लेखक हो आया है। यहाँ से गंगा लगभग २॥ मील पड़ती है। वहाँ पर जिनवर की न तो प्रतिमा है और न देहरी ही। साधारण पहाड़ी व जंगल तो है। खास बैकुण्ठपुर में अभी तो केवल पुरातन शैव-मंदिर है। पर हाँ, बस्ती को देखने से वह प्राचीन अवश्य जँचती है। चाड में कुछ भी दृष्टिगोचर न हुआ, वहाँ मैं खास तौर से गया था। अब रहा प्रश्न दूसरे उल्लेख का। **सीतामढी** तो वर्तमान मिथिला का ही नाम है। यह दरभंगा जंकशन से ४२ मील पश्चिमोत्तर में है। पर वहाँ उल्लेखानुसार “चरण” तो नहीं है। इन दोनों तीर्थों का अन्वेषण अपेक्षित है।

नालंदा के विषय में भी इन तीर्थमालाओं के उल्लेखों पर ध्यान देना आवश्यक है। सं. १५६१ में यहाँ १६ जैन-मंदिर होने की सूचना मुनि हंससोम देते हैं। विजयसागर (सं. १७१७) २ मंदिर का उल्लेख करते हैं। और सौभाग्यविजय (सं. १७५०) एक मंदिर का ही निर्देश करते हैं। पर वे यह भी लिखते हैं कि अन्य मंदिर प्रतिमारहित है। ये सब उल्लेख शोधक के लिए विचारणीय हैं। पर अभी तो वहाँ एक ही जिनमंदिर है और एक दिगम्बर सम्प्रदाय का है। अतिरिक्त मंदिर व स्तूप का क्या हुआ, थोड़े समय में इतना परिवर्तन कैसे हो गया, यह खोज का विषय है। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। क्या पुरातत्त्व विभाग ऐसे प्रत्यक्षदर्शी महात्माओं के उल्लेखों पर ध्यान देगा ?

मुझे अपने अनुभवों के आधार पर सखेद लिखना पड़ रहा है कि आज का पुरातत्त्व विभाग सापेक्षतः अन्वेषण एवं संरक्षण विषयक कार्य में उदासीन है। मुझे तो ऐसा लगता है कि पुरातत्त्व विभाग का अब एकमात्र यही कार्य रह गया है कि पूर्व संरक्षित अवशेषों की येन-केन प्रकारेण रक्षा की जाय। यों तो सामयिक पत्रों से सूचना मिलती है कि कहीं-कहीं खनन-कार्य जारी है, पर एक ओर अवशेषों की समुचित रक्षा तक नहीं हो रही है। मध्यप्रदेश में मैंने दर्जनों ऐतिहासिक खंडहर ऐसे देखे जो पुरातत्त्व विभाग द्वारा सुरक्षित स्मारकों में घोषित हैं, पर इन्हीं खंडहरों के समीप या कुछ दूर पर सर्वथा अखंडित सुंदरतम मूर्तियाँ या अवशेष पड़े हैं। उनकी ओर कर्मचारियों ने लेशमात्र भी ध्यान नहीं दिया। क्या सुरक्षित सीमा में इन्हें उठाकर नहीं रखा जा सकता था

१. प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, पृ. ९३।

२. प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, पृ. ८९



या सुरक्षित सीमा नहीं बढ़ाई जा सकती थी ? इस प्रकार की असावधानीने, सुरक्षा के लिए स्वतंत्र विभाग होते हुए भी अत्यंत सुंदर कलाकृतियों को सुरक्षा से वंचित रह जाना पड़ा; क्योंकि ग्रामीण जनता ऐसे अवशेषों का उपयोग अपनी सुविधानुसार कर लेती है। जबलपुर जिले में तो सुरक्षित स्मारकों के खम्भों का उपयोग एक परिवार ने अपने गृहनिर्माण में कर लिया है। **कटनी** में मुझे एक जैन सज्जन से भेंट हुई थी, जिनका पेशा ही पुरातन वस्तु-विक्रय है। इन सब बातों के बावजूद भी जब कोई व्यक्ति सांस्कृतिक व लोककल्याण की भावना से उत्प्रेरित होकर यदि वैधानिक रीति से, संग्रह करता है, तो पुरातत्त्व विभाग व प्रान्तीय शासन, शोध का यश किसी व्यक्ति को न मिले, इस नीयत से अनुचित व अवैधानिक कार्य करने में लेशमात्र भी नहीं हिचकता। किसी भी देश के लिए यह विषय अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है। **एक युग था जब इस प्रकार के कार्यकर्ताओं को उत्साहित कर, शासन उनसे सेवा लेता था, पर स्वाधीन भारत में शायद यह पराधीन भारत की प्रथा को महत्व देना उचित न समझा गया हो।** जहाँ तक मैं सोचता हूँ पुरातत्त्व की खोज का कार्य यदि केवल सरकार ही के भरोसे चलता रहा, तो शताब्दियों तक भी शायद पूर्ण हो सके; क्योंकि उच्च पदाधिकारी तीन साल में संरक्षित स्मारक अवलोकनार्थ पर्यटन करते हैं, पर प्रत्येक पुरातन खंडहरों के निकटवर्ती प्रदेशों में नवीन शोध के लिए रहते कितने दिन हैं ? व-मुश्किल एक-दो दिन। अतः जब तक पुरातत्त्व और शोध में रुचि रखनेवाले प्रान्तीय विद्वानों को शासन वैधानिक रूप से प्रश्रय नहीं देगा, तब तक तत्स्थानीय अवशेषों का पता नहीं लग सकता। बड़े-बड़े स्थानों पर खुदाई करवा के अवशेषों को निकालना एवं निकले हुए अवशेषों की उपेक्षा करने की दुधारी नीति समझ में नहीं आती। आशा है, पुरातत्त्व-विभाग के उच्चतम कर्मचारी इस विषय पर ध्यान देकर अपनी ओर से होनेवाली भूलों में सुधार करने का कष्ट करेंगे और अपने नैतिक व सांस्कृतिक उत्तरदायित्व को समझने की चेष्टा करेंगे।

प्रान्त में जैन-समाज के इतिहास और पुरातत्त्व में रुचि रखनेवाले बुद्धिजीवियों से विनम्र निवेदन है कि वे अपने-अपने प्रदेश में पाई जानेवाली उपर्युक्त कोटि की सामग्री को अवश्य ही, प्रमुख सामयिक पत्रों में प्रकाशित कर, पुरातत्त्व-पंडितों का ध्यान आकृष्ट करें, ताकि सर्वाङ्गपूर्ण जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य-कला का स्वरूप जनता के सम्मुख आ सके।

१४ जुलाई, १९५२

- सिवनी म. प्र.



परिशिष्ट १

जैन कला का पुरातत्त्विक महत्व



भारतीय संस्कृति के विकास व पल्लवन में जैन धर्म का विशिष्ट योगदान रहा है। अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, स्याद्वाद जैसे सार्वभौम और विश्व-कल्याण के सिद्धांतों को प्रस्तुत और प्रचारित कर इसने समस्त मानव जाति को एक सूत्र में पिरोने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। फलतः जैन धर्म के आदर्श आदि काल से ही लोक मानस को आकृष्ट करते रहे हैं। प्रचुर साहित्य के साथ कला और पुरातत्त्व के प्रमाण भी इस तथ्य के साक्षी हैं।

जैन कला के विकास की आरम्भिक कड़ी कहाँ और कब से है, यह कहना कठिन है। पुरातत्त्व इस दिशा में हमारी सहायता तो करता है, किन्तु यह तर्क, विवेचन और विश्लेषण का क्षेत्र है जिसमें उत्साह के वेग के साथ धैर्य का अंकुश भी अभीष्ट है। जैन परंपरा के अनुसार जिन मूर्ति पूजा एक शाश्वत पद्धति है जो भगवान ऋषभदेव के समय से ही प्रचलित है। एक तीर्थंकर से दूसरे के बीच की अवधि कभी-कभी इतनी अधिक है कि इसकी काल गणना आज के कम्प्यूटर युग में भी सम्भव नहीं प्रतीत होती तो बेचारा पुरातत्त्व ही इस काल अवधि तक कैसे पहुंच पाएगा।

यदि सिन्धु संस्कृति के अवशेषों को कला की दृष्टि से प्राचीनतम मान लें (यद्यपि मेहरगढ़ आदि स्थल और अधिक प्राचीन हैं) तो हडप्पा से निकला मानव धड शरीर रचना, नग्नकृति, सुदृढ़ आकार की दृष्टि से किसी तीर्थंकर की मूर्ति का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है। सिन्धु संस्कृति अभी तक रहस्य के आवरण से ढकी है और जब तक लिपि का प्रामाणिक ढंग से वाचन नहीं हो जाता तब तक रहस्य का उद्घाटन संभव नहीं है। पिछले लगभग आठ दशकों से पुराशास्त्री इस ओर सतत प्रयासरत हैं। सिन्धु संस्कृति का समय २७०० ई. पू. से १५०० ई.पू. के बीच का है।

तत्पश्चात् पुरातत्त्व दीर्घ काल तक मौन साधना करता है और जर्मन पुरावेत्ता डॉ. ए.फ्यूहरर को मथुरा नगर के पश्चिमी अंचल में कंकाली नामक स्थल से जैन कलाकृतियों का विपुल कोष १८८९-९१ ई. पू. से १२वीं शती ई. तक की है। आरंभ आयाग-पट्ट के मंगल चिन्हों से हुआ तत्पश्चात् जिन

आकृतियाँ आई । बाईसवें तीर्थकर नेमिनाथ श्री कृष्ण के समकालीन और ब्रजमंडल के निकटवर्ती शौरिपुर बटेश्वर (आगरा) से संबंधित थे । सुपार्श्व, पार्श्व व महावीर की भी अधिक मान्यता थी और अन्तिम केवली जम्बू स्वामी ने यहीं अपना शरीर त्याग किया । फलतः यहाँ अनेक कालों में और विभिन्न चरणों में स्तूप या चैत्य बनते रहे एवं जिनमूर्तियाँ स्थापित होती रहीं । यह कला सम्पदा अब राज्य संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित है ।

इनमें एक जिनमूर्ति की चरम चौकी का प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में उल्लिखित लेख अद्वितीय महत्व का है । इसके अनुसार कुबेरा देवी द्वारा देव निर्मित स्तूप का जीर्णोद्धार पार्श्वनाथ जिन के समय हुआ । यदि अन्य तीर्थकर इतिहास और पुरातत्त्व की सीमा से बाहर भी हों तो वर्धमान महावीर और उनके पूर्ववर्ती जिन पार्श्वनाथ अवश्य ऐतिहासिक विभूति थे जिनका समय क्रमशः पांचवी व आठवीं शती ई. पू. स्थिर हुआ है । यदि सन्दर्भान्तर्गत मूर्तिलेख और उसके पुष्टिकर्ता साहित्यिक प्रसंगों को प्रमाणिक माना जाय तो निष्कर्ष निकलता है कुबेरादेवी द्वारा स्थापित मूल स्तूप इतना प्राचीन और जीर्ण हो चुका था कि आठवीं सती ई. पू. में उसके जीर्णोद्धार की आवश्यकता अनुभूत हुई । अवश्य ही यह कुछ और शताब्दी पूर्व बना होगा । इसे देव निर्मित कहने से भी प्राचीनता सिद्ध होती है, क्योंकि यह कब बना इस तथ्य को लोग भूल चुके थे । जिस स्मारक की स्थिति आठवीं शती से कुछ शताब्दी पूर्व स्थिर होने के सूत्र मिल रहे हों यह भारतीय स्थापत्य के उद्भव व विकास के नए अध्याय का श्रीगणेश करता है ।

जैन मूर्ति कला का सांगोपांग अध्ययन मथुरा से मिले अवशेषों के माध्यम से सम्भव है । साथ ही जैन स्थापत्य (चैत्य स्तूप) और समाज का भी विशद विवरण प्राप्त होता है । क्योंकि बहुत सी प्रतिमाएं अभिलिखित और संवत् तिथि आदि से भी अंकित है अतः तत्कालीन सांस्कृतिक अध्ययन के लिए वे दर्पणवत् समादृत हैं । सरस्वती की प्राचीनतम प्रतिमा जिस पर देवी का नाम उत्कीर्ण है, यहीं से मिली । यहां यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन धर्मग्रन्थों के संकलन, सम्पादन, संरक्षण के लिए सरस्वती आन्दोलन कुषाण काल में मथुरा से आरंभ हुआ जिसे माथुरी वाचना भी कहते हैं । समकालीन सरस्वती प्रतिमा का इस दृष्टि से और अधिक महत्व है । इस आन्दोलन से प्रेरित हो देश के विभिन्न स्थानों में जैन सरस्वती भंडार अथवा ग्रन्थागार निर्मित हुए जो सौभाग्य से अभी तक सुरक्षित हैं ।



ऋषभनाथ की गुप्तकालीन प्रस्तर पट मूर्ति में उनका नाम “ऋषभस्य प्रतिमा” लिखा है। कन्धे पर जटा पड़ी है इससे आदिनाथ की मूर्तियों को पहचानने में बड़ी सहायता मिली। कालान्तर में तो सभी जिनों के निश्चित चिन्ह, यक्ष, शासन देवता आदि स्थिर हो गए।

एक ओर मथुरा जैन मूर्तिकला, स्थापत्य और धर्म ग्रन्थों के विशाल केन्द्र के रूप में ईसा से कई शती पूर्व विकसित हो रहा था उधर बिहार में मौर्य नरेश आजीवक जैन साधुओं के विश्राम के लिए बराबर की पहाडियों में कुटियों की व्यवस्था कर रहे थे। बिहार तीर्थकरो की अवतार भूमि रही है अतः जैन अनुयायी अथवा सहिष्णु शासकों के लिए यह पुण्यार्जन का कार्य था। उडीसा भी इस दृष्टि से अग्रणी रहा और द्वितीय शती ई. पू. में खारवेल नामक जैन सम्राट ने अपनी उपलब्धियों का ब्यौरा भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि गुहा में एक विस्तृत ब्राह्मी लेख में छोड़ा है। इनमें एक घटना जैन कला और पुरातत्त्व के दिग्दर्शन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। वह उस जिनमूर्ति को कर्लिंग वापस लाने में सफल हुआ, जिसे पूर्ववर्ती मगध नरेश ले गए थे। यह कौन सी मूर्ति है और कहां है यह विवादास्पद है। वैसे एक जैन प्रतिमा जो पटना के पास लोहानीपुर से मिली अब पटना संग्रहालय में है। कलाशैली की दृष्टि से अवश्य ही यह मौर्यकाल की है। किन्तु यह कहना कठिन है कि खारवेल के शिलालेख में जिस प्रतिमा का वर्णन है वह यही है क्योंकि पुनः यह कर्लिंग से मगध कैसे पहुंची इस बारे में इतिहास व पुरातत्त्व मौन है।

यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि जिनमूर्तियां मौर्य युग में निर्मित व पूजित होती थी और उनकी प्रतिष्ठा शासकों की प्रतिष्ठा थी। खारवेल ने भी जैन साधुओं के विश्राम, चिन्तन, मनन, अनुशीलन के लिए उदयगिरि-खण्डगिरि में आश्रय स्थल बनवाए। इन कक्षों पर अनेक कथानक उत्कीर्ण है। स्थिति को देखते हुए यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि पहाडी का एक भाग सभा-स्थल अथवा प्रेक्षागार के रूप में बनाया गया जहां से लीला अथवा नाटकों का मंचन होता था। कला व पुरातत्त्व की दृष्टि से उदयगिरि-खण्डगिरि का जैन गुहा समूह प्रशंसनीय है।

कुछ शताब्दियों तक गुहा तक्षण अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और पश्चिमी भारत पर्वत विश्रामालयों का केन्द्र बन गया। इस दिशा में पहले पांच सौ वर्षों तक बौद्धों का वर्चस्व रहा जिसके फलस्वरूप भाजा, कार्ले, कोण्डाने, बाघ,

अजन्ता आदि प्रसिद्ध गुहा मण्डप बने। कालान्तर में हिन्दू व जैन समाज ने भी इस पद्धति को अपनाया। एलोरा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है क्योंकि यहाँ तीनों धर्मों के गुहा मण्डप हैं। संवत् ३० से ३४ तक के गुहा मण्डप जैन हैं जो नवीं शती में बने। इनमें छोटा कैलास और इन्द्र सभा प्रसिद्ध हैं। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि गुहा तक्षण सामान्य भवन पद्धति से अधिक कठिन श्रमसाध्य तथा कुशलता का परिचायक है। गुहा तक्षण कुछ अन्य देशों में भी हुआ किन्तु भारतीय गुफा मण्डपों की कोई तुलना नहीं। विश्व स्थापत्य के लिए भारत का यह विलक्षण योगदान है। सामान्य भवन में तो यदि कोई त्रुटि हो जाय तो उसका परिष्कार व परिवर्तन संभव है, किन्तु पर्वत तक्षण में परिष्कार व परिवर्तन का कोई अवसर नहीं। यहां तो पर्वत को काटकर ही सब कुछ बनाना है। शिल्प, लताबल्ली, स्तंभ, द्वार, प्रकोष्ठ और यहां तक कि उपास्य मूर्तियां भी पर्वत का ही अंग हैं बाहर से लाकर कुछ नहीं लगाया जाता। अतः कला साधना में अत्यंत सावधानी अपेक्षित है। साथ ही गुहा तक्षण में तक्षण कार्य ऊपर से होता है नीचे से नहीं, क्योंकि यहां नींव की आवश्यकता नहीं। एलोरा की जैन गुफाएं इसी विलक्षणता की द्योतक हैं। बादामी की जैन गुफा एलोरा से पूर्ववर्ती और छोटी है।

दक्षिण भारत में भी जैन धर्म का प्रसार हुआ और कर्नाटक इस दृष्टि से अग्रणी है। गोमटेश्वर की विशाल प्रतिमा न केवल आकार की दृष्टि से आश्चर्यजनक है अपितु इसका कलात्मक सौष्ठव भी सराहनीय है। विशालता में सौम्यता, यौवन में निवृत्ति, वैभव में तपोवृत्ति आदि का विलक्षण समन्वय इस मूर्ति के माध्यम से दिग्दिगन्त में प्रस्फुटित होता है और हम सब इस अलौकिक उपलब्धि के समक्ष कितने बौने दिखते हैं।

जब मंदिर का निर्माण का प्रचलन हुआ तो जैन कलाकार और आश्रयदाता भी अग्रपंक्ति में रहे। युगधर्मीय गुणों के साथ कुछ दोष भी परिलक्षित हुए। क्योंकि खजुराहो के अन्य मंदिरों के साथ ही जैन मंदिर भी बने, अतः दसवीं शती के पार्श्वनाथ आदि मंदिरों में भी प्रणय और रति क्रीडा के प्रसंग प्रवेश कर गए। आचार्य जिनसेन कृत नवीं शती ई. के हरिवंश पुराण में प्राप्त एक संदर्भ उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार धर्म से विमुख और भोग में लिप्त तत्कालीन समाज को देवालयों के प्रति आकृष्ट करने के लिए रति और कामदेव की लीलाओं का अंकन आवश्यक समझा गया ताकि उनसे मोहित हो वे जिनालय तक पहुंचे और वहां कुछ देर धार्मिक प्रवचन सुनकर सन्मार्ग की ओर अग्रसित हो सकें। यही लक्ष्य होगा प्रणय लीलाओं को निवृत्ति प्रधान

जैन धर्म में अपनाने का । किन्तु इसके दुष्परिणाम भी हुए । सभी धर्मों में इसकी अतिशयता से उद्देश्य विफल हो गया ।

जैन शिल्प के वैभव की उत्कृष्टता दिलवाडा मंदिर समूह में अवलोकनीय है । यहाँ तक्षण में शिल्प का इतना प्राधान्य है कि मंदिर स्थापत्य शिल्प शास्त्र का नमूना बन गया है । संगमरमर का प्रचुर प्रयोग प्रथम बार ११वीं शती में यहीं हुआ । बाहर से मंदिर जितने सादे लगते हैं अंदर से उतने ही अलंकृत । गुम्बद का तक्षण विशेष रूप से दर्शनीय है । किन्तु तक्षण की अतिशयता वास्तु पर हावी हो गई है और रूपाकृतियों की निरंतरता और एक रूपता कुछ समय में नेत्रों को खटकने लगती है । “अति सर्वत्र वर्जयेत्” का उल्लंघन श्रेष्ठ विमल शाह ने ११वीं शती में किया और इसकी पुनरावृत्ति १३वीं शती में तेजपाल और वस्तुपाल ने की । यदि इन कुछ त्रुटियों को उपेक्षित कर दिया जाय तो दिलवाडा के जैन मंदिर वास्तव में शिल्प की पराकाष्ठा के द्योतक हैं ।

जिन मूर्तियां तो साधनारत भाव में बैठी ध्यानस्थ अथवा खड़ी कायोत्सर्ग रूप में बनाई जाती थीं । वस्त्र और अलंकारों की यहां उपेक्षा थी, अतः कलाकार को प्रधान देवों के प्रदर्शन में अपने शिल्प चमत्कार का अवसर नहीं मिलता था । इस अभाव की पूर्ति वास्तु अलंकरण तथा अवान्तर देवों की सज्जा विधा से की । उन्हीं शैलीगत भेद से काल निर्धारण में सहायता मिलती है ।

प्रस्तर मूर्तियों के अतिरिक्त जैन मत की धातु मूर्तियां भी बड़ी संख्या में मिलती हैं जो कला सौष्ठव के साथ पुरातात्विक महत्व की भी हैं । गुजरात में अकोटा और बिहार में चौसा नामक स्थल से मिली मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं । इनका समय गुप्त काल चौथी से छठी शती ई. का है यद्यपि कुछ विद्वान् इन्हें पूर्ववर्ती भी मानते हैं । अकोटा के धातु शिल्पी को तीर्थंकर की मूर्ति को वस्त्राभूषण से सज्जित करने की युक्ति सूझी । फलतः उसे जीवन्त स्वामी के रूप में प्रस्तुत किया । वर्धमान महावीर यहां राजकुमार के रूप में प्रदर्शित किए गए ।

जैन कला के पुरासाक्ष्य भारत में तो यत्र तत्र प्रचुर मात्रा में है ही । विश्व के अनेक संग्रहालयों व कलावीथियों की भी शोभा वृद्धि कर रहे हैं । इन सभी का सचित्र अभिलेखीकरण यथा शीघ्र अपेक्षित है, ताकि विद्वानों व शोधकर्ताओं को अपने अध्ययन व अनुशीलन के लिए उपलब्ध रहे, साथ ही भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में जैन कला का समुचित मूल्यांकन हो सके ।

- निर्देशक : भारत कला भवन, वाराणसी

परिशिष्ट २

मिथिला कल्याणक भूमि का विच्छेद कैसे हुआ ?



इस बीच एक बात का उल्लेख करना चाहता हूँ। मिथिला विदेह जन-पद की राजधानी थी, जहाँ दो तीर्थकर भगवानों-श्री मल्लिनाथ भगवान एवं श्री नमिनाथ भगवान-के चार-चार कल्याणक हुए। जनकपुर के राजा जनक सुविख्यात है। भगवान महावीर ने मिथिला में कई वर्षावास किये। यह भूमि तीर्थकर प्रभुओं के चरण रज से पावन हुई है, अतः वन्दनीय है। मिथिला ध्वंसावशेष बहुत दूर-दूर तक फैले हुये हैं-जनकपुर से लेकर सीतामढी तक-१५ मील तक। जनकपुर नेपाल में है और सीतामढी भारत में है। वैष्णव जनता सीतामढी से जनकपुर तक मिथिला ही मानती है। मिथिला में श्वेतांबर जैनों का एक प्राचीन मंदिर था, जिसमें भगवान मल्लिनाथ एवं भगवान नमिनाथ की मूर्तियां थी। इसकी यात्रा आचार्य श्रीजिनप्रभसूरिजी ने की थी और इसकी स्थापना उनके कर-कमलों द्वारा हुई-ऐसा मूर्तियों पर शिलालेख पढ़ने से मालूम होता है। इस मंदिर की व्यवस्था लखनऊ निवासी लाला सरूपचन्दजी के हाथ में थी। लालाजी इस मंदिर की देखभाल अत्यंत भक्तिभाव एवं सुंदर रूप से करते थे।

बिहार में भूकंप आया। नगर-नगर और ग्राम-ग्राम भूमि में धंस गये। भूकंप क्या था-साक्षात् प्रलय था। सभी मार्ग अवरुद्ध हो गये। रेल गाडियों, बसों और अन्य वाहनों का आवागमन बन्द हो गया। लखनऊ से सीतामढी माना तीन वर्ष तक बंद रहा। ऐसा भयंकर भूकंप था और ऐसी विनाश लिला थी।

इस बीच पुजारी ने देखा कि लालाजी तो आते जाते नहीं और पंडों ने जोर लगाया। पुजारी और पंडों की सांठगांठ से उस मंदिर में राम-लक्ष्मणजी की मूर्तियां स्थापित हो गईं। तीन वर्ष बाद लाला सरूपचन्दजी बड़ी कठिनाई से तीन दिनों के विकट सफर के बाद सीतामढी पहुंचे तो देखा कि मंदिर का अतापता नहीं। उसके स्थान पर राममंदिर खड़ा है। पुजारी ने भगवान की मूर्तियों को चौक में एक खड्डे में डाल दी थी और खड्डे को बंद कर दिया था। लालाजी ने पुजारी को कहा कि मूर्तियां कहां हैं, मंदिर कहां है ? तब

पुजारी ने लाल-पीले होकर लालाजी को कहा : कहां है ? मंदिर का नाम लिया तो तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे ।” पुजारी के रंग को देखकर लालाजी भौचक्रे रह गये । वे श्रद्धालु श्रावक थे । वे मंदिर में अनशन पर बैठ गये । लालाजी ने संकल्प किया कि जब तक मूर्तियों का पता नहीं लगेगा तब तक मेरा अनशन रहेगा चाहे मेरे प्राण-पंखेरु क्यों न उड जाय ? बाह रे लालाजी, तुम्हारी जिनेन्द्र भक्ति । अनुकरणीय है यह भक्ति ।

तीन उपवास के पश्चात् पुजारिन का हृदय पिघला । वह मन में भयभीत हुई कि यदि लाला मर गये तो भूत हो जाएंगे और हमको खा जाएंगे । भयभीत पुजारिन ने पुजारी से कहा कि लालाजी की मूर्तियां देकर तुरन्त बिदा करो । पुजारी भी डर गया था । उसने लालाजी को कहा : लालाजी मंदिर तो मिल नहीं सकता । मूर्तियाँ दे दूंगा । शर्त यह है कि इनको उठाकर बाहर ले जाओ और यहाँ से शीघ्र कूच करो ।

लाला सरूपचन्दजी परिस्थिति को समझ गये थे । उन्होंने पुजारी की बात मान ली । वे भगवान की मूर्तियाँ लेकर भागलपुर आये और मूर्तियों को भागलपुर के जैन मंदिर में इस आशा से रख दी कि भविष्य में सीतामढी में मंदिर बनेगा और मूर्तियां पुनः प्रतिष्ठित हो जायगी । इन पंक्तियों को लिखते समय तक लाला सरूपचन्दजी की मनोकामना पूर्ण नहीं हुई है । लालाजी का स्वर्गवास हो चुका है ।



मिशन जैनत्व जागरण द्वारा प्रसारित साहित्य

प. पू. पंजाब देशोद्धारक आ. विजयानंद सू. म. (आत्मारामजी म.) का सन्मार्गदर्शक साहित्य

१. सम्यक्त्व शल्योद्धार	३२५/-
२. नवयुग निर्माता	२००/-
३. जैन तत्त्वादर्थ	३००/-
४. जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर	२००/-
५. जैन मत वृक्ष और पद्य साहित्य	२००/-
६. जैन मत का स्वरूप	१२५/-
७. नवतत्त्व संग्रह	३००/-
८. ईसाईमत समीक्षा	१००/-
९. चिकागो प्रश्नोत्तर	१००/-
१०. अज्ञानतिमिर भास्कर	५००/-
११. तत्त्व निर्णय प्रसाद	५००/-

प. पू. मुनिराज ज्ञानसुंदरजी म.सा. द्वारा लिखित साहित्य

१. मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास	१००/-
२. श्रीमान् लौकाशाह	१००/-
३. हाँ ! मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त है	३०/-
४. सिद्ध प्रतिमा मुक्तावली	१००/-
५. क्या जैन धर्म में प्रभु दर्शन - पूजन की मान्यता थी ?	५०/-
६. जैन जाति महोदय	४००/-

पू. गुरुदेवमुनिराजश्री - भुवनविजयान्तेवासि - मु. श्री जंबूविजयजीम. संशोधित - संपादित ग्रंथो

१. द्वादशारनयचक्र भाग-१
२. द्वादशारनयचक्र भाग-२
३. द्वादशारनयचक्र भाग-३
४. आचारांगसूत्र मूलमात्र
५. सूत्रकृतांगसूत्र मूलमात्र
६. स्थानांग तथा समवायांगसूत्र मूलमात्र
७. ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र मूलमात्र

८. अनुयोगद्वार सूत्र चूर्णि, हारिभद्री वृत्ति तथा
मलधारिहेमचन्द्रसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-१
९. अनुयोगद्वार सूत्र चूर्णि, हारिभद्री वृत्ति तथा
मलधारिहेमचन्द्रसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-२
१०. स्थानाङ्गसूत्र अभयदेवसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-१
११. स्थानाङ्गसूत्र अभयदेवसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-२
१२. स्थानाङ्गसूत्र अभयदेवसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-३
१३. समवायाङ्गसूत्र अभयदेवसूरिविरचितवृत्ति सहित
१४. द्रव्यालंकार स्वोपज्ञटीकासहित
१५. न्यायप्रवेशक बौद्धाचार्य दिङ्नाग प्रणीत
१६. सर्वसिद्धान्त प्रदेशक
१७. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-१
१८. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-२
१९. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-३
२०. पाटणना जुदा - जुदा भंडारोना हस्तलिखित ग्रंथोनुं सूचिपत्र भाग-१
२१. पाटना जुदा - जुदा भंडारोना हस्तलिखित ग्रंथोनुं सूचिपत्र भाग-२
२२. पाटना जुदा - जुदा भंडारोना हस्तलिखित ग्रंथोनुं सूचिपत्र भाग-३
२३. पाटना जुदा - जुदा भंडारोना हस्तलिखित ग्रंथोनुं सूचिपत्र भाग-४
२४. जैसलमेरना भंडारनुं सूचिपत्र
२५. धर्मबिन्दु (कर्ता-हिरभद्रसूरि म.)
मुनिचन्द्रसूरिविरचितटीकासहित
२६. सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन-लघुवृत्ति (प्र. आवृत्ति)
२७. सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन-लघुवृत्ति (प्र. आवृत्ति)
२८. सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन रहस्यवृत्ति
२९. सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन (मूलसूत्रो अकारादिक्रम युक्त)
३०. वैशेषिकसूत्र - चन्द्रानन्दविरचितवृत्तिसहित
३१. उपदेशमाला - हेयोपादेयाटीका सहित
३२. स्थानांगसूत्र सटीक भाग-१ (द्वितीय आवृत्ति)
३३. स्थानांगसूत्र सटीक भाग-२ (द्वितीय आवृत्ति)
३४. स्थानांगसूत्र सटीक भाग-३ (द्वितीय आवृत्ति)
३५. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-१ (द्वितीय आ.)
३६. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-२ (द्वितीय आ.)

३७. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-३ (द्वितीय आ.)
 ३८. ठाणांगसमवायांगसुत्तं च (शीलांकाचार्य कृत टीकोषेत)
 ३९. आचारांगसूत्रकृतांगसूत्र सटीक
 ४०. आचारांगसूत्र (शीलाचार्यकृतवृत्ति युक्त) प्रथम श्रुतस्कंधना प्रथम चार अध्ययन पर्यंत
 ४१. पंचसूत्र सटीक
 ४२. गहुली संग्रह
 ४३. सूरिमंत्रकल्पसमुच्चय भाग-१
 ४४. सूरिमंत्रकल्पसमुच्चय भाग-२
 ४५. स्त्रीनिर्वाणकेवलीभुक्ति प्रकरणे
 ४६. जैसलमेर केटलोग - मूळकर्ता सी.डी. दलाल
 ४७. श्री सिद्धभुवन प्राचीन स्तवन संग्रह
 ४८. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-१
 ४९. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-२
 ५०. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-३
 ५१. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-४
 ५२. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-५
 ५३. हिमालय नी पदयात्रा

(प. पू. श्री ए प. पू. आ. म. श्री प्रद्युम्नसूरिजी उपर विहार दरम्यान लखेल पत्रोनो संग्रह)

५४. अंतरिक्ष पार्श्वनाथ
 ५५. नंदीसूत्र
 ५६. मलयगिरि विरचित वृत्ति सहित
 ५७. गुरुवाणी (हिन्दी) १
 ५८. गुरुवाणी (हिन्दी) २
 ५९. गुरुवाणी (हिन्दी) ३
 ६०. गुरुवाणी (हिन्दी) ४
 ६१. गुरुवाणी (हिन्दी) ५
 ६२. हिमालय की पदयात्रा (हिन्दी)
 ६३. नमस्कार स्वाध्याय

प.पू प्रशांतमूर्ति मु.मृगेन्द्रविजयजी म.सा. का साहित्य (गुजराती)

१. शृंगार वैराग्य तंत्रशिखी

५०/-

२. ભગવાન મહાવીર જીવનદર્શન	૫૦/-
૩. સંખ્યાત્મક કોશ	૧૦૦/-
૪. હૃદય - પ્રદીપ ષટ્ ત્રિશિકા (સંસ્કૃત - ગુજરાતી)	૧૦૦/-
૫. પ્રસંગ પંચામૃત	૪૦/-
૬. Stories From Jainism	૧૦૦/-

ડૉ. પીતમબેન સિંઘવી દ્વારા લિખિત / સંપાદિત સાહિત્ય

૧. ● સમત્વયોગ	૧૦૦/-
૨. અનેકાંતવાદ	૧૦૦/-
૩. ● અનુપેહા	૧૦૦/-
૪. ● આણંદા	૫૦/-
૫. સદયવત્સ કથાકનમ્	૫૦/-
૬. સંપ્રતિનૃપ ચરિત્રમ્	૫૦/-
૭. દાનઃ અમૃતમયી પરંપરા	૩૧૦/-
૮. ● હિન્દી જૈન સાહિત્ય મેં કૃષ્ણ કા સ્વરૂપ	૧૦૦/-
૯. દોહા પાહુડ	૫૦/-
૧૦. બારાઁખ કવક	૫૦/-
૧૧. ● પ્રભુવીર કા અંતિમ સંદેશા	૫૦/-
૧૨. ● દોહાણુપેહા (સંપાદિત)	૫૦/-
૧૩. ● તરંગવતી	૫૦/-
૧૪. નંદાવર્તનું નંદનવન	૫૦/-

ડૉ. પીતમબેન સિંઘવી દ્વારા અનુવાદિત સાહિત્ય

૧. સંવેદન કી સરગમ	૫૦/-
૨. ● સંવેદન કી સુવાસ	૫૦/-
૩. ● સંવેદન કી ઝલક	૫૦/-
૪. ● સંવેદન કી મસ્તી	૫૦/-
૫. આત્મકથાઈ (સંપાદિત)	૫૦/-
૬. ● શાસન સમ્રાટ (જીવન પરિચય)	૫૦/-
૭. ● વિદ્યુત સજીવ યા નિર્જીવ	૫૦/-

મૂષણ શાહ દ્વારા લિખિત-સંપાદિત હિન્દી પુસ્તક

૧. જૈનાગમ સિદ્ધ મૂર્તિપૂજા	૧૦૦/-
૨. ● જૈનત્વ જાગરણ	૨૦૦/-

३. ● जागे रे जैन संघ	३०/-
४. पाकिस्तान में जैन मंदिर	१००/-
५. पल्लीवाल जैन इतिहास	१००/-
६. दिगंबर संप्रदाय : एक अध्ययन	१००/-
७. श्री महाकालिका कल्प एवं प्राचीन तीर्थ पावागढ	१००/-
८. अकबर प्रतिबोधक कौन ?	५०/-
९. ● इतिहास गवाह है ।	३०/-
१०. तपागच्छ इतिहास	१००/-
११. ● सांच को आंच नहीं	१००/-
१२. आगम प्रश्नोत्तरी	२०/-
१३. जगजयवंत जीरावाला	१००/-
१४. द्रव्यपूजा एवं भावपूजा का समन्वय	५०/-
१५. प्रभुवीर की श्रमण परंपरा	२०/-
१६. इतिहास के आइने में आ. अभयदेवसूरिजी का गच्छ	१००/-
१७. जिनमंदिर एवं जिनबिंब की सार्थकता	१००/-
१८. जहाँ नमस्कार वहाँ चमत्कार	५०/-
१९. ● प्रतिमा पूजन रहस्य	३००/-
२०. जैनत्व जागरण भाग-२	२००/-
२१. जिनपूजा विधि एवं जिनभक्तों की गौरवगाथा	२००/-
२२. ● अनुपमंडल और हमारा संघ	१००/-
२३. अकबर प्रतिबोधक कौन ? भाग-२	२००/-
२४. महात्मा ईसा पर जैन धर्म का प्रभाव	५०/-
२५. खरतरगच्छ सहस्राब्दी निर्णय	५०/-
२६. प्राचीन जैन स्मारको का रहस्य	५००/-
२७. जैन नगरी तारातंबोल : एक रहस्य	५०/-
२८. जंबू जिनालय शुद्धिकरण	
२९. प्राचीन भारत की यात्रा पद्धति	

भूषण शाह द्वारा लिखित/संपादित गुजराती पुस्तक

१. मंत्र संसार सारं	२००/-
२. ● जंबू जिनालय शुद्धिकरण	३०/-
३. ● जागे रे जैन संघ	२०/-
४. ● धंटनाद	

५. ● श्रुत रत्नाकर (पू. गुरुदेव जंबूविजयजी म.सा. नुं जवन यरित्र)
 ६. जैनशासनना विचारणीय प्रश्नो ५०/-

भूषण शाह द्वारा लिखित अंग्रेजी पुस्तक

१. ● Lights ३००/-
 १. ● History of Jainism ३००/-

पू. अशोकजी सहजानंदजी द्वारा लिखित

१. ग्रहशांति दीपिका ५००/-
 २. सुखी और समृद्ध जीवन ४००/-
 ३. वास्तुदोष : आध्यात्मिक उपचार ५००/-
 ४. श्री सिद्ध मंत्र संग्रह ५००/-
 ५. सिद्ध तंत्र संग्रह ५००/-
 ६. सिद्ध यंत्र संग्रह ५००/-
 ७. स्वरयोग : एक दिव्य साधना ३५०/-
 ८. योग साधना रहस्य ५००/-
 ९. ध्यान विज्ञान ४००/-
 १०. श्री पद्मावती - साधना और सिद्धि ३००/-
 ११. श्री मणिभद्र साधना (घंटाकर्ण कल्प सहित) ३००/-
 १२. जैन राजनीति विज्ञान ९००/-
 १३. महा मृत्युंजय पूजा विधान (जैन पद्धति) ३००/-
 १४. साधना कल्पद्रुम ४००/-
 १५. तंत्रलोक की रहस्यमय सत्य कथाएँ ४००/-

अन्य साहित्य

१. नवयुग निर्माता (पुनः प्रकाशन) (पू.आ. वल्लभसूरि म.सा.) २००/-
 २. मूर्तिपूजा (गुजराती-खुबचंदजी पंडित) ५०/-
 ३. मूर्ति मंडन - आ. लब्धि सू.म. १००/-
 ४. हमारे गुरुदेव (पू. जंबूविजयजी म.सा. का जीवन) ३०/-
 ५. सफलता का रहस्य - सा. नंदीयशाश्रीजी म.सा. २०/-
 ६. धरती पर स्वर्ग - सा. नंदीयशाश्रीजी म. २०/-
 ७. Heaven on Earth - SA Nandiyasha Shriji M.S. २०/-
 ८. कर्म विज्ञान २०/-
 ९. जडपूजा या गुणपूजा - एक स्पष्टीकरण (हजारीमलजी) ३०/-

१०. पुनर्जन्म - (सं.पू.आ. जितेन्द्रसूरिजी म.सा.)	३०/-
११. क्या धर्ममें हिंसा दोषावह है ?	३०/-
१२. तत्त्व निश्चय (कुएँ की गुंजार पुस्तक की समीक्षा)	
१३. बत्तीस आगमों से मूर्तिसिद्धि (आशिष तालेडा)	५०/-

Audio C.D.

१. श्री जिनभक्ति शतकम्	१५०/-
२. श्री जनभक्ति सुधा	७५/-
३. श्री अजितशान्ति स्तव वंदना	७५/-
४. स्पर्श	२०/-

बोसर्

१. दक्षीण भारत में जैन तीर्थ	१०/-
२. महालक्ष्मी आरती मंत्रादी	१०/-
३. पाकिस्तान में जैन मंदिर	१०/-
४. महाकाली आरती - पच्चीसी	१०/-
५. ६८ तीर्थ भावयात्रा (सचित्र)	१५/-

॥ जैन शासन - जैनागम नयकारा ॥ संपादित ग्रंथों की सूचि: (प्रकाशनाधीन)

१. जैन दर्शन का रहस्य
२. प्राचीन जैन तीर्थ - अंटाली
३. श्री सराक जैन इतिहास
४. जैन दर्शन में अष्टांग निमित्त भाग १,४,५ (साथ में)
५. जैन दर्शन में अष्टांग निमित्त भाग २,३ (साथ में)
६. जैन स्तोत्र संग्रह
७. अकबर प्रतिबोधक श्री हीरविजयसूरिजी महाराज
८. Reserch on Jainism
९. मिशन जैनत्व जागरण और मेरे विचार
१०. जैन ग्रंथ - नयचक्रसार
११. प्राचीन जैन पूजा विधि - एक अध्ययन
१२. जैनत्व जागरण की शौर्य कथाएँ
१३. जैनागम अंश
१४. जैन शासन का मुगल काल और मुगल फरमान

૧૫. જૈન યોગ ઔર ધ્યાન
૧૬. જૈન સ્મારકો કે પ્રાચીન અંશ
૧૭. યુગ યુગમાં મળજો જૈન શાસન (ગુજરાતી)
૧૮. મંત્ર સંસાર સારં (ભાગ-૨) (પુનઃ પ્રકાશન)
૧૯. મંત્ર સંસાર સારં (ભાગ-૩) (પુનઃ પ્રકાશન)
૨૦. મંત્ર સંસાર સારં (ભાગ-૪) (પુનઃ પ્રકાશન)
૨૧. મંત્ર સંસાર સારં (ભાગ-૫) (પુનઃ પ્રકાશન)
૨૨. અજ્ઞાન જૈન તીર્થ
૨૩. તત્ત્વાર્થ પ્રવેશ
૨૪. જૈન દર્શન - અધ્યયન ઁવં ચિંતન
૨૫. જૈન મંદિર શુદ્ધિકરણ
૨૬. સૂરિમંત્ર કલ્પ સંગ્રહ
૨૭. અજમેર પ્રાંત કે જૈન મંદિર
૨૮. જૈનત્વ જાગરણ-૩
૨૯. વિવિધ તીર્થ કલ્પોં કા અધ્યયન
૩૦. જૈનદેવી મહાલક્ષ્મી - મંત્રકલ્પ
૩૧. જૈન સમ્રાટ સંપ્રતિ - ઁક અધ્યયન
૩૨. જૈન આરાધના વિધિ સંગ્રહ
૩૩. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૧, ગુજરાતી)
૩૪. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૨, ગુજરાતી)
૩૫. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૩, ગુજરાતી)
૩૬. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૪, ગુજરાતી)
૩૭. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૫, ગુજરાતી)
૩૮. સમ્મેતશિખર મહાત્મ્ય સાર
૩૯. મેવાડ દેશ મેં જૈન ધર્મ
૪૦. જંબૂ શ્રુત ઁન્સાયક્લોપિડિયા (પૂ. ગુરૂદેવશ્રીને સમર્પિત શ્રુત પુષ્પ)
૪૧. જૈન ધર્મ ઔર સ્વરાજ્ય
૪૨. ચંદ્રોદય (પૂ.સા. ચંદ્રોદયાશ્રીજી મ.સા. નું જીવનકવન)
૪૩. જૈન શ્રાવિકા શાન્તલા
૪૪. પૂ. બાપજી મહારાજ (સંઘસ્થવિર આ.ભ. સિદ્ધિસૂરિજી મ.સા. નું ચરિત્ર)
૪૫. મારા ગુરૂદેવ (પૂ. જંબૂવિજયજી મ.સા. નું સંક્ષિપ્ત જીવનદર્શન)
૪૬. જૈન દર્શન ઁને મારા વિચાર

૪૮. પ્રશસ્તિ સંગ્રહ (પૂ. ગુરુદેવ જંબૂવિજયજી મ.સા. દ્વારા લખાયેલી પ્રશસ્તિ પ્રસ્તાવના સંગ્રહ)

५०. गोत्र एवं गच्छ

५१. महोम्मद तुगलक प्रतिबोधक जैनाचार्य जिनप्रभसूरिजी महाराजा

**नोंध : सभी ग्रंथ जल्द ही प्रकाशित होंगे
चल रहा विशिष्ट कार्य
जैन इतिहास - आदीश्वर भगवान से वर्तमान तक**

- ★ यह सूचि इ.सं. २०१९ वि.सं. २०७५ की है इसके पूर्व की सभी सूचि के अनुसार मूल्य खारीज कीए जाते है । अबसे इसी मूल्य के अनुसार पुस्तकें प्राप्त होगी ।
- ★ साधु-साध्वीजी भगवंतो एवं ज्ञानभंडारो को पुस्तक भेंट दिये जाते है।
- ★ सभी प्रकाशन का न्याय क्षेत्र अहमदाबाद है ।
- ★ कोरीयर से मंगवाने वाले “मिशन जैनत्व जागरण” अहमदाबाद के एड्रेस से ही मंगावे व फोन नं. ९६०१५२९५३४ पर ज्ञात कराये ।
- मार्क वाले पुस्तक उपलब्ध नहीं है ।



प्राचीन जैन स्मारकों का रहस्य

- भूषण शाह



विवेक
ग्रैफोटिक्स
8980007872
Ahmedabad